॥ श्रीः ॥

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला

76

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

द्वितीयउद्योतः

आचार्य डॉ. सुरेन्द्रदेव, स्नातक, शास्त्री

चौखम्भा पब्लिशर्स
प्राच्य-विद्या, आयुर्वेद एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक
वाराणसी (भारत)

॥ श्रीः ॥

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला

७६

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

(ध्वन्यालोक तथा अभिनवगुप्तरचित 'लोचन' दोनों के हिन्दी अनुवाद एवं 'आशुबोधिनी' नामक समीक्षात्मक विस्तृत हिन्दी व्याख्या और भूमिका सहित)

द्वितीयउद्योतः

व्याख्याकार तथा भूमिका लेखक

आचार्य डॉ. सुरेन्द्रदेव, स्नातक, शास्त्री

शिरोमणि, बी.ए.एम.एस.

एम.ए. (संस्कृत तथा हिन्दी), पी-एच.डी

अवकाश प्राप्त-प्रोफेसर तथा अध्यक्ष

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग

श्री मु.म. टाउन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया

चौखम्भा पब्लिशर्स

प्राच्य-विद्या, आयुर्वेद एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक :

चौखम्भा पब्लिशर्स

गोकुल भवन, के-37/109, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी-221001 (भारत)

शाखा :

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पोस्ट बॉक्स नं 2206

बंगलो रोड, 9-यू.बी., जवाहर नगर

(किरोड़ीमल कालेज के पास)

दिल्ली - 110007 (भारत)

फोन : 3911617, 3958790

प्रथम संस्करण : 2001

मूल्य : रु. 125

मुद्रक : ग्लोब आफसेट प्रेस, नई दिल्ली-2

प्राक्कथन

अपने स्नातकोत्तर महाविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने से पूर्व तक एम.ए. (अन्तिम वर्ष) की कक्षाओं को मैं अन्य पाठ्य विषयों के साथ ही साथ 'ध्वन्यालोक' का भी अध्यापन निरन्तर करता रहा। यह बात प्रकाशक महोदय को भलीभाँति विदित थी। वे स्वयं ध्वन्यालोक का प्रकाशन करने में दत्तचित्त थे। अतएव उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि 'आपको आचार्य अभिनवगुप्तलिखित लोचनटीकायुक्त ध्वन्यालोक के अध्यापन का अनेक वर्षों का अनुभव है, एतद्विषयक परीक्षा सम्बन्धी अनुभव भी आपको है ही, छात्रों की कठिनाइयों से भी आप भलीभाँति परिचित हैं, अतएव आप सदृश कोई अन्य व्यक्ति सलोचन ध्वन्यालोक की हिन्दी व्याख्या लिखने हेतु बड़ी कठिनता से ही उपलब्ध हो सकेगा। आप यदि लोचन-टीका सहित सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का हिन्दी अनुवाद तथा उस पर एक समीक्षात्मक हिन्दी व्याख्या न कर सकें तो कम से कम उसका प्रथम उद्योत तो लिख देने का कष्ट अवश्य करें। बाद में आप लोचन टीका को ग्रन्थ में न देकर उसमें वर्णित विषय से युक्त सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का समीक्षात्मक हिन्दी व्याख्या लिख देने का कष्ट अवश्य कर दें। आपके इस कार्य के लिए मैं आपका अत्यन्त आभारी होऊँगा।

प्रकाशक महोदय द्वारा ध्वन्यालोक (द्वितीय-उद्योत) की भी प्रथम उद्योत की ही भाँति सलोचना 'आशुबोधिनी' नामक समीक्षात्मक व्याख्या लिखने की गतवर्ष सानुरोध प्रार्थना किये जाने के कारण मुझे उनके अनुरोध को मानना ही पड़ गया। अतएव प्रथम-उद्योत की ही भाँति इस द्वितीय उद्योत की व्याख्या को भी लिख दिया गया।

मुझे अपने विद्वद् बन्धुओं पर पूर्व की ही भाँति पूर्ण विश्वास है कि मेरी इस 'आशुबोधिनी' व्याख्या से सम्बन्धित न्यूनताओं से मुझे अवगत कराने का कष्ट अवश्य करेंगे तथा इस द्वितीय-उद्योत से सम्बन्धित अपने सुझावों से भी मुझे सूचित करने का कष्ट करेंगे।

विनीत

सुरेन्द्रदेव शास्त्री

भूमिका

ध्वन्यालोक ग्रन्थकार

'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ की रचना के बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। प्रस्तुत ग्रन्थ के तीन भाग होना संभव है—(१) कारिका, (२) वृत्ति तथा (३) उदाहरण। इन तीनों भाग में से वृत्ति की रचना उदाहरणों के संग्रह को तो निस्सन्देह रूप से आचार्य आनन्दवर्धन को ही रचना माना जाता है। हाँ, कारिकाओं की रचना के सम्बन्ध में कुछ विवाद अवश्य उठ खड़ा हुआ है। कुछ विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि कारिकायें आनन्दवर्धनाचार्य की ही रचनाएँ हैं और कारिकाकार तथा वृत्तिकार एक ही हैं। कुछ विद्वानों का यह कहना है कि कारिकाओं का रचयिता आनन्दवर्धनाचार्य से पूर्व कोई हुआ होगा। बाद में आनन्दवर्धन ने उन्हीं कारिकाओं पर वृत्ति भाग की सोदाहरण रचना की होगी।

संस्कृत की चली आती हुई परिपाटी के अनुसार कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना आनन्दवर्धन द्वारा ही की गई है। इसी के आधार पर यह भी कहा जा सकता है 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ एक ही है, ध्वनि तथा आलोक पृथक्-पृथक् नहीं। उन दोनों का रचनाकार भी एक ही है। 'ध्वनि' काल के अनन्तर हुए प्राय: सभी आचार्यों ने आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार तथा वृत्तिकार दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है। इन आचार्यों में प्रमुख है प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, राजशेखर आदि। इन सभी के वाक्य ध्वनिकार तथा वृत्तिकार दोनों का एक ही मानते हैं। और वे हैं 'आचार्य आनन्दवर्धन'।

पृथकता-विषयक शंका का आधार आचार्य अभिनवगुप्त कृत 'ध्वन्यालोक' की लोचन नामक टीका ही है। उन्होने अपनी इस टीका के अनेक स्थलों पर कारिकाकार और वृत्तिकार का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। इसी दृष्टि से उन्होंने कारिकाकार के लिये 'मूलग्रन्थकृत' तथा वृत्तिकार के लिए 'ग्रन्थकृत' शब्दों का प्रयोग किया है। इन्हीं को आधार मानकर बुह्लर और उनके अनन्तर प्रो० जैकोबी, प्रो० कीथ, डा० एस०के०डे० तथा डा०पी०बी० काणे आदि विद्वानों ने कारिकाकार तथा वृत्तिकार को पृथक्-पृथक् रूप में स्वीकार किया है। इन सभी का अनुमान है कि कारिकाकार का नाम 'सहृदय' था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए लोचनकार ने 'ध्वन्यालोक' को कई स्थानों पर 'सहृदयालोक' भी लिखा है। डा०काणे ने भी प्रथम कारिका में आये हुए 'सहृदयमन:प्रीतये' इस अंश की वृत्ति में 'सहृदयानामानन्दा मनसि लभतां प्रतिष्ठान्' आदि शब्दों के आधार पर उपर्युक्त मत को ही पुष्ट किया है।

इस मत में विश्वास रखनेवाले विद्वानों का यह भी कहना है कि कारिकाकार वे ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण नहीं किया। वृत्तिकार ने 'स्वेच्छा केसरिण:' इत्यादि श्लोक द्वारा मङ्गलाचरण किया है। यदि ये दोनों पृथक्-पृथक् न होते तो कारिकाकार की प्रथम कारिका से पूर्व मङ्गलाचरण हो ा चाहिए था।

परन्तु उनका यह कथन भी नितान्त अनुचित है, क्योंकि कारिका भाग और वृत्तिभाग— दोनों के ही प्रारम्भ में 'स्वेच्छाकेसरिण:' यह एक ही मंगलाचरण उपलब्ध होता है। यदि दोनों

व्यक्ति पृथक्-पृथक् न होते तो दो मंगलाचरण होते। अतएव मंगलाचरण का एक होना भी इसी बात का द्योतक है कि कारिकाकार तथा वृत्तिकार दोनों एक ही थे।

'सहृदय' पद के आधार पर जो लोग इन दोनों को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं उनका भी कथन पूर्णतया अनुचित ही है। क्योंकि प्रथम कारिका में आये हुए 'सहृदयमनःप्रीतये' तथा वृत्तिभाग के अन्तिम श्लोक में आये हुए 'सहृदयोदयलाभहेतोः' में सहृदय पद किसी व्यक्तिविशेष का वाचक न होकर 'काव्यतत्वज्ञों' का ही बोधक है। प्रारम्भ तथा उपसंहार का यह सामञ्जस्य कारिकाकार तथा वृत्तिकार दोनों के एक ही होने का सूचक है। अतएव जो आलोचक 'सहृदय' को कारिकाकार मानते हैं वे न्याय के मार्ग पर नहीं चल रहे हैं। क्योंकि यदि 'सहृदय स्वयं कारिकाकार रहे होते तो वे स्वयं अपने लिए ही 'सहृदयमनःप्रीतये' किस भाँति लिख सकते थे।

मंगलाचरण के बारे में साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी भिन्न-भिन्न परम्पराओं का दर्शन उपलब्ध होता है। आचार्य वामन ने सूत्रों के आरम्भ में मंगलाचरण नहीं किया, इसके विपरीत वृत्ति के आरम्भ में किया है। आचार्य मम्मट ने कारिकाओं के आरम्भ में मङ्गलाचरण सम्बन्धी कारिका लिखी है किन्तु वृत्ति के प्रारम्भ में नहीं लिखी है। 'अलङ्कारसर्वस्व' के सूत्रों के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण नहीं है, वृत्ति के प्रारम्भ में हैं। उद्भट ने अपने अलङ्कारसम्बन्धी ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में मङ्गल किया ही नहीं। इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण अवश्य किया जाय ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं था। अतएव यदि आचार्य आनन्दवर्धन ने भी कारिकाओं के प्रारम्भ में इसी अनिवार्यता के कारण मङ्गलाचरण न किया हो, यह भी संभव हो सकता है। अथवा जिस भाँति पाणिनि ने अपने प्रथम सूत्र में 'वृद्धिः' पद का प्रयोग करके मङ्गलाचरण कर लिया था उसी भाँति कारिकाकार द्वारा प्रथम कारिका के प्रारम्भ में लिखा गया 'काव्यस्यात्मा' यह पद भी मङ्गलवाचक हो गया।

संस्कृत के अनेक साहित्यशास्त्रीय आचार्यों ने कारिका तथा वृत्ति की शैली को अपनाया है। उन्होंने पहले सूत्ररूप में सिद्धान्तसम्बन्धी कारिका को लिखा है और तत्पश्चात् उसपर वृत्ति लिखकर उसकी व्याख्या की है। इसी परिपाटी को आचार्य आनन्दवर्धन ने भी अपनाया होगा। अतएव इस दृष्टि से भी दोनों का अभेद ही सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त ने स्वयं ही 'अभिनवभारती' में अनेक स्थलों पर दोनों के अभेद को स्वीकार किया है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सम औसयेक्ट्स ऑफ लिटरैरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत' में डा० संकरन् ने लोचनकार की 'लोचन' नामक टीका से ही कुछ उद्धरणों को उद्धृत कर उपर्युक्त भेद के सिद्धान्त का खण्डन किया है तथा संस्कृत की चली आती हुई प्राचीन परम्परा को ही मान्यता प्रदान की है।

अतएव निष्कर्षरूप में यह कहा जाना सर्वथा उचित ही होगा कि आचार्य आनन्दवर्धन ही कारिकाकार हैं और वृत्तिकार भी। तथा 'ध्वन्यालोक' एक ही ग्रन्थ है।

आचार्य आनन्दवर्धन का काल

'राजतरङ्गिणी' में लिखा है कि वे अवन्तिवर्मा नामक कश्मीर नरेश के राज्य के सुप्रसिद्ध कवियों में से एक थे—

'मुक्ताकण: शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।।

बुह्लर तथा जैकोबी के अनुसार महाराज अवन्तिवर्मा का राज्यकाल ईसा सन् ८५५ से ८८३ ई० तक था। कुछ अन्य सूत्रों द्वारा इस कथन की पुष्टि भी हो जाती है। एक स्थान पर आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक के आचार्य उद्भट के मत का उल्लेख किया है जिसका समय ८०० ई० के लगभग का है। एक अन्य स्थल पर राजशेखर द्वारा आचार्य आनन्दवर्धन की प्रशंसा की गई है—

ध्वनिनाऽतिगंभीरेण काव्यतत्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः।।

(डल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली'—राजशेखर के नाम से उद्धृत)

राजशेखर का समय ९०० ई० के लगभग माना गया है। अतएव आनन्दवर्धन का समय ईसा की नवम् शताब्दी का मध्यभाग अर्थात् ९५० ई० के आसपास का माना जा सकता है।

जीवन वृत्तान्त

आनन्दवर्धन के जीवन के सम्बन्ध में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। 'देवीशतक' के १०१ वें श्लोक से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम 'नोण' अथवा 'नोणोपाध्याय' था। ध्वन्यालोक की एक पाण्डुलिपि में तृतीय उद्योत के अन्त में आनन्दवर्धन ने अपने को नोणसुत कहा है।

आनन्दवर्धन बहुमुखी प्रतिभा के धनी

आचार्य आनन्दवर्धन की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे काव्यशास्त्र के महान् ज्ञाता तथा आचार्य थे। इसके अतिरिक्त वे एक सुयोग्य कवि तथा दार्शनिक भी थे।

उनकी रचनायें

उनके द्वारा तीन काव्य लिखे गये थे—(१) 'अर्जुनचरित', (२) 'विषयबाणलीला', (३) देवीशतक। इनके प्रथम दो काव्यों का उल्लेख इन्होंने स्वयं ही ध्वन्यालोक में किया है। 'अर्जुनचरित' का उल्लेख तृतीय उद्योत[1] में तथा 'विषमबाणलीला' का द्वितीय उद्योत[2] में। 'देवीशतक' वह काव्य है जिसे भगवती दुर्गा की आराधना में लिखा गया है। 'तत्वालोक' नामक दर्शन ग्रन्थ भी इन्हीं की कृति है। 'ध्वन्यालोक' उनकी श्रेष्ठतम रचना है।

---

१. एतच्च मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम्।
(ध्वन्या० ३।२५ की वृत्ति में)

२. यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम्—
'ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घप्पन्ति।
रइकिरणामुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं ।।'

(ध्वन्या० २-१ की वृत्ति में), इसी प्रकार ३।२७ की वृत्ति में।

ध्वन्यालोक

भारतीय साहित्यशास्त्र का व्यवस्थित रूप आचार्य 'भरत' के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है। आचार्य भरत से लेकर आनन्दवर्धन के समय तक अनेक आचार्य हुए जिनमें भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि के नाम उल्लेखनीय है। जिनके द्वारा साहित्यिक आलोचना से सम्बन्धित सिद्धान्तों का सृजन किया गया। आनन्दवर्धन द्वारा इस सम्बन्ध में एक नवीन दिशा को जन्म दिया गया। भामह आदि आचार्यों ने काव्य के शरीर को शब्द-अर्थ के रूप में प्रतिपादित कर इनको अलंकृत करने वाले अलंकारों, गुणों, वृत्तियों तथा रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया। यह काव्य का स्थल-शरीर ही था तथा उसी को अलंकृत करने का प्रयास किया गया। दूसरे शब्दों में इसे कलापक्ष की संज्ञा भी दी जा सकती है। काव्य के आन्तरिक पक्ष अथवा आत्मभूत तत्त्व की ओर विशेषरूप से किसी आचार्य का ध्यान नहीं गया। दूसरे शब्दों में, इसे 'भावपक्ष' की संज्ञा दी जा सकती है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने इस अभाव की पूर्ति की। इन्होंने बतलाया कि काव्य में दो प्रकार के अर्थ हुआ करते हैं—(१) वाच्य-अर्थ और (२) प्रतीयमान अर्थ। वाच्य-अर्थ तो अलंकार आदि के द्वारा प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुका है। प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में एक अपूर्व सौन्दर्य का आधान करता हुआ उसी भाँति रहा करता है कि जिस भाँति स्त्रियों में लावण्य रहा करता है। यह प्रतीयमान अर्थ ही वस्तुतः काव्य की आत्मा है। जिस काव्य में यह प्रतीयमान अर्थ प्रमुखरूप से विद्यमान रहा करता है उसी को ध्वनिकाव्य नाम से व्यवहृत किया जाया करता है।

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनिसम्प्रदाय की स्थापना का किया जाना एक महनीय कार्य था। इनसे पूर्व भी आलकारिकों द्वारा वाच्य-अर्थ से पृथक् प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को तो स्वीकार किया जा चुका था किन्तु वे उस प्रतीयमान अर्थ को सम्यक् रीत्या व्याख्या प्रस्तुत न कर सके थे। यह कार्य आनन्दवर्धन द्वारा संपन्न किया गया।

ध्वनि का प्रेरणास्त्रोत–स्फोटसिद्धान्त

ध्वनिकार को ध्वनिसम्बन्धी सिद्धान्त की प्रेरणा वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त से उपलब्ध हुई है। उन्होंने स्वयं ही प्रथम कारिका में इसका स्पष्ट संकेत किया है—'सूरिभिः कथितः'। सूरिभिः अर्थात् विद्वानों के द्वारा। यहाँ सूरिभिः से अभिप्राय वैयाकरणों से है क्योंकि सर्वप्रथम विद्वान् वैयाकरण ही हैं। सब विद्याओं का मूलाधार भी व्याकरण ही है। ये विद्वान् श्रूयमाण (श्रवण किये जाते हुए) वर्णों में ध्वनि का व्यवहार करते हैं।

मनुष्य के द्वारा जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता करता है तो श्रोता उसी उच्चरित शब्द का श्रवण नहीं किया करता है। वह शब्द दूसरे शब्द को, पुनः वह तीसरे शब्द को—इस भाँति क्रम चलता रहा करता है जब तक कि श्रोता के कान के समीप तक वह शब्द पहुँच न जाय। इस भाँति सन्तान के रूप में आये हुए शब्दज शब्द को ही श्रोता श्रवण किया करता है। यह शब्दज शब्द ही 'ध्वनि' कहा जाता है। इसी बात को वैयाकरण भर्तृहरि ने भी कहा है—

'यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः।।'

इसी भाँति आलङ्कारिकों के अनुसार भी शब्द से उत्पन्न व्यङ्ग्य अर्थ 'ध्वनि' है।

कोई भी श्रोता एक साथ ही शब्द को सुन लिया करता है। प्रत्येक शब्द पहले प्रथम वर्ण उच्चरित होता है, तत्पश्चात् द्वितीय और तदनन्तर तृतीय वर्ण आदि। प्रथम वर्ण के उच्चारण के पश्चात् जब तक द्वितीय, तृतीय आदि वर्णों का उच्चारण किया जाता है तब तक प्रथम द्वितीय आदि वर्ण नष्ट हो जाया करते हैं क्योंकि कोई भी वर्ण दो क्षण से अधिक ठहर नहीं सकता है। अतएव वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द में जितने भी वर्ण हैं उन सबका एकसाथ श्रवण किया जा सकना सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार अति सूक्ष्म विवेचन के पश्चात् वैयाकरणों ने यह निश्चित किया कि अर्थ का बोध शब्द के स्फोट द्वारा ही हुआ करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि पूर्व-पूर्व के वर्णों के संस्कार अन्तिम-अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द के अर्थ का ज्ञान कराया करते हैं। इस भाँति अन्त्यबुद्धि से ग्रहण किये जाने योग्य स्फोट-व्यञ्जक वर्ण 'ध्वनि' कहलाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि 'स्फोट' का ही दूसरा नाम ध्वनि है। इस भाँति शब्द एवं व्यापार के साम्य के आधार पर व्याकरण के ध्वनिसिद्धान्त से प्रेरणा प्राप्त कर ध्वनिकार ने 'ध्वनि' की स्थापना की।

ध्वनि के प्रकार

आलङ्कारिकों के मतानुसार भी प्रसिद्ध शब्द-व्यापारों से भिन्न व्यञ्जकत्व नामक शब्दव्यवहार ध्वनि है। अतएव व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ तथा व्यञ्जकत्व व्यापार—इन चार प्रकारों की ध्वनि हुई। इन चारों के एकत्र रहने पर समुदायरूप काव्य भी 'ध्वनि' कहलाता है। व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थों के द्वारा भी ध्वनि के निम्नलिखित पाँच भेद सिद्ध हो जाते हैं:—

१. 'ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः' अर्थात् जो ध्वनित करे अथवा कराये वह 'व्यञ्जक-शब्द' 'ध्वनि' कहलाता है।

२. 'ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः' अर्थात् जो ध्वनित करे अथवा कराये वह व्यञ्जक-अर्थ 'ध्वनि' कहलाता है।

३. 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' अर्थात् जो ध्वनित किया जाय वह 'ध्वनि' है।

४. 'ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः' जिसके माध्यम से ध्वनित किया जाय वह भी 'ध्वनि' है। इसके द्वारा शब्द, अर्थ के व्यञ्जना आदि व्यापारों (वृत्तियों) का बोध होता है।

५. 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' अर्थात् जिसमें वस्तु, अलङ्कार, रस आदि ध्वनित हों उस काव्य को भी 'ध्वनि' कहा जाता है।

ध्वनि-सिद्धान्त

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिसम्बन्धी सिद्धान्त की स्थापना की किन्तु आनन्दवर्धन द्वारा की गई ध्वनिसिद्धान्त से पूर्व तथा पश्चात् भी ध्वनिविरोधियों द्वारा इस सिद्धान्त का विरोध बराबर चलता रहा। अपने से पूर्व के ध्वनि विरोधियों की युक्तियों का समाधान आचार्य ने स्वयं

ही कर दिया था किन्तु उनके पश्चात् के ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का उत्तर आचार्य अभिनवगुप्त तथा मम्मट द्वारा दिया गया। अतएव ध्वनिविरोधियों के मतों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) आनन्दवर्धन से पूर्व के ध्वनिविरोधी पक्ष तथा (२) आनन्दवर्धन के पश्चात् के ध्वनिविरोधी पक्ष।

१. आनन्दवर्धन के पूर्व के ध्वनिविरोधी पक्षः-

आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्व के ध्वनिविरोधी मतों का उल्लेख आचार्य द्वारा ध्वन्यालोक की प्रथमकारिका में ही प्रस्तुत किया गया है—

'तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्।।

आनन्दवर्धन से पूर्व ध्वनि के पूर्व विरोध में जो युक्तियाँ दी जाया करती थीं, उनको उन्होंने तीन पक्षों में विभक्त किया है—१. अभाववादी-पक्ष, २. भाक्तवादी पक्ष और ३. अलक्षणीयतावादी पक्ष।

प्रथम अभाववादी पक्ष में तीन विकल्प बनते हैं—(१) प्रथम अभाववादी विकल्प के अनुसार काव्य के शरीर की रचना शब्द और अर्थ के द्वारा हुआ करती है। अतएव इनके चारुत्व के आधार ही काव्य की आत्मा कहे जा सकते हैं। शब्द के चारुत्व को प्रकट करने वाले 'अनुप्रास' आदि अलंकार हैं तथा अर्थ के चारुत्व को प्रकट करने वाले उपमा आदि अर्थालङ्कार हैं। इन अलङ्कारों की प्रसिद्धि प्राचीन साहित्यशास्त्रियों द्वारा की जा चुकी है। वर्णों तथा संघटना के चारुत्व के प्रतिपादक 'माधुर्य' आदि गुणों का भी वर्णन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त उपनागरिका आदि वृत्तियों का तथा वैदर्भी आदि रीतियों का भी कथन किया जा चुका है। काव्य के चारुत्व के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले ये ही प्रसिद्ध तत्व हैं। अतः इनसे भिन्न ध्वनि नामक अन्य कोई तत्त्व काव्य के चारुत्व का हेतु नहीं हो सकता है।

(२) द्वितीय अभाववादी पक्ष के लोगों का कहना है कि सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ ही काव्य की रचना करते हैं। अतएव इनके चारुत्व को बढ़ाने वाले अलंकार आदि पहले से ही प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं। यदि इनसे व्यतिरिक्त ध्वनि नामक किसी अप्रसिद्ध वस्तु को काव्य की आत्मा कहा जायगा तो ध्वनि की चर्चा से पूर्व भी तो काव्य का आस्वादन किया जाता रहा है। आप अब 'काव्य की आत्मा' ध्वनि की चर्चा कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में अब से पूर्व लिखे गये सभी काव्य आत्मा से हीन होंगे तथा उनमें काव्यत्व की हानि होगी।

(३) तृतीय अभाववादियों का कथन है कि ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ नहीं है। यदि ध्वनि नाम का कोई पदार्थ चारुत्व का हेतु है तो उसका अन्तर्भाव वर्णित चारुत्व हेतुओं में से किसी के अन्तर्गत हो जायगा। यह सम्भव है कि वाणी के भेद-प्रभेदों की अनन्तता के कारण लक्षणकारों द्वारा किसी प्रभेदविशेष की समाख्या न की जा सकी हो तथा उसी का अन्वेषण कर आप 'ध्वनि' नाम दे रहे हों यह कोई बहुत महत्व की बात नहीं है। इतनी-सी छोटी बात को लेकर ध्वनि-ध्वनि का कोलाहल मचाना नितान्त अनुचित है।

उपर्युक्त रूप में ध्वनि का निषेध करनेवालों की युक्तियों का सारांश यही है कि ये

लोग एक प्रकार से अभिषा अथवा वाच्यार्थ में ही व्यञ्जना अथवा ध्वनि का अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं।

२. भाक्तवादी पक्ष–

ध्वनि के विरोधियों का दूसरा पक्ष ध्वनि को लक्षणा के अन्तर्गत स्वीकार करता है। ये लोग भक्ति (लक्षणा) वादी अथवा भक्तिवादी कहलाते हैं। इन्होंने लक्षणा के व्यवहार का प्रदर्शन कर व्यञ्जनावादियों के प्रतीयमान-अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा प्रतिपादित की है।

३. अलक्षणीयतावादी पक्ष–

ध्वनिविरोधी तृतीय पक्ष का कथन है कि 'ध्वनितत्व' की वाणी द्वारा व्याख्या किया जाना सम्भव नहीं है। वह सहृदयों द्वारा संवेद्य है। अतएव उसकी परिभाषा अथवा लक्षण का किया जाना असंभव है।

आनन्दवर्धन के परवर्ती ध्वनिविरोधी मत

परवर्ती विरोधियों में प्रमुख थे—भट्टनायक, महिमभट्ट, कुन्तक और क्षेमेन्द्र। भट्टनायक ने रसास्वादन के कारणरूप शब्द की दो नवीन शक्तियों की उद्भावना की—(१) भावकत्व और (२) भोजकत्व तथा इन्हीं के आधार पर व्यञ्जना का निषेध किया।

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने ध्वनि को अनुमिति मात्र माना। उन्होंने व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता को मानने का खण्डन किया, ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति को अनुमान द्वारा प्रतिपादित किया तथा व्यञ्जना का निषेध कर अभिधा को ही पर्याप्त माना। उन्होंने अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में इसी विषय को प्रधानता भी दी।

कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ की रचना की तथा ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत स्वीकार किया।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही काव्य का प्राण स्वीकार किया। ये प्रसिद्ध आलोचक अभिनवगुप्त के ही शिष्य थे।

इनमें से भट्टनायक का उत्तर आचार्य अभिनवगुप्त ने तथा अन्य सभी का उत्तर मम्मट द्वारा दिया गया।

अभाववादियों के विरोध का मण्डन

वस्तुतः ध्वनि व्यञ्जना पर भी आधारित है। अतएव यह कहना असंगत न होगा कि ध्वनि की स्थापना का अर्थ व्यञ्जना की ही स्थापना है।

अभाववादियों का प्रमुख तर्क यह है कि ध्वनि की स्थापना से पूर्व भी तो काव्य में काव्यत्व था और सहृदय जन उसका आस्वादन भी किया करते थे। यदि ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा जा रहा है तो पूर्ववर्ती सभी काव्यों में काव्यत्व की हानि हो जायगी। ध्वनिकार द्वारा इसका उत्तर यह दिया गया है कि उस समय ध्वनि का नामकरण नहीं हो सका था किन्तु उसकी स्थिति तो उस समय भी विद्यमान थी। जैसे—'पर्यायोक्त' आदि अलङ्कारों में व्यङ्ग्यार्थ स्पष्ट रूप से वर्त्तमान रहा करता है, यद्यपि उसका महत्व गौण है किन्तु उसकी सत्ता के होने में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। इस व्यङ्ग्यार्थ के लिए मात्र व्यञ्जना ही मूल आधार है।

इसके अलावा रस आदि में भी व्यञ्जना का ही प्राधान्य है; क्योंकि रस इत्यादि अभिधेय नहीं हुआ करते हैं।

अभाववादियों की सर्वतोप्रमुख युक्ति यह है कि व्यञ्जनाव्यापार का अलग से अस्तित्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसका कार्य तो अभिधा अथवा लक्षणा द्वारा सम्पन्न कर लिया जायगा।

इसका सीधा उत्तर यह है कि ध्वनि के जो दो प्रमुख भेद (अविवक्षितवाच्यध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि) किये गये हैं उन दोनों का अन्तर्भाव अभिधा अथवा लक्षणा में हो जाएगा। किन्तु ऐसा किया जा सकना सम्भव नहीं है क्योंकि 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' अभिधा के आश्रित नहीं है। अतएव अभिधा के निष्फल हो जाने के अनन्तर लक्षणा की सामर्थ्य पर ही उसकी सत्ता आश्रित है। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में लक्षणा का कोई कार्य है ही नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि ध्वनि का एक प्रमुख भेद और उसके उपभेद अभिषा के अन्तर्गत नहीं आ सकते हैं तथा द्वितीय भेद और उसके प्रभेद लक्षणा की सामर्थ्य से बाहर है। तात्पर्य यह है कि ध्वनि अभिधा और लक्षणा की सामर्थ्य से पृथक् अस्तित्व रखनेवाली है। कहने का अभिप्राय यह है कि अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ की ध्वन्यर्थ से पृथकता प्रकट करने वाले अनेक प्रमाण स्वयंसिद्ध हैं।

अभिधेयार्थ अथवा वाच्यार्थ और ध्वन्यर्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ की पृथकता को प्रकट करने वाले बोद्धा आदि की भिन्नता ही है:—

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः।। (साहित्यदर्पण)

(१) बोद्धा के आधार पर भिन्नता-कोश, व्याकरण आदि के प्रत्येक ज्ञाता को वाच्यार्थ की प्रतीति हो सकती है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ अथवा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति मात्र सहृदय व्यक्ति को ही हो सकती है।

(२) स्वरूप–यदि कहीं वाच्यार्थ विधिरूप है तो व्यङ्ग्यार्थ निषेधरूप। कहीं वाच्यार्थ निषेधरूप है तो व्यङ्ग्यार्थ विधिरूप। कहीं वाच्यार्थ विधिरूप है अथवा निषेधरूप तो व्यङ्ग्यार्थ अनुभयरूप है। कहीं वाच्यार्थ संदिग्ध हो सकता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ निश्चयात्मक ही होगा।

(३) संख्या–इसके अन्तर्गत प्रकरण, वक्ता तथा श्रोता का भेद भी आ जाता है। जैसे—'सूर्यास्त हो गया' इस वाच्य का वाच्यार्थ तो एक ही होगा किन्तु वक्ता, श्रोता तथा प्रकरण के भेद से व्यङ्ग्यार्थ अनेक होंगे।

(४) निमित्त–वाच्यार्थ का ज्ञान शब्दज्ञान के द्वारा तथा प्रकरण आदि की सहायता से हो जाया करता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति विशिष्ट प्रकार की प्रतिभा के बल पर ही हुआ करती है।

(५) कार्य–वाच्यार्थ द्वारा वस्तु का ज्ञानमात्र हुआ करता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा आनन्दरूप चमत्कार का आस्वादन हुआ करता है।

(६) प्रतीति–वाच्यार्थ की प्रतीति केवल शब्दबोध मात्र है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति शब्दमय होने के साथ ही साथ चमत्कारमय भी हुआ करती है।

(७) काल–वाच्यार्थ की प्रतीति पहले और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति उसके पश्चात् ही हुआ करती है। इस प्रकार का काल-भेद अवश्य विद्यमान रहा करता है, चाहे वह संलक्ष्य हो अथवा असंलक्ष्य।

(८) आश्रय–वाच्यार्थ मात्र शब्द अथवा पद के आश्रित रहा करता है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ शब्द में, शब्द के अर्थ में, शब्द के अंश में, वर्ण अथवा वर्णसंरचना आदि में रहा करता है।

(९) विषय–वाच्यार्थ का विषय नियत होता है। वह संबोध्य व्यक्ति के लिए ही हुआ करता है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का विषय नियत भी हो सकता है और अनियत भी तथा सम्बद्ध भी हो सकता है।

(१०) पर्याय–पर्यायवाची शब्दों के व्यङ्ग्यार्थ में अन्तर हुआ करता है। सभी पर्यायों का वाच्यार्थ एक-सा हुआ करता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ भिन्न हो सकता है।

इस भाँति उपर्युक्त हेतुओं के कारण वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ एक नहीं हो सकते हैं। वे पृथक्-पृथक् ही हुआ करते हैं। ऐसी स्थिति में ध्वनि का समावेश अभिधा के अन्तर्गत होना संभव नहीं है।

रस इत्यादि अभिधा के आश्रित ध्वनि के भेदों के अन्तर्गत आते हैं। ये विवक्षितान्यपर-वाच्य के असंलक्ष्यक्रम भेद के अन्तर्गत हैं। ये रस इत्यादि व्यञ्जना की सत्ता के प्रबल प्रमाण हैं क्योंकि ये कभी भी वाच्य नहीं हुआ करते हैं। वे तो सदैव वाच्य द्वारा आक्षिप्त व्यङ्ग्य ही हुआ करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो ही जाता है कि रसादि की प्रतीति अभिधा की सामर्थ्य से बाहर है। इस विषय को लेकर संस्कृत के आचार्यों में बहुत वादविवाद हुआ है। सर्वप्रथम भट्टनायक ने व्यञ्जना का निषेध किया और शब्द की भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो शक्तियाँ स्वीकार कीं। उन्होंने कमनीय अर्थ का भावन तथा रस का आस्वादन उन्हीं के द्वारा माना किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने इन दोनों नवीन शक्तियों की कल्पना को निराधार तथा अनावश्यक माना तथा व्याकरण आदि के आधार पर व्यञ्जना की ही स्थापना की।

बाद में महिमभट्ट द्वारा व्यञ्जना का निषेध किया गया। उन्होंने अभिधा को ही शब्द की एक मात्र शक्ति माना। उन्होंने बतलाया कि व्यङ्ग्य तो मात्र अनुमान का विषय है। वे वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में व्यङ्ग्यव्यञ्जक सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते थे। इसके स्थान पर वे लिङ्गलिङ्गीसम्बन्ध को मानते थे। उनका कहना था कि जहाँ लिङ्ग (साधन अथवा हेतु) निश्चितरूप से विद्यमान होगा वहाँ लिङ्गी (अनुमेय वस्तु) का अनुमान स्वयं ही हो जायगा।

उनके इस सिद्धान्त का आर्चाय मम्मट द्वारा युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है। उनका कहना है कि लिङ्गलिङ्गीसम्बन्ध निश्चयात्मक है। वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ में सर्वत्र लिङ्गलिङ्गी-सम्बन्ध हो ऐसा आवश्यक नहीं है। ध्वनिप्रसङ्ग में वाच्यार्थ का सदैव निश्चयात्मक हेतु होना होना भी संभव नहीं है। वह तो प्रायः अनैकान्तिक हुआ करता है। ऐसी दशा में व्यङ्ग्यार्थरूप चमत्कार के अनुमान का कारण किस भाँति स्वीकार किया जा सकता है? मनोविज्ञान की दृष्टि से भी महिमभट्ट का उपर्युक्त विवेचन युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि अनुमान में साधन के द्वारा साध्य की सिद्धि तर्क अथवा बुद्धि पर आधारित हुआ करती है। किन्तु ध्वनि में

वाच्यार्थ के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तर्क पर आधारित न होकर सहृदयता, कल्पनाओं आदि पर आधारित हुआ करती है।

(२) अब भाक्त (लक्षणा) बाद के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। भाक्तवादी कहते हैं कि वाच्यार्थ के अतिरिक्त जो भी कोई अन्य अर्थ होता है तो वह लक्ष्यार्थ के अन्तर्गत आ जायगा। व्यङ्ग्यार्थ तो वस्तुत: लक्ष्यार्थ का ही एक रूप है। ऐसी स्थिति में लक्षणा से भिन्न व्यञ्जना नाम की कोई शक्ति है ही नहीं। इसके उत्तर में ध्वनिकार द्वारा एक प्रबल युक्ति यह दी गई है कि:—

वाच्यार्थ के सदृश लक्ष्यार्थ भी नियत ही हुआ करता है तथा लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से सदैव सम्बन्धित ही होगा। जैसे 'गङ्गायां घोष:' अर्थात् गंगा (के प्रवाह में) आभीरों की बस्ती। उपर्युक्त वाक्य में 'गंगा' का जो प्रवाहरूप अर्थ है वह तट के साथ सम्बन्ध नियत है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का वाच्यार्थ के साथ सम्बन्ध नियत होना आवश्यक नहीं है। इन दोनों का सम्बन्ध नियत भी हो सकता है, अनियत भी और सम्बद्ध सम्बन्ध भी। कहने का अभिप्राय यह है कि लक्ष्यार्थ एक ही हो सकता है साथ ही वह सर्वथा सम्बद्ध ही होगा, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ अनेक हो सकते हैं तथा उनका सम्बन्ध अनियम भी हो सकता है।

लक्षणावृत्ति में प्रयोजन की प्रतीति के लिए व्यञ्जना का आश्रय लेना पड़ा करता है। इस भाँति प्रयोजन सदैव व्यङ्ग्य ही रहा करता है किन्तु व्यञ्जना से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिए किसी अन्य वृत्ति का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं हुआ करती है।

रस इत्यादि सीधे वाच्यार्थ से ही व्यङ्ग्य करते हैं। लक्ष्यार्थ के माध्यम से उनकी प्रतीति नहीं हुआ करती है। अतएव उनका लक्ष्यार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं।

अतएव लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव संभव नहीं है।

ध्वनि का अर्थ और स्वरूप

'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूपों में की जा सकती है:—

(१) 'ध्वनति इति ध्वनि:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रतीयमान अर्थ' को अभिव्यक्त करने वाले वाचक शब्द तथा वाच्य अर्थ ध्वनि नाम से अभिहित होते हैं।

(२) 'ध्वन्यते इति ध्वनि:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि है।

(३) 'ध्वननं ध्वनि:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जना व्यापार 'ध्वनि' है।

उपर्युक्त चारों प्रकार से गणित ध्वनियाँ काव्य में रहा करती हैं अतएव काव्य को भी 'ध्वनि' कहा जाया करता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इन पाँचों को 'ध्वनि' नाम से अभिहित किया है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त पाँचों प्रकार की ध्वनियों का विश्लेषण निम्नलिखित रूप में किया है:—

'वाच्य-अर्थ और वाचक शब्द—' इन दोनों का व्यञ्जकत्व ध्वननव्यापार द्वारा किये जाने से वाच्य-अर्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है। विभाव, अनुभाव आदि के संवलन से जो सम्मिश्रित हुआ करता है वह व्यङ्ग्यार्थ भी 'ध्वनि' ही है क्योंकि वह भी ध्वनित किया जाया करता है। 'शब्दनं शब्द: शब्दव्यापार:' अर्थात् शब्द का व्यापार भी 'ध्वनि' है

किन्तु वह अभिधा आदि वृत्तियों के स्वरूपवाला नहीं है अपितु वह तो आत्ममूल है। 'काव्य' नाम वाला पदार्थ भी ध्वनि है। क्योंकि उसमें ध्वनि के पूर्वोक्त चारों प्रकार स्थित रहा करते हैं।

इस भाँति शब्द, अर्थ, व्यङ्ग्य-अर्थ, व्यञ्जनाव्यापार तथा काव्य इन पाँचों को ध्वनि का नाम दिया गया है।

ध्वनि की परिभाषा

शब्द, अर्थ, व्यङ्ग्य-अर्थ, व्यञ्जनाव्यापार तथा काव्य इन पाँचों को ध्वनि नाम से कहते हुए भी ध्वनिकार द्वारा ध्वनि की परिभाषा में काव्य को प्रमुखता प्रदान की गयी है:—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

(ध्वन्या० १३)

अर्थात् जहाँ अर्थ (स्व) अपने को अथवा शब्द अपने (अभिधेय) अर्थ को गुणीभूत (गौण) करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं उस काव्यविशेष को विद्वानों द्वारा ध्वनि (काव्य) नाम से कहा गया है:—

'तमर्थम्' उस अर्थ को सहृदयों द्वारा दो प्रकार का बतलाया गया है:—

योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।। (ध्वन्या० २)

अर्थात् जो अर्थ काव्य के आत्मा रूप में स्थित है, सहृदयों द्वारा प्रशंसित उस अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान दो भेद कहे गये हैं।

जिस भाँति किसी भवन का निर्माण उसकी अधारभूमि (नींव) का निर्माण हो जाने के पश्चात् ही हुआ करता है उसी भाँति वाच्यार्थ 'ध्वनि' की आधारभूमि है। उसी के आधार पर प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति हुआ करती है।

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरूपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोन्यैः...................।।

उन दोनों प्रकार के अर्थों में जो वाच्य-अर्थ है वह उपमा आदि (गुण-अलङ्कार आदि) प्रकारों द्वारा प्रसिद्ध है तथा अन्यों (पूर्व काव्यलक्षणकारों) द्वारा उनका अनेक प्रकार से प्रदर्शन किया जा चुका है।

अतएव यहाँ प्रतीयमान अर्थ का विवेचन करते हैं:—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।

(ध्वन्या० ४)

महाकवियों की वाणियों में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है। प्रसिद्ध अलङ्कारों अथवा प्रतीत होने वाले अवयवों से भिन्न (जो रमणियों के प्रसिद्ध मुख, नेत्र,

नासिका, श्रोत्र आदि शारीरिक अङ्गों से भिन्न) लावण्य के सदृश पृथक् ही प्रकाशित हुआ करता है। जिस भाँति सुन्दरियों का सौन्दर्य (लावण्य) सम्पूर्ण शारीरिक अंगों से पृथक् दृष्टिगोचर होने वाला, सहृदयजनों के नेत्रों के लिए अमृत सदृश कुछ और ही वस्तु हुआ करती है, उसी भाँति यह प्रतीयमान अर्थ भी है।

यह प्रतीयमान अर्थ ही 'ध्वनि' नाम से कथित होता है।

ध्वनि अथवा प्रतीयमान अर्थ के प्रकार

काव्य में दो प्रकार के अर्थ हुआ करते हैं— (१) वाच्य, (२) प्रतीयमान। वाच्य अर्थ का ज्ञान शब्दशास्त्र के ज्ञान के आधार पर हुआ करता है। किन्तु प्रतीयमान अर्थ सहृदयहृदयसंवेद्य ही हुआ करता है। जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ वाच्य-अर्थ की अपेक्षा प्रधान तथा चारुत्व की अधिकता से युक्त हुआ करता है उस काव्य को 'ध्वनि काव्य' के नाम से व्यवहृत किया जाया करता है। प्रतीयमान अर्थ के तीन प्रकार हुआ करते हैं—(१) वस्तु, (२) अलङ्कार और (३) रस। इसी आधार पर तीन प्रकार की ध्वनि भी कही गई है—(१) वस्तुध्वनि, (२) अलङ्कारध्वनि और (३) रसध्वनि।

काव्य के तीन प्रकार

ये तीन प्रकार हैं— (१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य तथा (३) चित्रकाव्य। वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ का अतिशय होने पर 'ध्वनिकाव्य' हुआ करता है। किन्तु जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ गौण होकर वाच्यार्थ के अतिशय को प्रकट किया करता है वहाँ पर गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य हुआ करता है। जहाँ पर व्यङ्ग्य अर्थ की विवक्षा नहीं हुआ करती है, मात्र शब्दालङ्कारों अथवा अलङ्कारों का ही वैचित्र्य वर्णित हो, वहाँ चित्रकाव्य हुआ करता है। आचार्य के मतानुसार काव्य वस्तुतः दो ही प्रकार के हुआ करते हैं—(१) ध्वनि काव्य, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य। चित्रकाव्य तो काव्य की अनुकृतिमात्र ही हुआ करते हैं।

ध्वन्यालोक और उसका विषय

साहित्यशास्त्र के इतिहास में ध्वन्यालोक का अपना एक विशिष्ट स्थान है। आचार्य वर्धन ने अपने से पूर्व तक की चली आती हुई परम्पराओं को भलीभाँति समझा और उन्होंने विचार किया कि काव्य के दो पक्ष हुआ करते हैं— (१) कलापक्ष और (२) हृदयपक्ष अथवा भावपक्ष। आचार्य आनन्दवर्धन से पूर्व कलापक्ष सम्बन्धी साहित्यशास्त्रों का विस्तृत विवेचन किया जा चुका था। हृदयपक्ष यद्यपि अछूता न था किन्तु फिर भी उसकी ओर कोई विशिष्ट ध्यान न दिया जा सका था। इस कमी को आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन कर पूरा किया।

उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। उन्होंने प्रतीयमान अर्थ को तीन प्रकार का माना जिसके आधार पर वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि तथा रसध्वनि का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया। उन तीनों प्रतीयमान अर्थों में तृतीय प्रतीयमान अर्थ की सर्वश्रेष्ठता

प्रदान की गई और उसी को प्रमुखरूप से 'ध्वनि' की संज्ञा प्रदान की गई। इसी को 'रसध्वनि' भी कहा गया।

ध्वनि तथा अन्य प्रस्थान

ध्वनि का सर्वश्रेष्ठ प्रकार रसध्वनि ही है। अतएव 'रस' एक प्रकार से ध्वनि ही है। ध्वनिकार द्वारा जिस ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है वह प्रमुख रूप से 'रस' ही है। इस भाँति आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त द्वारा रसतत्व को सर्वोच्च स्थान पर स्थापित किया है। इसका प्रमुख कारण यह था कि 'रस' केवल व्यङ्ग्य ही हुआ करता है, वाच्य के साथ उसका संस्पर्श बना सकना संभव ही नहीं है। इसी कारण इसे 'अलौकिक' भी कहा गया है। काव्य से सम्बन्धित अन्य सभी तत्व रस की अभिव्यक्ति में साधन के रूप में विद्यमान रहा करते हैं। रस-सम्प्रदाय में भी रस को वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकी थी कि जो ध्वनिसम्प्रदाय में उसे प्राप्त हुई। अलङ्कारशास्त्रियों ने तो रस को एक प्रकार के अलङ्कार के रूप में स्वीकार कर रखा था।

ध्वनि और अलङ्कार–ध्वनिसम्प्रदाय का प्रमुख आधार प्रतीयमान अर्थ ही था। अलङ्कार-सम्प्रदाय के आचार्य भामह, उद्भट आदि उस प्रतीयमान अर्थ से अपरिचित रहें हों, ऐसी बात न थी। काव्य के प्राणभूत 'रस' के सम्बन्ध वे न जानते हों, ऐसा भी नहीं है। हाँ, ऐसा अवश्य है कि उन्होंने रस को उचित स्थान देकर उसे अलङ्कार में ही अन्तर्मुक्त कर रखा था। जब ध्वनिकार ने रस की काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित किया तब अलङ्कारों की स्थिति वास्तविक रूप में सामने आ सकी। आनन्दवर्धन के अनुसार अलङ्कारों की सार्थकता अलङ्कार्य की शोभा बढ़ाने में ही है। जब उनका प्रयोग काव्य में रसादि के अभिप्राय से किया जायगा, तभी वे 'अलङ्कार' कहे जा सकेंगे।

ध्वनि और रीति–ध्वनि की स्थापना से पूर्व आचार्य वामन द्वारा काव्य की आत्मा के रूप में 'रीति' की स्थापना की जा चुकी थी। उनके अनुसार एक विशिष्ट प्रकार की पदरचना का नाम ही 'रीति' है। पदरचना में विशिष्ट प्रकार का संपादन गुणों के द्वारा ही हुआ करता है। आनन्दवर्धन ने पदरचना रूप 'रीति' को 'संघटना' के नाम से कहा। पदसंघटना सम्बन्धी औचित्य से रस के अन्मीलन में सहायता प्राप्त हुआ करती है। अतएव आनन्दवर्धन ने रीति को रस के उपकारक के रूप में स्वीकार किया।

ध्वनि और औचित्य–औचित्य सम्प्रदाय का प्रारम्भ क्षेमेन्द्र द्वारा किया गया था। रस के विकास में आचार्य आनन्दवर्धन का विशेष योगदान रहा। उन्होंने काव्य के आत्मभूत रसध्वनि को औचित्य के साथ सम्बद्ध किया। उन्होंने दोनों के रहस्य को समझा तथा औचित्य को रस का एक आवश्यक अङ्ग बतलाया।

ध्वनि और वक्रोक्ति–आनन्दवर्धन के पश्चात् आचार्य कुन्तक द्वारा वक्रोक्तिसम्प्रदाय की स्थापना की गई। ध्वनिसिद्धान्त के विरोध में ऐसा किया गया था किन्तु ध्वनिसिद्धान्त पर इसका कुछ भी प्रभाव न हो सका। वह ज्यों का त्यों ही बना रहा।

'रस' को तो आनन्दवर्धन ने 'रसध्वनि' के रूप में स्वीकार किया ही है। अतएव ध्वनिसिद्धान्त का रससिद्धान्त के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध है।

ध्वनि के भेद

मुख्यरूप से ध्वनि के दो भेद होते हैं— (१) लक्षणामूलाध्वनि, (२) अभिधामूलाध्वनि। इनमें से प्रथम लक्षणामूलाध्वनि स्पष्ट रूप से लक्षणा के आश्रित रहा करती है। इसी को 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' नाम से भी कहा जाता है। इसका अर्थ ही है कि जिस ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा न हो। अर्थात् इस ध्वनि में वाच्यार्थ बाधित रहा करता है। इन ध्वनि के भी दो भेद हुआ करते हैं— (१) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य में वाच्यार्थ किसी अन्य अर्थ में परिणत हो जाया करता है। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो जाया करता है। तात्पर्य यह है कि उसका त्याग ही कर दिया जाया करता है।

अभिधामूलाध्वनि–यह ध्वनि अभिधा पर आश्रित रहा करती है। इसका दूसरा नाम है 'विवक्षितान्यपरवाच्य'। इसमें वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्य-निष्ठ रहा करता है। इसमें वाच्यार्थ की अपनी सत्ता तो रहा करती है किन्तु वह अन्ततोगत्वा व्यङ्ग्यार्थ का माध्यम ही हुआ करता है। इसके भी दो भेद है— (१) असंलक्ष्यक्रम और (२)संलक्ष्यक्रम। वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि संलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत आते हैं। सम्पूर्ण रसप्रपञ्च असंलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत आता हैं।

ध्वन्यालोक की टीकायें

ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ की रचना हो जाने के पश्चात् विद्वानों द्वारा इसके गाम्भीर्य का विवेचन किया जाना परमावश्यक था। अतएव इस ग्रन्थ की अनेक टीकायें और व्याख्यायें लिखी जाती रहीं। इन टीकाओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रामाणिक टीका आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा की गई। उन्होंने अपनी इस टीका का नाम 'लोचन' रखा।

आचार्य अभिनव गुप्त की लोचन टीका

इस टीका के हस्तलिखित प्रतियों में अनेक नाम उपलब्ध होते हैं—

(१) सहृदयालोकलोचन (२) ध्यान्यालोकलोचन (३) काव्यालोकलोचन। वैसे अभिनवगुप्त के पश्चात् होनेवाले आचार्यों ने अथवा आलोचकों ने उनकी टीका को 'लोचन' नाम से ही अभिहित किया है। साहित्यशास्त्र में ध्वन्यालोक की लोचनटीक का सर्वाधिक महत्व है क्योंकि आजतक जितनी भी टीकायें इस ग्रन्थ की लिखी जा चुकी हैं उनमें सर्वाधिक प्रामाणिकता इसी टीका की है। स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त ने इस टीका का 'लोचन' नाम ही दिया है तथा इस टीका को ध्वन्यालोक (आलोक) के रहस्य का उन्मीलन करने वाला भी बतलाया है—

किं लोचनं बिना लोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाऽभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्।।

अभिनवगुप्त से पहले 'ध्वन्यालोक' पर चन्द्रिका नाम की व्याख्या लिखी जा चुकी थी। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन टीका में कई स्थलों पर इसका उल्लेख किया है। उन्होंने प्रथम तथा तृतीय उद्योत के अन्त में जो श्लोक लिखा है उससे भी यह विदित होता है कि

उन्होंने लोचन टीका के लिखने में 'चन्द्रिका' नाम की टीका से सहायता ली है। ऊपर उद्धृत श्लोक इसी से सम्बन्धित है। उनका कहना है कि जिस भाँति चन्द्र चन्द्रिका के होते हुए होने पर भी चन्द्रमा बिना लोचन (नेत्रों) के प्रकाशित नहीं हुआ करता है उसी भाँति 'चन्द्रिका' नामक व्याख्या से सुशोभित होते हुए होने पर भी यह 'ध्वन्यालोक' लोचन टीका के बिना सुशोभित नहीं हुआ करता है।

चन्द्रिका नाम की टीका के बारे में यह भी विदित होता है कि उक्त टीका आचार्य अभिनवगुप्त के किसी पूर्वज के द्वारा की गई है। यद्यपि उन्होंने चन्द्रिका नामक टीका से सहायता ली है किन्तु फिर भी उन्होंने अनेक स्थलों पर उससे अपने मतभेद को भी प्रकट किया है।

यद्यपि आचार्य अभिनवगुप्त कश्मीर के थे किन्तु इनके पूर्वजों का मूल निवासस्थान कश्मीर नहीं था। राजतरङ्गिणी के अनुसार अष्टम शताब्दी में कन्नौज के राजा यशोवर्मा का राज्य ७३० ई० से ७४० ई० तक रहा था। तथा उसी समय कश्मीर में मुक्तापीड अथवा ललितादित्य ७२५ ई० से ७६१ ई० तक राज्य कर रहे थे। इन दोनों राजाओं में परस्पर युद्ध हुआ। कन्नौज के राजा यशोवर्मा की पराजय हुई। उस समय अन्तर्वेदी (गङ्गा तथा यमुना के मध्य का देश) में अत्रि गुप्त नाम के विद्वान् निवास करते थे। इनकी विद्वत्ता से कश्मीराधिपति ललितादित्य अत्यधिक प्रसन्न हो गये और उन्हें कश्मीर ले गये तथा वहीं उनको बसा दिया।

इसी वंश में अभिनवगुप्त उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम नृसिंहगुप्त था और माता का नाम विमला अथवा विमलाकला था।

आचार्य अभिनवगुप्त अपनी ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने अनेक प्रकार की रचनाओं का सृजन किया। उनकी कुछ रचनाओं को तान्त्रिकों की श्रेणी में, कुछ को स्तोत्रों की श्रेणी में, कुछ को काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र की श्रेणियों में रखा जा सकता है। ये शैवमतावलम्बी थे। अत: इन्होंने शैवमत से सम्बन्धित भी कुछ रचनाएँ लिखी थी।

अपने विभिन्न विषयक ग्रन्थों में इन्होंने अपने गुरुओं का भी उल्लेख किया है। इस भाँति इन्होंने अपने विभिन्न प्रकार के गुरुओं से विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था। साहित्य-शास्त्र से सम्बन्धित इनके गुरु भट्टेन्दुराज थे। इन्होंने ही संभवत: 'ध्वन्यालोक' से सम्बन्धित शिक्षा उन्हें प्रदान की होगी।

इनके एक गुरु थे भट्टतौत। इन्हीं के द्वारा अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। नाट्यशास्त्र की 'अभिनवभारती' नामक टीका के अन्त में इन्होंने अपने गुरु का स्मरण किया है। इनके गुरु भट्टतौत के द्वारा 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ की रचना की गई थी। अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थ पर 'विवरण' नामक टीका लिखी थी। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में 'शान्तरस' के नियोजन की उपयोगिता का उल्लेख करते हुए इसका संकेत किया है।

इन्होंने अपने परिवार का उल्लेख नहीं किया है। इससे प्रतीत होता है कि ये संभवत: आजीवन ब्रह्मचारी ही रहे होंगे।

काशी में प्रचलित प्राचीन परम्परा के आधार पर अभिनवगुप्त अपने १२०० शिष्यों के

साथ भैरवी स्तोत्र का पाठ करते हुए एक गुफा में प्रविष्ट हो गये थे तथा वहीं से अन्तर्धान हो गये। डॉ. ग्रियर्सन के अनुसार यह गुफा वीरू नामक स्थान में स्थित है। इसका प्राचीन नाम था—'बहुरूपा'। यह स्थान श्रीनगर से १३ मील दक्षिण पश्चिम की ओर है।

लोचन टीका ध्वन्यालोक के रहस्य को भलीभाँति उद्‌घाटित करने तथा उसके मन्तव्यों का विस्तृत विवेचन करने में पूर्णतया सक्षम है।

ध्वन्यालोक की अन्य टीकायें–अन्य प्राचीन टीकाओं में 'चन्द्रिका' तथा 'कौमुदी' नामक टीकायें प्रसिद्ध हैं। इनमें से 'चन्द्रिका' नामक टीका आचार्य अभिनवगुप्त से पहले की है तथा 'कौमुदी' नामक टीका उनके बाद की है। इस टीका को केरलनिवासी विद्वान् 'उदयोत्तुङ्ग' ने लिखा था। यह टीका मात्र प्रथम उद्योत पर ही उपलब्ध है।

ध्वन्यालोक की कुछ आधुनिक टीकाओं में निम्नलिखित टीकायें उपलब्ध होती हैं—

१. डॉ० जैकोबी द्वारा तृतीय उद्योत तक आंग्लभाषा में लिखित टीका उपलब्ध होती है। यह जर्मन भाषा में है।

२. चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस द्वारा मुद्रित ध्वन्यालोक (सम्पूर्ण) की लोचन टीका आधुनिक बालप्रिया एवं दिव्यञ्जना नामक टीका सहित। इसका संपादन डॉ० पट्टाभिराम शास्त्री द्वारा किया गया था।

३. बाद में श्री बदरीनाथ झा कृत 'दीधिति' नामक टीका ध्वन्यालोक (मूल) पर लिखी गई थी। प्रकाशक-पूर्ववत्।

४. पुन: इसी प्रकाशन द्वारा श्री जगन्नाथ पाठक द्वारा लिखी टीका मुद्रित हुई।

५. डॉ० कृष्णमूर्ति द्वारा भूमिका सहित ध्वन्यालोक की अंग्रेजी व्याख्या पूना से १९५५ में प्रकाशित हुई।

६. डॉ० विष्णुपद भट्टाचार्य ने ध्वन्यालोक की विस्तृत अंग्रेजी व्याख्या लोचन तथा कौमुदी व्याख्या सहित लिखी। इसमें विस्तृत भूमिका भी है। इसका प्रकाशन १९५६ में हुआ। प्रथम संस्करण प्रथम उद्योत तक ही है।

७. आचार्य विश्वेश्वर द्वारा ध्वन्यालोक की विस्तृत व्याख्या लिखी गई। इसमें विशेषरूप से लोचन टीका का तथा सामान्यरूप से अन्य टीकाओं का भी आश्रय प्राप्त किया गया है। इसका प्रथम संस्करण संवत् २०१९ में ज्ञानमण्डल, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ।

उपसंहार

साहित्यशास्त्रीय सरणि में 'ध्वन्यालोक' आचार्य आनन्दवर्धन की श्रेष्ठतम रचना है। उन्होंने ध्वनि की स्थापना कर अपने से पूर्व के सभी आलोचकों तथा आचार्यों की सभी प्रकार की मान्यताओं तथा सिद्धान्तों का अन्तर्भाव 'ध्वनि' में ही कर लिया था। यद्यपि वे आचार्य भरत के प्रबल समर्थक थे फिर भी उन्होंने तृतीय प्रतीयमान अर्थ का प्रतिपादन कर 'रस' का अन्तर्भाव भी 'रसध्वनि' के अन्तर्गत ही किया था। उन्होंने ध्वनि के तीन रूपों (वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि) का प्रतिपादन अवश्य किया था किन्तु फिर भी उन्होंने रसध्वनि को ही प्रमुखरूप से काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया था।

सुरेन्द्रदेव शास्त्री

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य प्रणीतः

ध्वन्यालोकः

'लोचन' – 'मंजूआशुबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्यासहितः

द्वितीय उद्योतः

एवमविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः। तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदमुच्यते–

अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्।।१।।

तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव विशेषः।

इस भाँति (प्रथम उद्योत में) अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) तथा विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) इन दो प्रकार की ध्वनियों का विवेचन किया जा चुका है। इन दोनों में अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) के भेदों का प्रतिपादन करने के लिये (द्वितीय उद्योत की) इस (प्रथम कारिका) का कथन करते हैं—

अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि का वाच्य कहीं अर्थान्तरसङ्क्रमित और कहीं अत्यन्त तिरस्कृत होने से दो प्रकार का माना गया है।।१।।

उस प्रकार के (अर्थात् अर्थान्तरसङ्क्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृतस्वरूप) उन दोनों (वाच्यों से व्यङ्ग्यार्थ का ही विशेष (उत्कर्ष) होता है।

लोचनम्

या स्मर्यमाणा श्रेयांसि सूते ध्वंसयते रुजः ।
तामभीष्टफलोदारकल्पवल्लीं स्तुवे शिवाम् ।।

(या) जो (शिवा) शिव की शक्ति (लोगों के द्वारा) (स्पर्यमाणा) स्मरण किये जाने योग्य होकर (श्रेयांसि) कल्याणों को (सूते) उत्पन्न करती है तथा (रुजः) आपत्तियों का (ध्वंसयते) विनाश करती है, ऐसी (ताम्) उस (अभीष्ट-फलोदारकल्पवल्लीम्) उस अभीष्ट फल की उदार कल्पलता का (स्तुवे) मैं स्तवन करता हूँ।

वृत्तिकारः सङ्गतिमुद्योतस्य कुर्वाण उपक्रमते-एवमित्यादि। प्रकाशित इति। मया वृत्तिकारेण सतेतिभावः। न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्, अपितु कारिकाकराभिप्रायेणे-त्याह-तत्रेति। तत्र द्विप्रकार प्रकाशने वृत्तिकारकृते यन्निमित्तं वीजभूतमिति सम्बन्धः। यदि वा-तत्रेति पूर्वशेषः। तत्र प्रथमोद्योते वृत्तिकारेण प्रकाशितः अविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदोऽवान्तरप्रकारस्तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते। तदवान्तरभेद प्रतिपादनद्वारेणैव चानुवाद द्वारेणाविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदो विवक्षितान्य परवाच्यात्प्रभिन्नत्वं तत्प्र-

तिपादनायेदमुच्यते। भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति भावः। सङ्क्रमितमिति णिचा व्यञ्जनाव्यापारे यः सहकारिवर्गस्तस्यायं प्रभाव इत्युक्तं तिरस्कृतशब्देन च। येन वाच्येनाविवक्षितेन सताऽविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्विपदिश्यते तद्वाच्यं द्विधेति सम्बन्धः। योऽर्थ उपपद्यमानोऽपि तावतैवानुपयोगाद्धर्मान्तरसंबलनयान्यतामिव गतो लक्ष्यमाणोऽनुगतधर्मी सूत्रन्यायेनास्ते स रूपान्तरपरिणात् उक्तः। यस्त्वनुपपद्यमान उपायतामात्रेणार्थान्तरप्रतिपत्तिं कृत्वा पलायत इव स तिरस्कृत इति। ननु व्यङ्ग्यमात्मनो यदा ध्वनेर्भेदो निरूप्यते तदा वाच्यस्य द्विधेति भेदकथनं न सङ्गतमित्याशङ्क्याह– तथाविधाभ्यां चेति। चो यस्यादर्थे। व्यञ्जकवैचित्र्याद्धि युक्तं व्यङ्ग्यवैचित्र्यमिति भावः। व्यञ्जके त्वर्थे यदि ध्वनिशब्दस्तदा न कश्चिद्दोष इति भावः।

अर्थात् उद्योत की सङ्गति बैठाते हुये वृत्तिकार आरम्भ करते हैं—इस प्रकार—।इत्यादि। प्रकाशित—। भाव यह है कि मैंने वृत्तिकार के रूप में (ध्वनि के दो प्रकारों को प्रकाशित किया है)। मैंने इस सूत्र (कारिका) को सीमा के बाहर होकर नहीं कहा है, अपितु कारिकाकार के अभिप्राय से कहा है—वहाँ—। सम्बन्ध (पूर्वापर की सङ्गति) यह है कि वृत्तिकार द्वारा ध्वनि के दो प्रकारों के प्रकाशन में जो निमित्त है अथवा वीजभूत है (उसे कहते हैं) अथवा—वहाँ—। अर्थात् प्रथम उद्योत में कहे हुये का शेष है। प्रथम उद्योत में वृत्तिकार ने अविवक्षितवाच्य का जो प्रभेद (विवक्षितान्यपरवाच्य से भिन्नत्व) प्रकाशित किया था उसके अवान्तर प्रकार के प्रतिपादन के लिये यह कहते हैं। उसके अवान्तर भेद के द्वारा ही और अनुवाद के द्वारा अविवक्षितवाच्य का जो प्रभेद अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य से प्रभिन्नत्व है उसके प्रतिपादन के लिये यह कहते हैं। भाव यह है कि मूलरूप से दो भेदों का होना कारिकाकार को भी अभिमत है। सङ्क्रमित इस णिच् प्रत्यय से तथा तिरस्कृत शब्द से व्यंजनाव्यापार में जो सहकारी वर्ग है उसी का यह प्रभाव है यह कहा है। सम्बन्ध यह है कि जिस वाच्य के अविवक्षित होने से अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहा जाता है वह वाच्य दो प्रकार का है। जो अर्थ उपपन्न होता हुआ भी उतने ही अंश में उपयोग के न होने से धर्मान्तर के मिल जाने के कारण दूसरा बना—जैसा ज्ञात होता हुआ, धर्मी के अनुगत होने की स्थिति में सूत्र की भाँति, होता है, वह रूपान्तर-परिणत (अर्थान्तरसङ्क्रमित) कहा गया है। किन्तु जो कि अनुपपन्न होता हुआ, उपाय मात्र होने के कारण (क्योंकि मुख्य अर्थ का सम्बन्ध भी लक्षण का निमित्त है) अन्य (दूसरे) अर्थ की प्रतीति उत्पन्न करके जैसे पलायन कर जाता है, वह तिरस्कृत कहा जाया करता है। (शङ्का—) जब कि व्यङ्ग्यरूपध्वनि का भेदनिरूपण करते हैं, तब वाच्य का 'द्विधा' यह भेद कथन सङ्गत नहीं हुआ करता है। इस आशङ्का को करके कहते हैं—उन दोनों प्रकार के—। 'च' 'और' का प्रयोग (यस्मात्) अथवा 'क्योंकि' के अर्थ में है। भाव यह है कि व्यञ्जक के वैचित्र्य से व्यङ्ग्य का वैचित्र्य बनता है। किन्तु यदि ब्यंजक के अर्थ में ध्वनि शब्द का प्रयोग हो, तब कोई दोष नहीं।

अथ ''मंजूअशुबोधिनी'' व्याख्यायां द्वितीय उद्योतः

'मंजूआशुबोधिनी'

इस प्रकार प्रथम उद्योत में ध्वनि के सामान्यरूप से दो भेदों (अविवक्षितवाच्यध्वनि एवं विवक्षितान्यपरवाच्य) का वर्णन किया जा चुका है। इन दोनों प्रकार की ध्वनियों में प्रथम है (१) अविवक्षितवाच्यध्वनि। पहले इसी ध्वनि के प्रभेद अर्थात् अवान्तर भेदों का वर्णन किया जाना, अभीष्ट है।

यहाँ प्रभेद शब्द का अर्थ विवक्षितान्यपरवाच्य से अविवक्षितवाच्य का भेद यह दूसरा अर्थ भी किया गया है।

अविवक्षितवाच्यध्वनि अथवा लक्षणामूलध्वनि के भेदों के प्रतिपादन के लिये द्वितीय उद्योत की प्रथमकारिका का कथन किया गया है जिसमें कहा गया है कि—

किसी दूसरे अर्थ में सङ्क्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत रूपों की दृष्टि से अविवक्षितवाच्य ध्वनि का वाच्य दो प्रकार का स्वीकार किया गया है।।१।।

उस प्रकार के (अर्थात् अर्थान्तरसङ्क्रमित और अत्यन्त तिरस्कृतस्वरूप) उन दोनों प्रकार के वाच्यों से व्यङ्ग्यार्थ का ही विशेष उत्कर्ष होता है।

अतएव व्यङ्ग्यात्मक ध्वनि के प्रभेदों के प्रसङ्ग में जो यह वाच्य के दो भेद कहे गये हैं वे अप्रासङ्गिक नहीं हैं। क्योंकि उनके द्वारा भी व्यङ्ग्य का ही उत्कर्ष-सम्पादन होता है।

वाच्य के इन दोनों भेदों का आधार लक्षणा – अर्थान्तर सङ्क्रमित वाच्य में वस्तुतः वाच्य अर्थान्तर (दूसरे अर्थ) में सङ्क्रान्त नहीं हुआ करता है अपितु सङ्क्रान्त कराया जाता है अर्थात् सङ्क्रमित होता है। इसी भाँति यहाँ 'णिच्' प्रत्यय के प्रयोग से 'प्रयोजक' कर्ता की अपेक्षा है। यहाँ प्रयोजक कर्त्ता है। इसी प्रकार तिरस्कृत में भी कर्त्ता की अपेक्षा है। इन (सङ्क्रमित और तिरस्कृत) शब्दों के प्रयोग से यह सूचित होता है कि इस ध्वनि के व्यञ्जना-व्यापार में जो सहकारिवर्ग लक्षणा, वक्ता की विवक्षा आदि हैं उन्हीं के प्रभाव से वाच्यार्थ की दोनों प्रकार की अवस्थायें हुआ करती हैं। कहीं वह (वाच्य) अर्थान्तर (अन्य-अर्थ में) सङ्क्रमित कर दिया जाता है तथा कहीं अत्यन्त तिरस्कृत व्यंजना-व्यापार में सहकारिवर्ग (लक्षणा, वक्ता की विवक्षा आदि) की सहायता के बिना वाच्य अर्थान्तर में सङ्क्रान्त नहीं होता है। यही स्थिति 'तिरस्कृत' शब्द की भी है। अतएव व्यंजना के सहकारिवर्ग प्रधानतः लक्षणा का प्रभाव है। इसी दृष्टि से इस अविवक्षित वाच्य ध्वनि का दूसरा नाम—लक्षणामूलध्वनि भी है। लक्षणा के प्रभाव से ही वाच्य अर्थान्तरसङ्क्रमित अथवा अत्यन्त तिरस्कृत हो जाया करता है। इसको समझने के लिये हमें लक्षणा की प्रक्रिया पर थोड़ा सा ध्यान देना आवश्यक है।

लक्षणा की प्रक्रिया

लक्षणा का निरूपण करते हुये काव्यप्रकाशकार ने उसके मुख्यरूप से दो भेद माने हैं:—(१) उपादान लक्षणा (२) लक्षणलक्षणा। लक्षणा का लक्षण है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया।। (का०प्र० २-९)

अर्थात् मुख्य-अर्थ के बाधित होने पर रूढि अथवा प्रयोजन में से किसी एक के निमित्त से मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शब्द-शक्ति के द्वारा होती है, शब्द में आरोपित उस शक्ति का नाम 'लक्षणा' है। इस कारिका में प्रयुक्त 'तद्योगे' शब्द से मुख्य-अर्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होना आवश्यक कहा गया है। मुख्य-अर्थ से सम्बद्ध अर्थ लक्षणा-शक्ति द्वारा बोधित हो सकता है, असम्बद्ध अर्थ नहीं। असम्बद्ध अर्थ में यदि लक्षणा होने लगे तो किसी पद की कहीं भी लक्षणा होने लगेगी और कोई व्यवस्था न रहेगी। अतएव सम्बन्ध का होना आवश्यक है। लक्षणा का नियन्त्रण करने वाले ये सम्बन्ध मुख्यरूप से पाँच प्रकार के माने गये हैं:—

अभिधेयेन संयोगात् सामीप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता।।

इन पाँच प्रकार के सम्बन्धों में सादृश्य सम्बन्ध की गणना नहीं की गई है। इस कारण मीमांसक सादृश्यमूलक अन्यार्थप्रतीतिजनक "गौणी" वृत्ति को लक्षणा से पृथक् स्वीकार करते हैं। आलङ्कारिक इन पूर्वोक्त पाँचों सम्बन्धों को शुद्धा-लक्षणा का ही नियामक-सम्बन्ध मानकर सादृश्यमूलक-लक्षणा को 'गौणी-लक्षणा' नाम से लक्षणा का ही अवान्तर-भेद स्वीकार करते हैं।

लक्षणा के अवान्तर भेदों को करते हुये काव्यप्रकाशकार ने उसके दो मुख्य भेद स्वीकार किये हैं (१) उपादान लक्षणा (२) लक्षणलक्षणा। उन्होंने इन दोनों के लक्षण निम्नलिखित रूप में किये हैं:—

स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपदानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव साद्विधा।।(काव्य प्र० २।१०)

मुख्य-अर्थ जहाँ अपनी सिद्धि के लिये (अर्थात् अन्वयानुपपत्ति को दूर करने के लिये) किसी अन्य अर्थ का आक्षेप करा लिया करता है तथा उस आक्षिप्त अर्थ की सहायता से अपने अन्वय को उपपन्न करा दिया करता है उसको 'उपादानलक्षणा' नाम से अथवा 'अजहत्स्वार्था' नाम से कहा जाता है। जैसे—'श्वेतो धावति' इस उदाहरण में 'धावन-क्रिया' श्वेतगुण में न रहकर किसी द्रव्य में ही रह सकती है। श्वेत गुण के साथ धावन क्रिया का साक्षात् अन्वय बाधित है। अतएव मुख्य अर्थ के बाधित होने के कारण 'श्वेत' शब्द समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध 'अश्व' का आक्षेप करा लेता है। इस भाँति लक्षणा द्वारा 'अश्व' अर्थ के आ जाने पर 'श्वेतगुणवान् अश्वो धावति' यह अन्वय हो जाता है और इस प्रकार उसमें कोई अनुपपत्ति भी नहीं रहा करती है। ऐसा करने से 'श्वेत' पद की स्थिति तथा अर्थ भी बना रहता है। अतएव इसे 'उपादानलक्षणा' नाम से कहा जाता है। इसी प्रकार 'कुन्ताः प्रविशन्ति' उपादानलक्षणा के इस उदाहरण में भी अचेतन कुन्तों (भालों) में प्रवेश क्रिया का अन्वय अनुपपन्न है। अतएव 'कुन्त' शब्द कुन्त के साथ संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध 'कुन्तधारी पुरुष' का आक्षेप करा लेता है तथा उसकी सहायता से अन्वय भी उपपन्न हो जाता है।

'लक्षणलक्षणा' का उदाहरण है "गङ्गायां घोषः"। प्रस्तुत उदाहरण में जल प्रवाहरूप

गङ्गा के साथ आभीरपल्ली (घोसियों की बस्ती) का आधाराधेयभाव से अन्वय उपपन्न न होने पर 'घोष' पदार्थ की आधेयता की सिद्धि के निमित्त 'गङ्गा' शब्द स्वकीय अर्थ को समर्पित कर देता है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'गङ्गा' शब्द अपने अर्थ का त्यागकर 'तटरूप' अर्थ का बोध कराता है। इस भाँति 'गङ्गा' ने अपने अर्थ का त्यागकर सामीप्य सम्बन्ध से 'तटरूप' अर्थ का बोध्र कराता है। अतएव यह 'लक्षणलक्षणा' का उदाहरण हुआ। इसी को 'जहत्स्वार्था' भी कहा जाता है।

इन उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि लक्षणा के दो मुख्य भेदों में से "अजहत्स्वार्था" उपादानलक्षणा में शब्द अपने मुख्य अर्थ को छोड़ता नहीं है, उसके सामान्य-व्यापक अर्थ को लक्षणा किसी विशिष्ट अर्थ में सङ्क्रान्त करा देती है। इसी दृष्टि से उसे 'अजहत्स्वार्था' भी कहा जाता है। यही 'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि' का मूल है।

लक्षणा का दूसरा भेद है "लक्षणलक्षणा"। इसमें दूसरे की अन्वयसिद्धि के निमित्त एक शब्द अपने अर्थ का सर्वथा त्याग कर देता है। इसी कारण इसको "जहत्स्वार्था" भी कहा जाता है। मुख्य-अर्थ का अत्यन्त परित्याग ही उसका तिरस्कार है। अतएव "लक्षणलक्षणा" में वाच्य-अर्थ के अत्यन्त तिरस्कार (सर्वथा परित्याग) के कारण उसको 'जहत्स्वार्था' भी कहा जाता है। यही "अविवक्षितवाच्यध्वनि" के 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' भेद का मूल है।

इस भाँति "अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि" के नाम में णिजन्त सङ्क्रमित पद का प्रयोग व्यञ्जना की सहकारिणी लक्षणा के प्रभाव को ग्रन्थकार ने प्रदर्शित किया है। लोचनकार के कथन का यही तात्पर्य है।

अब ध्वन्यालोककार उपर्युक्त दोनों भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं:—

ध्वन्यालोकः

तत्रार्थान्तर सङ्क्रमितवाच्यो यथा–

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
बैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव।।

इत्यत्र रामशब्दः। अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम्।

१. अर्थान्तर सङ्क्रमितवाच्यध्वनि (का उदाहरण) जैसे—

स्निग्ध एवं श्यामल कान्ति से आकाश को व्याप्त करने वाले और (बलाका) वकपंक्ति जिनके समीप बिहार कर रही है, इस प्रकार के सघन मेघ (भले ही उमड़ें), शीकर अर्थात् छोटे-छोटे जलकणों से युक्त शीतल मन्द वायु (भले ही बहे) और मेघों के मित्र मयूरों की आनन्दभरी कूकें भी चाहे कितनी ही (श्रवणगोचर) हो रही हों, मैं तो कठोरहृदय राम हूँ। सब सहन कर लूँगा। किन्तु (अति सुकुमारी, कोमलहृदया, वियोगिनी) वैदेही (सीता) की क्या दशा होगी? हा देवि! तुम धैर्य धारण किये रहना।

अर्थात् इस प्रकार 'राम' शब्द द्वारा व्यंजित होते हुये दूसरे धर्म से परिणत व्यक्ति प्रतीत कराया जाता है, केवल व्यक्ति नहीं।

यहाँ 'राम' शब्द (अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य) है। इससे केवल संज्ञिमात्र राम का बोध नहीं होता है, अपितु व्यङ्ग्यधर्मविशिष्ट (अत्यधिक दुःखसहिष्णुरूप संज्ञी) राम का बोध होता है।

लोचनम्

भेदप्रतिपादकेनैवान्वर्थनाम्ना लक्षणमपि सिद्धमित्यभिप्रायेणोदाहरणमेवाह– अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथेति। अत्र श्लोके रामशब्द इति सङ्गतिः। स्निग्धया जलसम्बन्धसरसया श्यामलया द्रविडवनितोचितासितवर्णया कान्त्या चाकचक्येन लिप्तमाच्छुरितं वियन्नभो यैः। वेल्लन्त्यो विजृम्भमाणास्तथा चलन्त्यः परभागवशात् त्प्रहर्षवशाच्च बलाकाः सितपक्षिविशेषा येषु त एवंविधा मेघाः। एवं नभस्तावद् दुरालोकं वर्तते। दिशोऽपि दुःसहाः। यतः सूक्ष्मजलकणोद्गारिणो वाता इति मन्द-मन्दत्व मेषामनियतदिगागमनं च बहुवचनेन सूचितम्। तर्हि गुहासु क्वचित्प्रविश्या-स्यतामित्यत आह–पयोदानां ये सुहृदस्तेषु च सत्सु ये शोभनहृदया मयूरास्तेषामानन्देन हर्षेण कलाः षड्जसंवादिन्यो मधुराः केकाः शब्दविशेषाः ताश्च सर्वं पयोद्वृतान्तं दुस्सहं स्मारयन्ति; स्वयं च दुस्सहा इति भावः। एवमुद्दीपनविभावोद्बोधितविप्रलम्भः परस्पराधिष्ठानत्वाद्रतेः विभावानां साधारणतामभिमन्यमानः इत एव प्रभृति प्रियतमां हृदये निधायैव स्वात्मवृत्तान्तं तावदाह कामं सन्त्विति। दृढमिति सातिशयम्। कठोर-हृदय इति। रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयपदम्। यथा 'तद्गेहम्' इत्युक्तेऽपि 'नतभिति' इति। अन्यथा रामपदं दशरथकुलोद्भवत्वकौसल्यास्नेहपात्रत्व-बाल्यचरितजानकीलाभादिधर्मान्तरपरिणतमर्थं कथं न ध्वनेदिति। अस्मीति। स एवाहं भवामीत्यर्थः। भविष्यतीति क्रियासामान्यम्। तेन किं करिष्यतीत्यर्थः। अथ च भवन-मेवास्या असम्भाव्यमिति। उक्त प्रकारेण हृदयनिहितां प्रियां स्मरणशब्दविकल्पपर-म्परया प्रत्यक्षीभावितां हृदयस्फोटनोन्मुखीं ससंभ्रममाह–हहा हेति। देवीति। युक्तं तव धैर्यमित्यर्थः। अनेनेति रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः। व्यङ्ग्यं धर्मान्तरं प्रयोज-नरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसङ्ख्येयम्। तच्चासङ्ख्यत्वादभिधाव्यापारेणाशक्यसमर्पणम्। क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्न चित्रचर्वणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत्। प्रतीयमानं तु तदसङ्ख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूप न सहत इति चित्रपान-करसापूपगुडमोदकस्थानीय विचित्रचर्वणापदं भवति यथोक्तम्–'उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्' इति। एष एव सर्वत्र प्रयोजनस्य प्रतीयमानत्वेनोत्कर्षहेतुर्मन्तव्यः।

भेद का प्रतिपादन करने वाले यथार्थ नाम से लक्षण भी सिद्ध हो गया है, इस अभिप्राय से उदाहरण को ही कहते हैं—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यं, जैसे—इस श्लोक में 'राम' शब्द है, यह सङ्गति है। स्निग्ध अर्थात् जल के सम्बन्ध के कारण सरस, श्यामल अर्थात् द्रविड देश

की स्त्रियों के समान वर्ग वाली कान्ति अर्थात् चाकचिक्य या चकमक उससे लिप्त अर्थात् आच्छुरित अकाश है जिस मेघों से। बेल्लित होती हुई अर्थात् विजृम्भमाण तथा परभाग के कारण (मेघों के श्यामवर्ण होने तथा अपने सित वर्ण होने के कारण) और प्रहर्ष के कारण चलती हुई बलाकायें अर्थात् उज्ज्वल पांखों वाली वकपंक्तियाँ जिनमें हैं वे, इस प्रकार के मेघ। इस प्रकार आकाश बिल्कुल दिखलाई नहीं देता है और दिशायें भी दु:सह हो रही हैं। क्योंकि जब जल में फुहारों को फैलानेवाले वायु हैं, यह कहकर उनका मन्दमन्द तथा अनियत दिशा से आगमन को 'बहुवचन' द्वारा सूचित किया। ऐसी स्थिति में कहीं कन्दराओं में प्रवेश कर बैठना चाहिये, इस कारण से कहते हैं—मेघों के जो मित्र हैं, उनके विद्यमान होने पर जो शोभन हृदय से युक्त मयूर हैं उनके आनन्द अथवा हर्ष से षड्जकायें स्वर से मेल खाती हुई अव्यक्तमधुर के मांस (शब्दविशेष), वे मेघ के सम्पूर्ण दु:सह वृत्तान्त को स्मरण दिलाती हैं और स्वयं दु:सह हैं, यह भाव है। इस भाँति उद्दीपन विभाव के कारण विप्रलम्भ के उद्बोधित हो जाने पर एक-दूसरे नायक-नायिका में अधिष्ठित रति के होने से विभावों के साधारण्य को मानते हुये (नायक) यहाँ से ही लेकर प्रियतमा को हृदय में रखकर ही अपना वृत्तान्त कहता है—जो चाहे हो—। दृढ़ अर्थात् बहुत कुछ। कठोर हृदय वाला—। 'राम' शब्द के अर्थ को ध्वनि विशेष के अवकाश देने के लिये 'कठोर-हृदय' पद को रखा है। जैसे-'तद्गेहम्' यह कहकर भी 'नतभित्ति' कहा है। अन्यथा 'राम' पद दशरथ के कुल में उत्पन्न होना, कौसल्या के स्नेह का पात्र होना, बाल्यचरित तथा जानकी लाभ आदि धर्मान्तर में परिणत अर्थ को कैसे ध्वनित नहीं करता। 'हूँ' अर्थात् वही मैं हूँ। 'होगी' यह क्रिया सामान्य है। इससे अर्थ है कि फिर क्या करेगी? और फिर इस प्रकार की दशा में उसका होना (अस्तित्व) ही असम्भव हो जायगा। कहे प्रकार के अनुसार (मेघ आदि उद्दीपकों का प्रियतमा के पास भी होने का) स्मरण, ('वैदेही' यह) यह शब्द और कैसे होगी? यह विकल्प अथवा 'वितर्क' इन सभी की परम्परा से प्रत्यक्ष हुई एवं हृदय के स्फोटनार्थ उन्मुख प्रियतमा के सम्भ्रम सहित कहते हैं—हा हा देवि—। अर्थात् तुम्हें धैर्य धारण करना ठीक है—। भाव यह है कि जिसका अर्थ उपयोग में नहीं आ रहा है ऐसे 'राम' शब्द से। व्यङ्ग्य धर्मान्तर अर्थात् राज्य से निर्वासन आदि आदि असंख्येय प्रयोजन रूप धर्मान्तर और यह असंख्य होने के कारण अभिधा व्यापार द्वारा समर्पित (अवगत) होना सम्भव नहीं। क्रम के अर्प्यमाण (अवगत) होने पर भी, एक बुद्धि की विषयता के अभाव में चित्र (विलक्षण) चर्वणा के स्थान (विषय) को नहीं पहुँच सकता, ऐसी स्थिति में अतिशय चारुत्व को नहीं करता है। परन्तु वह असंख्य प्रतीयमान अनुद्भिन्न होने की विशेषता के कारण ही क्या-क्या रूप नहीं सहन (धारण) करता? इस भाँति वह चित्रपानकरस, अपूप, गुड़ तथा मोदक की भाँति विचित्र चर्वणा का पद (अधिष्ठान) होता है। जैसा कि कहा है—दूसरी उक्ति से अशक्य जिस चारुत्व को.—। प्रयोजन के प्रतीयमान होने के कारण उत्कर्ष का हेतु इसे (अर्थात् विचित्र चर्वणा विषयत्व) ही मानना चाहिये।

मंजूआशुबोधिनी

अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि (का प्रथम उदाहरण) जैसे—**''स्निग्धश्या-**

मलकान्ति......'' इत्यादि श्लोक अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि का पहला उदाहरण है। इस श्लोक का कथन करने वाले ''राम'' हैं। यदि ''रामोऽस्मि'' के स्थान पर मात्र ''अस्मि'' का ही कथन किया गया होता तो भी 'अहम्' पद की प्रतीति से ही 'राम' का बोध किया जा सकता था। अतएव प्रकृति में 'राम' शब्द का प्रयोग यह बतलाता है कि इस स्थल पर 'राम' शब्द कुछ विशिष्ट अर्थ का बोधक है। यह विशिष्ट अर्थ ही मुख्य अर्थ है। इस मुख्य अर्थ का बोध लक्षणा द्वारा ही होगा। 'राम' पद अपने अर्थ का त्याग न कर ''अजहत्स्वार्था'' उपादान लक्षणा द्वारा अत्यधिक दुःखसहिष्णुत्वविशिष्ट-राम का बोध कराता है। ''रामोऽस्मि'' ''मैं राम हूँ'' का अर्थ होगा—पिता (दशरथ) के अत्यन्त वियोग, राज्य का त्याग, वनवास, जटाचीरधारण और स्त्री (सीता) का हरण किया जाना इत्यादि अनेक कष्टों अथवा दुःखों का सहन करने वाला अत्यन्त कठोर हृदय ''मैं राम हूँ'', अतएव मैं सभी कुछ सहन कर सकूँगा। यही लक्ष्यार्थ है। इस स्थल पर ''दृढं कठोरहृदयः'' यह पद उक्त लक्ष्यार्थ की प्रतीति में विशेष रूप से सहायक है तथा राम पद अत्यधिक दुःख सहन करने रूप विशिष्ट अर्थ से युक्त राम का बोधक है। इस प्रकार यह ''अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि'' का उदाहरण होता है। इन्हीं दुःख सहिष्णुत्व आदि धर्मों का अतिशय व्यङ्ग्य है।

उक्त पद्य ''अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि'' के उदाहरण के रूप में ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किया है। 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' का उदाहरण वे आगे प्रस्तुत करेंगे। किन्तु उक्त पद्य 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' का उदाहरण भी बन जाता है। क्योंकि आकाश तो निराकार है, अतएव उसका 'लेपन' किया जाना संभव नहीं है। अतः यहाँ 'लिप्त' शब्द अपने मुख्य अर्थ का सर्वथा त्यागकर ''व्याप्त'' अर्थ का बोध कराता है। इसी प्रकार ''पयोदसुहृदाम्'' में भी सौहार्द किसी चेतन व्यक्ति का ही धर्म कहा जा सकता है। अतएव उसका पयोद (मेघ) में हो सकना संभव नहीं है। इस कारण 'सुहृद्' पद (शब्द) अपने मुख्य अर्थ का त्यागकर लक्षणलक्षणा द्वारा 'आनन्ददायक' अर्थ का बोध कराता है। इस भाँति ये दोनों पद 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' के उदाहरण भी कहे जा सकते हैं। किन्तु ग्रन्थकार ने 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' का उदाहरण आगे प्रस्तुत किया जाना ही उचित समझा होगा। अतएव वे इसका उदाहरण आगे प्रस्तुत करेंगे।

अभी तो वे 'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि' का ही एक अन्य उदाहरण स्वरचित 'विषमवाणलीला' नामक काव्य से प्रस्तुत कर रहे हैं:—

ध्वन्यालोक

यथा च ममैव ''विषमबाणलीलायाम्'':-

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिँ धेप्पन्ति।
रइकिरणानुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ।।
(तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि।।) (इति छाया।।)

इत्यत्र द्वितीयः कमलशब्दः।

और जैसे मेरे ही विषमबाणलीला (नामक काव्य) में— गुण तभी गुण हुआ करते हैं जब सहृदय उनको ग्रहण किया करते हैं; सूर्य की किरण समूह से अनुगृहीत कमल ही कमल हुआ करते हैं।

यहाँ द्वितीय 'कमल' शब्द (पद) (अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य) है।

लोचनम्

मात्रग्रहणेन संज्ञी मात्र तिरस्कृत इत्याह–यथा चेत्यादि। ताला तदा। जाला यदा। घेप्पन्ति गृह्यन्ते। अर्थान्तरन्यासमाह–रविकिरणेति। कमलशब्द इति। लक्ष्मी-पात्रत्वादिधर्मान्तरशतचित्रतापपरिणतं संज्ञिनमाहेत्यर्थः। तेन शुद्धेऽर्थे मुख्ये बाधानि-मित्तं तत्रार्थे तद्धर्मसमवायः। तेन निमित्तेन रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति। व्यङ्ग्यान्यसाधारणान्यशब्दवाच्यानि धर्मान्तराणि। एवं कमलशब्दः। गुणशब्दस्तु संज्ञिमात्रमाहेति। तत्र यद्बलात्कैश्चिदारोपितं तदप्रातीतिकम्। अनुपयोगबाधितो ह्यर्थोऽ-स्य ध्वनेर्विषयो लक्षणा मूलं ह्यस्य।

(स्निग्धश्यामल......आदि उदाहरण में—) मात्र ग्रहण से कहते हैं कि संज्ञी (राम) यहाँ तिरस्कृत नहीं हैं। और जैसे—। ताला–तब। जाला–जब। घेप्पन्ति–ग्रहण किया जाते हैं (सामान्य के समर्थन रूप) अर्थान्तरन्यास को कहते हैं—सूर्य की किरणों से—। 'कमल' शब्द—। अर्थात् लक्ष्मी अथवा शोभा का पात्रत्व—आश्रय होना आदि धर्मान्तरों की सैकड़ों विचित्रताओं में परिणत संज्ञावान् (कमल) को कहता है। अतएव शुद्ध मुख्य अर्थ में बाधा का कारण उस अर्थ में (अर्थात् 'राम') पद के मुख्यार्थ के धर्मी 'राम' में उन धर्मों का समवाय (सम्बन्ध) है। उस निमित्त से 'राम' शब्द धर्मान्तर में परिणत अर्थ को लक्षित करता है। असाधारण एवं अशब्दवाच्य धर्मान्तर (निर्वेद, ग्लानि आदि)—व्यङ्ग्य हैं। इसी प्रकार 'कमल' शब्द है। (दूसरे श्लोक में) गुण शब्द केवल संज्ञी को अभिहित करता है। उक्त उदाहरणों में जो बलपूर्वक कुछ लोगों ने आरोप करके कहा है, वह प्रतीतिसिद्ध नहीं। क्योंकि अनुपयोग रूप बाधा के कारण अर्थ रस ध्वनि का विषय होता है, उसका मूल लक्षणा है।

मंजूआशुबोधिनी

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में 'राम' तथा 'कमल' शब्द उपयुक्त न होने के कारण बाधितार्थ होकर लक्षणा के द्वारा दूसरे धर्म में परिणत अर्थ को लक्षित करते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यञ्जित होते होते सभी धर्मान्तरों को लक्षणा शक्ति द्वारा ही प्रतीत किया जाय क्योंकि कुछ व्यक्तियों ने हठात् लक्षणा द्वारा ही प्रतीत करने का प्रयास किया था जो कि सहृदयजनों की प्रतीति के विरुद्ध है। इसका कारण यह है कि लक्षणा द्वारा एक ही धर्म से अन्वित की प्रतीति की जा सकती है क्योंकि लक्षणा की इसी अंश में सार्थकता है कि वह शब्द के 'अनुपयोग' को दूर कर दें तथा उपयुक्त अर्थ को प्रस्तुत कर दें। किन्तु लक्षणा द्वारा उपयुक्त अर्थ की प्रतीति हो जाने के बाद भी जब अनेक धर्मान्तरों की प्रतीति होने लगा करती है तब उनको भी विरत व्यापार लक्षणा का विषय किसी भी भाँति नहीं माना जा सकता है। अतएव यहाँ अनेक धर्मान्तरों को प्रस्तुत अविवक्षितवाच्यध्वनि का विषय स्वीकार करते हैं जिसका मूल लक्षणा है। इस भाँति लक्षणा यहाँ सहकारिणी शक्ति है।

(ताला जाअन्ति... इत्यादि) द्वितीय उदाहरण में दूसरा कमल शब्द लक्षणा शक्ति द्वारा लक्ष्मीभाजनत्वादिधर्मविशिष्ट कमल का बोधक होने से 'अर्थान्तरसङ्क्रमित' है तथा चारुत्व का अतिशय 'व्यङ्ग्य' है। इसी भाँति प्रस्तुत श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'गुण' शब्द की भी आवृत्ति स्वीकार कर गुण तभी गुण हुआ करते हैं जब सहृदयों द्वारा उनका ग्रहण किया जाया करता है। इस प्रकार का अर्थ करना चाहिये। ऐसी स्थिति में दूसरा 'गुण' शब्द उत्कृष्टत्वादि-धर्मविशिष्ट गुण का बोधक होने से 'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य' ही हो सकेगा तथा उस उत्कर्ष का अतिशय 'व्यंङ्ग्य' होगा।

इस भाँति उपर्युक्त दोनों उदाहरण "अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि" के उदाहरण हैं।

लोचनम्

यत्तु हृदयदर्पण उक्तम्–'हहा हेति संरम्भार्थोऽयं चमत्कारः इति। तत्रापि संरम्भः आवेगो विप्रलम्भव्यभिचारीति रसध्वनिस्तावदुपगतः। न च रामशब्दाभिव्य-क्तार्थसाहायकेन विना संरम्भोल्लासोऽपि। अहं सहे तस्याः किं वर्त्तत इत्येवमात्मा हि संरम्भः। कमलपदे च कः संरम्भ इत्यास्तां तावत्। अनुपयोगात्मिका च मुख्यार्थ-बाधात्रास्तीति लक्षणामूलत्वादविवक्षितवाच्यभेदतास्योपपन्नैव, शुद्धार्थस्याविवक्ष-णात्।'

अर्थात्—जो कि 'हृदयदर्पण' में कहा है—"हहा हा"—यह 'संरम्भ' के अर्थ में यह चमत्कार व्यक्त किया है। वहाँ भी संरम्भ अथवा आवेग विप्रलम्भ का व्यभिचारी है, इस भाँति 'रसध्वनि' को माना है। राम शब्द से अभिव्यक्त होने वाले अर्थों की सहायता के बिना संरम्भ का उल्लास भी नहीं होगा। मैं तो सह लेता हूँ किन्तु उसका क्या होगा?' इस प्रकार का संरम्भ है। 'कमल' पद में कौन संरम्भ है? अत: इसे रहने दीजिये। अनुपयोगरूप मुख्यार्थ बाधा यहाँ है, अतएव लक्षणामूल होने के कारण इसका अविवक्षितवाच्य ध्वनि का भेद होना उपपन्न ही है क्योंकि शुद्ध (मुख्य-अर्थ) की विवक्षा यहाँ नहीं है।

मंजूआशुबोधिनी

हृदयदर्पण में कथित 'हहा हा' इस चमत्कार के प्रयोग से संरम्भ अथवा आवेग व्यक्त होता है। सम्बन्धित श्लोक का यही विशेष लक्ष्य है। हृदयदर्पण में भी यही बात कही गयी है। इस कथन का यह अभिप्राय है कि जो यहाँ 'राम' शब्द की व्यञ्जकता कही गई है वह अनावश्यक है। इस कथन के बारे में लोचनकार का यह कहना है कि जो यहां संरम्भ अथवा आवेग का आप अनुभव करते हैं वह भी तो विप्रलम्भ-शृंगार का व्यभिचारी है। ऐसी दशा में आप स्वयं 'रसध्वनि' को स्वीकार कर रहे हैं। साथ ही यह संरम्भ भी 'राम' शब्द से अभिव्यक्त होने वाले अर्थों की सहायता के बिना उल्लसित नहीं होगा। क्योंकि 'राम' में आवेग तभी आ सकेगा कि जब वह स्वयं की समर्थता का तथा सीता की असमर्थता का अनुभव करेंगे। अतएव 'राम' पद की व्यञ्जना यह 'संरम्भ' के उल्लास की सहायिका है। यदि यह मान भी लिया जाय कि यह इस स्थल पर 'संरम्भ' है तो फिर दूसरे उदाहरण के 'कमल' शब्द में कौन-सा 'संरम्भ' है? अन्ततोगत्वा यह स्वीकार करना ही होगा कि प्रस्तुत उदाहरणों में अनुपयोगात्मक

मुख्यार्थ—बाधा है। अतः लक्षणा मूलक अविवक्षितवाच्य ध्वनि का यह 'अर्थान्त-रसङ्क्रमितवाच्य' रूप एक भेद है। यहाँ 'राम' तथा 'कमल' शब्दों के शुद्ध अथवा वाच्य अर्थ की विवक्षा ही नहीं है।

ध्वन्यालोकः

२. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के दो उदाहरण—

प्रथम उदाहरण—

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो यथादिकवेर्वाल्मीकेः–

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चिन्द्रमा न प्रकाशते ॥इति॥

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य, जैसे आदि कवि वाल्मीकी का—(पंचवटी के हेमन्तवर्णन के प्रसङ्ग में राम द्वारा कथित यह श्लोक—)

(हेमन्तऋतु में चन्द्रमा के सदृश सूर्य के अनुष्ण तथा आह्लादप्रद हो जाने से—) जिस चन्द्रमा की शोभा सूर्य में सङ्क्रान्त हो गयी है (अथवा सूर्य से ही प्रकाश को प्राप्त करने वाला) तुषार से आच्छादित मण्डलवाला चन्द्रमा निश्वासवायु से मलिन दर्पण के सदृश होकर प्रकाशित नहीं हो रहा है।

इस स्थल पर अन्ध शब्द (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) है।

द्वितीय उदाहरण—

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइँ अ बणाइँ।

णिरहङ्कारमिअंका हरंति नीलाओ वि णिसाओ।।

(गगनं च मत्तमेघं धारालूलितार्जुनानि च बनानि।

निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः।। इति छाया)

अत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दौ।।१।।

(अर्थात् केवल ताराओं से परिपूर्ण निर्मल आकाश ही नहीं, अपितु) मदमाते उमड़ते मेघों से आच्छादित आकाश (भी, केवल मन्दगति से प्रवाहित वायु से आन्दोलित आम के वन ही नहीं अपितु वर्षा की) धाराओं से आन्दोलित अर्जुन (वृक्षों के) वन (तथा केवल उज्ज्वल चन्द्रमा की किरणों से धवलित चाँदनी रातें ही मन को लुभाने वाली नहीं हुआ करती हैं अपितु सौन्दर्य से रहित) गर्वरहित चन्द्रमा वाली वर्षा ऋतु की (अन्धकारपूर्ण) काली रातें भी मन को हरण करने वाली हुआ करती हैं।

यहां मत्त और निरहङ्कार शब्द (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) हैं॥१॥

लोचनम्

न च तिरस्कृतत्वं धर्मिरूपेण, तस्यापि तावत्यनुगमात्। अतएव च परिणतवाचोयुक्त्या व्यवहृतम्–आदिकवेरिति। ध्वनेर्लक्ष्यप्रसिद्धतामाह–रवीति। हेमन्तवर्णने पञ्चवट्यां रामस्योक्तिरियम्। अन्ध इति चोपहतदृष्टिः। जात्यन्धस्यापि गर्भे

दृष्ट्युपघातात्। अन्धोऽयं पुरोऽपि न पश्यतीत्यत्र तिरस्कारोऽन्धार्थस्य न त्वत्यन्तम्। इह त्वादर्शस्यान्धत्वमारोप्यमाणमपि न सह्यमिति। अन्धशब्दोऽत्र पदार्थस्फुटिकरणाशक्तत्वं नष्टदृष्टिगतं निमित्तीकृत्यादर्शं लक्षणया प्रतिपादयति। असाधारणविच्छायत्वानुपयोगित्वादिधर्मजातमसंख्यं प्रयोजनं व्यनक्ति। भट्टनायकेन तु यदुक्तम्- 'इवशब्दयोगाद् गौणताप्यत्र न काचित्' इति, तच्छ्लोकार्थमपरामृश्य। आदर्शचन्द्रमसोर्हि सादृश्यमिवशब्दो द्योतयति। निःश्वासान्ध इति चादर्शविशेषणम्। इवशब्दस्यान्धार्थेन योजने आदर्शश्चन्द्रमा इत्युदाहरणं भवेत्। योजनं चैतदिवशब्दस्य क्लिष्टम्। न च निःश्वासेनान्ध इवादर्शः स इव चन्द्र इति कल्पना युक्ता। जैमिनीयसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम्। गअणमिति।

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः।।

इति च्छाया। च शब्दोऽपिशब्दार्थे। गगनं मत्तमेघमपि न केवलं तारकितम्। धारालुलितार्जुनवृक्षाण्यपि वनानि न केवलं मलयमारुतान्दोलित सहकाराणि। निरहङ्कारमृगाङ्का नीला अपि निशा न केवलं सितकरकरधवलिताः। हरन्ति उत्सुकयन्तीत्यर्थः। मत्तशब्देन सर्वथैवेहासम्भवत्स्वार्थेन वाधितमद्योपयोगक्षीवात्मकमुख्यार्थेन सादृश्यान्मेघलूँलक्षयताऽसमञ्जसकारित्वदुर्निवारत्वादिधर्मसहस्रं ध्वन्यते। निरहङ्कारशब्देनापि चन्द्रं लक्षयता तत्पारतन्त्र्यविच्छायत्वोज्जिगमिषारूपजिगीषात्यागप्रभृतिः।।१।।

अर्थात् अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि में धर्मी (व्यक्ति) रूप से तिरस्कार नहीं है क्योंकि उस धर्मी (व्यक्ति) का भी अनुगम (ज्ञान) होता है। अतएव 'परिणत' इस वाचोयुक्ति से व्यवहार किया है।

आदि कवि—। 'ध्वनि' की लक्ष्य में प्रसिद्धि को कहते हैं—सूर्य—। हेमन्तवर्णन के प्रसङ्ग में पञ्चवटी में राम की यह उक्ति है। 'अन्ध' अर्थात् जिसकी दृष्टि नष्ट हो गयी हो क्योंकि जो जात्यन्ध होता है, उसकी भी दृष्टि का गर्भ में उपघात (नाश) हो जाता है। 'यह अन्धा आगे भी नहीं देखता है' इस कथन में 'अन्ध' शब्द से अर्थ का तिरस्कार है, किन्तु अत्यन्तरूप से (तिरस्कार) नहीं है। किन्तु यहाँ दर्पण का अन्धत्व आरोप्यमाण होकर भी सह्य नहीं। यहाँ 'अन्ध' शब्द नष्ट दृष्टि पुरुष में रहने वाले किसी पदार्थ के स्फुटीकरण में अशक्यरूप धर्म को निमित्त करके, आदर्श की लक्षणा से प्रतिपादन करता है; इस प्रकार असाधारण छायाहीनत्व तथा अनुपयोगित्व आदि असङ्ख्य धर्मसमूह रूप प्रयोजन को (वह) व्यक्त करता है। किन्तु भट्टनायक ने जो कहा है—'इव' शब्द के योग के कारण गौणता (गौणी लक्षणा) भी यहाँ सम्भव नहीं है, वह श्लोकार्थ को विचार करके नहीं (कहा) है। आदर्श (दपर्ण) और चन्द्रमा इन दोनों का सादृश्य 'इव' शब्द द्योतित करता है और 'निःश्वासान्ध' यह आदर्श (दर्पण-आइना) का विशेषण है। 'इव' शब्द को 'अन्ध' अर्थ के साथ जोड़ने में 'आदर्शरूप चन्द्रमा' यह उदाहरण होगा। लेकिन 'इव' शब्द की यह योजना क्लिष्ट है। 'विश्वास से अन्ध के समान

आदर्श और उसके सदृश चन्द्रमा' यह कल्पना भी ठीक नहीं। 'जैमिनीयसूत्र' में इस प्रकार योजना होती है, न कि काव्य में भी—। अलम्। आकाश—। और (च) शब्द 'भी' (अपि) शब्द के अर्थ में है। मतवाले मेघों वाला भी आकाश, न केवल तारों भरा। धारावृष्टि से कम्पित अर्जुनवृक्षों वाले वन, न केवल मलयवायु से कम्पित सहकार वृक्षों वाले। अहङ्कारहीन चन्द्रमावाली काली भी रातें, न केवल चन्द्रमा की किरणों से धवलित। हर लेती हैं—अर्थात् उत्सुक करती हैं। यहाँ मत्त शब्द, जिसका अर्थ सर्वथा ही सम्भव नहीं हो रहा है तथा जिसका मुख्य अर्थ मद्य (मदिरा-शराब) के उपयोग से क्षीब (पागल) रूप होने के कारण बाधित है, सादृश्य सम्बन्ध से मेघों को लक्षित कर रहा है, जिससे असमञ्जसकारित्व दुर्निवारत्व इत्यादि सहस्रों धर्म ध्वनित होते हैं। चन्द्रमा को लक्षित करता हुआ 'निरहङ्कार' शब्द भी उसमें परतन्त्रता, छायाहीनता, उदय लेने की अभिलाषा रूप जिगमिषा का त्याग आदि को ध्वनित करता है॥१॥

मंजूआशुबोधिनी

अब अविवक्षितवाच्यध्वनि के दूसरे भेद (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि) के भी दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रथम उदाहरण "**रविसङ्क्रान्तसौभाग्य.....**" इत्यादि श्लोक आदि कवि वाल्मीकि द्वारा लिखित हैं। पञ्चवटी में हेमन्तवर्णन के प्रसंग में राम द्वारा कथित यह श्लोक है:—

"(हेमन्तऋतु में सूर्य चन्द्रमा के सदृश अनुष्ण तथा आह्लाददायक हो गया है।) जिस चन्द्र की शोभा सूर्य में सङ्क्रान्त हो चुकी है (अथवा जो चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश को प्राप्त किया करता है) और तुषार से ढका हुआ मण्डलवाला जो चन्द्रमा निश्वासवायु से मलिन हुये दर्पण के सदृश होकर प्रकाशित नहीं हो पा रहा है।"

इस स्थल पर "अन्ध" शब्द 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' है। अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का यह अर्थ नहीं है कि धर्मी (व्यक्ति) का तिरस्कार होता है, अपितु लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थों के ज्ञान में धर्मी (व्यक्ति) का भी ज्ञान अनुप्रविष्ट हुआ करता है। अतएव तिरस्कार होना तो धर्म का ही अभीष्ट है, धर्मी का नहीं। इसी दृष्टि से आचार्य ने 'परिणत:' शब्द का प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मी (व्यक्ति) स्वयं स्थित रहते हुये अन्य अनेक व्यङ्ग्य धर्मान्तरों से परिणतरूप में प्रतीत हुआ करता है।

'अन्ध' शब्द नेत्ररहित होने का वाचक है। चन्द्रमा में नेत्रहीनस्वरूप अन्धत्व अनुपपन्न है। अतएव 'अन्ध' शब्द अपने नेत्रविहीनत्व रूप अर्थ का सर्वथा परित्याग कर अप्रकाशरूप अर्थ को जहत्स्वार्था लक्षणलक्षणा द्वारा बोधित करता है तथा अप्रकाशातिशय व्यङ्ग्य होता है। 'अन्ध' शब्द अपने मुख्य-अर्थ का सर्वथा परित्यागकर अप्रकाशरूप अर्थ का बोधन करता है। अथएव 'अन्ध' शब्द का मुख्य-अर्थ इस स्थल पर पूर्णतया तिरस्कृत हो जाने से यह उदाहरण 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि' का माना गया है।

भट्टनायक द्वारा इस श्लोक की व्याख्या में 'इव' शब्द का यथाश्रुत अन्वय स्वीकार कर "इव शब्दयोगाद् गौणताप्यत्र न कांचित्" लिखकर 'अन्ध' पद में 'लक्षणा' मानने की

आवश्यकता को नहीं माना है। किन्तु उनके द्वारा की गई व्याख्या सङ्गत प्रतीत नहीं होती है। इस स्थल पर 'इव' शब्द चन्द्रमा और आदर्श के उपमानोपमेयभाव का बोधक है। 'निश्वासान्ध' यह पद 'आदर्श' का विशेषण है। ''निश्वासान्ध आदर्श इव चन्द्रमा न प्रकाशते'' इस प्रकार का अन्वय हो जाने से 'इव' पद भिन्नक्रय है। अतएव 'अन्ध' पद के स्वार्थ में बाधित होने से 'जहत्स्वार्था' लक्षणलक्षणा द्वारा अप्रकाशरूप अर्थ का बोधक स्वीकार करना ही होगा। फिर इस दिशा में 'अप्रकाशातिशय' को व्यञ्जना द्वारा बोधित कर लेने पर यह ''अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि'' का उदाहरण मानना ही उचित है।

द्वितीय उदाहरण में मत्त एवं निरहङ्कार शब्द ''अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य'' हैं। मद्य का प्रयोग करने से उत्पन्न हुई 'क्षीवता' 'मत्त' शब्द मुख्य-अर्थ है तथा सौन्दर्य आदि के कारण उत्पन्न 'दर्प' 'अहङ्कार' शब्द का मुख्य-अर्थ है। ये दोनों ही प्रकार के धर्म चेतन में ही रह सकते हैं, जड़ में नहीं। मेघ तो जड़ हैं, अतएव वह मत्त किस भाँति हो सकेगा तथा चन्द्रमा भी किस भाँति अहङ्कार कर सकेगा? अतएव इस स्थल पर वर्णित मेघ के साथ मत्तता का तथा चन्द्रमा के साथ अहङ्कारविहीन होने का जो सम्बन्ध वर्णन किया गया है, वह अनुपपन्न है। इस स्थिति में मुख्यार्थबाध के कारण प्रस्तुत्त 'मत्त' शब्द सादृश्यवश दुर्निवारत्व आदि का तथा निरहङ्कार शब्द विच्छायत्व आदि धर्मों को व्यक्त करता है। इस प्रकार यह द्वितीय उदाहरण भी मुख्य अर्थ का तिरस्कार किये जाने से 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' का उदाहरण है।

द्वितीय उद्योत के प्रारम्भ में ध्वनि के दो भेद किये गये थे (१) अविवक्षित-वाच्यध्वनि अथवा लक्षणामूलध्वनि तथा (२) विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि। इनमें से प्रथमभेद, अविवक्षित-वाच्य ध्वनि अथवा लक्षणामूलध्वनि के दोनों भवान्तरभेदों (अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) का वर्णन किया जा चुका है। अब ध्वनि के द्वितीय भेद विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के अवान्तर भेदों का वर्णन करेंगे।

ध्वन्यालोकः

असंलक्ष्यक्रमोद्द्योत; क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः।।२।।

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा। स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते। कश्चित्क्रमेणेति द्विधा मतः।।२।।

अर्थात् विवक्षितवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) असंलक्षित क्रम से और दूसरा संलक्षितक्रम से प्रकाशित (होने से) दो प्रकार का माना गया है।।२।।

प्रधानरूप से प्रकाशित होने वाला व्यङ्ग्य-अर्थ ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) है। वह (व्यङ्ग्य-अर्थ) कहीं वाच्यार्थ की अपेक्षा से अलक्षित क्रम से प्रकाशित होता है और कहीं संलक्ष्य-क्रम से प्रकाशित हुआ करता है। इस भाँति वह दो प्रकार का माना गया है।।

लोचनम्

अविवक्षितवाच्यस्य प्रभिन्नत्वमिति यदुक्तं तत् कुतः? न हि स्वरूपादेवभेदो भवतीत्याशङ्क्य विवक्षितवाच्यादेवास्य भेदो भवति, विवक्षा तदभावयोर्विरोधादित्य-

भिप्रायेणाह–असंलक्ष्येति। सम्यङ् न लक्षयितुं शक्यः क्रमो यस्य तादृश उद्द्योत उद्द्योतनव्यापारोऽस्येति बहुव्रीहिः। ध्वनिशब्द सांनिध्याद्विवक्षिताभिधेयत्वेनान्यपरत्व-मत्राक्षिप्तमिति स्वकण्ठेन नोक्तम्। ध्वनेरिति। व्यङ्ग्यस्येत्यर्थः। आत्मेति। पूर्वश्लोकेन व्यङ्ग्यस्य वाच्यमुखेन भेद उक्तः। इदानीं तु द्योतनव्यापारमुखेन द्योत्यस्य स्वात्मनिष्ठ एवेत्यर्थः। व्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्द्योतने स्वात्मनि कः क्रम इत्याशङ्क्याह–वाच्यार्थापेक्षयेति। वाच्योऽर्थो विभावादिः।।

जो कि (आरम्भ के वृत्तिग्रन्थ में) 'अविवक्षितवाच्य का प्रभेद' यह कहा है, वह कैसे? क्योंकि स्वरूप से ही (स्वयं अपने से ही अपना) भेद नहीं हुआ करता है, इस प्रकार की आशङ्का करके इस अभिप्राय से, कि विवक्षितवाच्य से ही इस (अविवक्षितवाच्य) का भेद है, क्योंकि विवक्षा के भाव तथा अभाव दोनों का विरोध है, कहते हैं—असंलक्ष्य—सम्यक् प्रकार से लक्षित न किया जा सके क्रम जिसका उस प्रकार का उद्योत अर्थात् उद्योतनव्यापारवाला, यह 'बहुव्रीही' समास है। ध्वनिशब्द के सान्निध्य से, अभिधेय के विवक्षित होने के कारण 'अन्यपरत्व' आक्षेपतः यहाँ आ जाता है, अतः उसे कण्ठतः नहीं कहा है। ध्वनि का—। अर्थात् व्यङ्ग्य का। आत्मा—। पहले श्लोक से व्यङ्ग्य का वाच्य के प्रकार से भेद कहा है। किन्तु अब द्योतन-व्यापार के प्रकार से द्योत्य अर्थात् व्यङ्ग्य का स्वात्मनिष्ठ भेद ही कहते हैं, यह अर्थ है। व्यङ्ग्य ध्वनि के द्योतन में, स्वयं में कौन-सा क्रम है? यह आशङ्का करके कहते हैं—वाच्य अर्थ की अपेक्षा से। वाच्य अर्थ विभाव आदि।

मंजूआशुबोधिनी

विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि के अवान्तर भेद–विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के भी प्रमुखरूप से दो भेद होते हैं (१) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि और (२) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि—के विषय में कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख किया जाना आवश्यक है। ध्वन्यालोक की द्वितीय कारिका में विवक्षिताभिधेय और ध्वनि दोनों का समानाधिकरण्यरूप से प्रयोग किया गया है। वैसे तो 'अभिधेय' अभिधाशक्ति का विषय है और 'ध्वनि' व्यञ्जना शक्ति का। अतएव दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है किन्तु इस स्थल पर दोनों की समीपता और समानाधिकरण्य अभिधेय की अन्यपरता को व्यक्त करता है। इसके अनुसार विवक्षिताभिधेय का अर्थ विवक्षितान्य पर वाच्य किये जाने से ध्वनि के साथ उसका समानाधिकरण्य उपपन्न हो जाता है। प्रथम कारिका में अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि के 'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य' और 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' नामक दो भेद दिखलाये गये हैं। ये दोनों भेद वाच्यार्थ की प्रतीति के स्वरूपभेद की दृष्टि से दिखलाये गये हैं। और प्रस्तुत द्वितीय कारिका में विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के जो दो भेद (१) 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' तथा (२) 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नाम से किये गये हैं, ये दोनों भेद व्यञ्जनाव्यापार के स्वरूपभेद की दृष्टि से किये गये हैं।

रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलतारूप आस्वादप्रधान-ध्वनि को "असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि" नाम से कहा गया है। इसके अवान्तर

भेदों का यदि वर्णन किया जाय तो इसके अनन्त भेद ही जावेंगे। इस कारण इसके भेदों का वर्णन नहीं किया गया है तथा इसका एक भेद (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) ही स्वीकार किया गया है।

प्रधानरूप से प्रकाशित होने वाला व्यङ्ग्य ही ध्वनि का स्वरूप है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता हुआ करती है उसी को 'ध्वनि-काव्य' नाम से कहा जाया करता है। किन्तु जहाँ व्यङ्ग्य-अर्थ की प्रधानता नहीं हुआ करती है वहाँ उसे ध्वनि-काव्य भी नहीं माना जाया करता है। अतएव रस, भाव आदि व्यङ्ग्य होने पर भी अप्रधान होने की स्थिति में 'ध्वनि' नहीं कहे जाते हैं। केवल प्रधान होने की स्थिति में ही 'ध्वनि' कहलाते हैं। और जहाँ वे किसी अन्य अङ्गी के अङ्ग बन जाया करते हैं वहाँ पर उन्हें रसवदादि अलङ्कारों के नामों से ही कहा जाया करता है। इसी का प्रतिपादन अगली दो कारिकाओं में किया जायगा।

ध्वन्यालोकः

तत्र,

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।।३।।

रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनावभासते। स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा।।३।।

अर्थात् उनमें से रस, भाव, तदाभास (अर्थात् रसाभास तथा भावाभास) और भावशान्ति आदि (आदि शब्द से भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का भी ग्रहण हो जाता है) अक्रम (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) अङ्गीभाव (अर्थात् प्राधान्येन) प्रतीत होते हुये ध्वनि के आत्मा (स्वरूप) रूप से स्थित होते हैं।।३।।

रसादिरूप अर्थ वाच्य के साथ ही जैसा प्रतीत हुआ करता है। तथा वह प्रधानरूप से प्रतीत होने पर ध्वनि का आत्मा अर्थात् स्वरूप हुआ करता है।

लोचनम्

तत्रेति। तयोर्मध्यादित्यर्थः। यो रसादिरर्थः स एव अक्रमो ध्वनेरात्मा न त्वक्रम एव सः। क्रमत्वमपि हि तस्य कदाचिद्भवति। तदा चार्थशक्त्युद्भवानुस्वान-रूपभेदतेति वक्ष्यते। आत्मशब्दः स्वभाववचनः प्रकारमाह। तेन रसादिर्योऽर्थः स ध्वनेरक्रमो नाम भेदः। असंलक्ष्यक्रम इति यावत्। ननु किं सर्वदैव रसादिरर्थो ध्वनेः प्रकारः? नेत्याह; किं तु यदाङ्गित्वेन प्रधानत्वेनावभासमानः। एतच्च सामान्यलक्षणे गुणीकृतस्यार्थाविं-त्यत्र यद्यपि निरूपितम्, तथापि रसवदाद्यलङ्कारप्रकाशनावकाशदानायानूदितम्। स च रसादिर्ध्वनिर्व्यवस्थित एव; न हि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति। यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवति काव्यं, तथापि तस्य रसस्यैकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात्प्रयोजकी-भूतादधिकोऽसौ चमत्कारो भवति। तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति, तदा भावध्वनिः। यथाः–

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति

स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेतिकोऽयं विधिः।।

अत्र हि विप्रलम्भरस सद्भावेऽपीयति वितर्काख्यव्यभिचारिचमत्क्रियाप्रयुक्त आस्वादातिशयः।

वहाँ—। अर्थात् उन दोनों में से। जो रसादिरूप अर्थ है वही अक्रम होकर ध्वनि का आत्मा है, न कि वह अक्रम ही है, क्योंकि उसका कभी क्रमत्व भी होता है। तब अर्थरूप शक्ति से उत्पन्न अनुरणनरूप भेद होता है, यह कहेंगे। स्वभाव के अर्थ में आत्मा शब्द प्रकार बतलाता है। उससे रसादिरूप जो अर्थ है वह ध्वनि का अक्रम नामक भेद है, अर्थात् असंलक्ष्यक्रम है। यहाँ शङ्का है कि क्या रसादिअर्थ सदैव ही ध्वनि का प्रकार है। उत्तर में बतलाते हैं कि नहीं। किन्तु जब अङ्गी अथवा प्रधानरूप से प्रतीत होता है (तभी ध्वनि का प्रकार होगा) इस बात को यद्यपि (ध्वनि के) सामान्यलक्षण में "गुणीकृत्स्वार्थौ" इस स्थल पर निरूपण कर दिया है तथापि 'रसवत्' आदि अलङ्कारों के प्रकाशन का अवकाश देने के लिये अनुवाद किया है। वह रस आदि ध्वनि के रूप में व्यवस्थित ही है क्योंकि उससे शून्य (रहित) काव्य कोई चीज़ नहीं है। यद्यपि रस से ही सम्पूर्ण काव्य जीवित रहा करता है तथापि एकघन चमत्कार रूप भी उस रस के कहीं प्रयोजक अंश से अधिक चमत्कार होता है। यहाँ जब कोई व्यभिचारी भाव उद्रिक्त अथवा निष्पन्न अवस्था को प्राप्त करके अतिशय चमत्कार का प्रयोजक होता है तब भाव ध्वनि होता है। जैसे—

"वह उर्वशी भले ही कुछ क्रोध के कारण अन्तर्हित हो जाय पर वह अधिक क्रोधित नहीं होती है, भले ही वह स्वर्ग को चली गई हो, फिर भी उसका मन मेरे प्रति भावार्द्र है। मेरे समक्ष स्थित उसे असुर भी हरण नहीं कर सकते। वह नेत्रों का अत्यन्त अविषय हो गई है," यह कैसा प्रकार है?

इस स्थल पर विप्रलम्भ (शृंगार) रस के होने पर भी वितर्क नामक व्यभिचारी भाव के चमत्कार से प्रयुक्त अतिशय आस्वाद हो रहा है।

व्यभिचारिण उदयस्थित्यपायत्रिधर्मकाः। यदाह–

"विविधमाभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिणः" इति। तत्रोदयावस्थाप्रयुक्तः कदाचित्। यथाः–

याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया
निर्ध्यातं परिवर्त्तनं पुनरपि प्रारब्धुमङ्गीकृतम्।
भूयस्तत्प्रकृतं कृतं च शिथिलक्षिप्तैकदोर्लेखया
तन्वङ्ग्या न तु पारितः स्तनभरः क्रष्टुं प्रियस्योरसः।।

अत्र हि प्रणयकोपस्योज्झिगमिषयैव यदवस्थानं न तु पारित इत्युदयावकाश–निराकरणात्तदेवास्वादजोवितम्। स्थितिः पुनरुदाहृता–'तिष्ठेत्कोपवशात्' इत्यादिना। क्वचित्तु व्यभिचारिणः प्रशमावस्थया प्रयुक्तश्चमत्कारः। यथोदाहृतं प्राक् "एकस्मिन्

शयने पराङ्मुखतया'' इति। अयं तत्प्रशम इत्युक्तः। अत्र चेर्ष्याविप्रलम्भस्य रसस्यापि प्रशम इति शक्यं योजयितुम्। क्वचित्तु व्यभिचारिणः सन्धिरेव चर्वणास्पदम्। यथाः-

ओ सुरु सुन्धि आइं मुहु चुम्बिउ जेण।
अभि अरसघोण्टाणं पडिजाणिउ तेण।।

इत्यत्र श्रुत्युक्ते तु कोपे कोपकषायगद्गदमन्दरुदिताया येन मुखं चुम्बितं तेनामृतरसनिगरणविश्रान्ति परम्पराणां तृप्तिर्ज्ञातेति कोपप्रसादसन्धिश्चमत्कारस्थानम्। क्वचिद् व्यभिचार्यन्तरशबलतैव विश्रान्तिपदम्। यथा-

काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषः कृतधियः स्वप्नेऽपिसा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति।।

अत्र हि वितर्कौत्सुक्ये मतिस्मरणे शङ्कादैन्येधृतिचिन्तने परस्परं बाध्यबाधक-भावेन द्वन्द्वशो भवन्ती पर्यन्ते तु चिन्ताया एव प्रधानतां ददती परमास्वादस्थानम्। एवमन्यदप्युत्प्रेक्ष्यम्। एतानि चोदयसन्धिशबलत्वादिकानि कारिकायामादिग्रहणेन गृहीतानि।

व्यभिचारी भावों के तीन धर्म होते हैं—(१) उदय, (२) स्थिति, (३) अपाय। जो कि कहते हैं—''विविध प्रकार (अर्थात् तीन प्रकार से) अभिमुखरूप से चरण करते हैं, अतः व्यभिचारी कहलाते हैं।'' उनमें कभी उदयावस्था से प्रयुक्त व्यभिचारी भाव हुआ करता है, जैसे-(सेज, अर्थात् पलंग अथवा चारपाई) पर आई हुई दुर्बल अङ्गों वाली नायिका ने गोत्रविपर्यय अर्थात् प्रिय द्वारा दूसरी नायिका के नामोच्चारण कर दिये जाने पर सोचा कि करवट बदल लो। तदनन्तर करवट बदलना प्रारम्भ किया और फिर करवट बदलने का प्रयास किया। किन्तु एक हाथ को शिथिल करके पृथक हटाया। किन्तु वह प्रिय के वक्षस्थल से अपने स्तन के भार को खींच न सकी।

इस स्थल पर नायिका का प्रणय-कोप उदय लेना ही चाहता है, इस प्रकार की स्थिति को प्राप्त है। ''नहीं वह खींच पाई'' इस कथन के द्वारा उसके हृदय के अवकाश का निराकरण कर देने से यही (उदय लेने की स्थिति में अवस्थान) आस्वाद का प्राण है। 'स्थिति' का उदाहरण दिया जा चुका है—''तिष्ठेत् कोपवशात्०'' इत्यादि से। कहीं पर व्यभिचारी भाव की प्रशय अवस्था से प्रयुक्त चमत्कार होता है, जैसा कि पहले उदाहरण दिया जा चुका है ''एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया''। यह व्यभिचारी भाव का प्रशय कहा गया है। यहाँ ईर्ष्याविप्रलभ्य रस का प्रशय है, इस प्रकार की योजना की जा सकती है। कहीं पर तो व्यभिचारी भाव की सन्धि ही चर्वणा (आस्वाद) प्रतिष्ठान होती है। जैसे-

ईर्ष्याजनित आँसू से सुशोभित नायिका के मुख को जिसने चुम्बन किया है, उसने अमृत-रस के निगलने (रुक रुककर पीने) की तृप्ति को जान लिया?

इस स्थल पर 'ईर्ष्या' शब्द से अभिहित क्रोध में 'क्रोध' के मिश्रण से गद्गद एवं मंद

मंद रोती हुई नायिका के मुख का जिसने चुम्बन किया उसने अमृत-रस के निगलने की विश्रान्ति अर्थात् 'आनन्द की परम्पराओं की तृप्ति को जान लिया' इस भाँति क्रोध और प्रसाद की सन्धि चमत्कार का स्थान है।

कहीं पर व्यभिचारी भाव का एक-दूसरे व्यभिचारी भावों से मिल जाना (शबलता) ही विश्रान्ति (आनन्द) का पद (प्रतिष्ठान) होता है। जैसे–

(ब्राह्मण कन्या में यह आसक्ति रूप) अकार्य (गलत कार्य) कहाँ और चन्द्रमा का वंश कहाँ? काश, यह पुनः और भी दृष्टिगोचर हो जाती। मैने दोषों के दमन करने हेतु शास्त्र का अध्ययन किया है, अहो! उसका मुख क्रोध की अवस्था में भी सुन्दर लगता है, मलिनता से रहित एवं सुन्दर आचरण वाले लोग क्या कहेंगे? यह स्वप्न में भी दुर्लभ है; हे चित्त (मन) तू धैर्य धारण कर, कौन धन्य युवक होगा जो उसके अधर का पान करेगा?

इस स्थल पर वितर्क और औत्सुक्य, मति और स्मरण, शङ्का और दीनता, धृति और चिन्तन भाव परस्पर बाध्य-बाधक रूप में रहते हुये पर्यन्त में चिन्ता को प्रधान करते हुये परम आस्वाद के प्रतिष्ठान हैं। इसी भाँति अन्य की भी उत्प्रेक्षा (संभावना) कर लेनी चाहिये। ये उदय, सन्धि, शवलता आदि कारिका में 'आदि' शब्द से ग्रहण किये गये हैं।

नन्वेवं विभावानुभावमुखेनाप्यधिकश्चमत्कारो दृश्यत इति विभावध्वनिरनुभावध्वनिश्च वक्तव्यः। मैवम्; विभावानुभावौ तावत्स्वशब्दवाच्यावेव। तच्चर्वणापि चित्तवृत्तिष्वेव पर्यवस्यतीति रसभावेभ्यो नाधिकं चर्वणीयम्। यदा तु विभावानुभावावपि व्यङ्ग्यौ भवतस्तदा वस्तुध्वनिरपि किं न सह्यते। यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः। यथा रावणकाव्याकर्णने शृङ्गाराभासः। यद्यपि 'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यः' इति मुनिना निरूपितं तथाप्यौत्तर कालिकं तत्र हास्यरसत्वम्।

दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
चेतः कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना।

इत्यत्र तु न हास्यचर्वणावसरः। ननु नात्र रतिः स्थायिभावोऽस्ति। परस्परास्थाबन्धाभावात्। केनैतदुक्तं रतिरिति। रत्याभसो हि सः। अतश्चाभासता येनास्य सीता मय्युपेक्षिका द्विष्टा वेति प्रतिपत्तिर्हृदयं न स्पृशत्येव। तत्स्पर्शे हि तस्याप्यभिलाषो विलीयेत। न च मयीयमनुरक्तेत्यपि निश्चयेन कृतं कामकृतान्मोहात्। अत एव तदा– भासत्वं वस्तुतस्तत्र स्थाप्यते शुक्तौ रजतातिरमुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थः। अतएवाभिलाषे एकतरनिष्ठेऽपि शृङ्गारशब्देन तत्र तत्र व्यवहारस्तदाभासतया मन्तव्यः। शृङ्गारेण वीरादीनामप्याभासरूपतोपलक्षितैव। एवं रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दाः। आस्वादे प्रधानं प्रयोजकमेवमंशं विभज्य पृथग्व्यवस्थाप्यते। यथा गन्धयुक्तिज्ञैरेकरससन्मुर्च्छितामोदोपभोगेऽपि शुद्धमास्यादि प्रयुक्तमिदं सौरभमिति। रसध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदितस्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रतिपत्तुः स्थाय्यंशचर्वणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः यथाः–

कृच्छ्रेणोरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्या नितम्बस्थले
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निःष्पन्दतामागता।
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारूह्य तुङ्गौ स्तनौ
साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने।।

अत्र हि नायिकाकारानुवर्ण्यमानस्वात्मप्रतिकृतिपविचित्रितचित्रफलकावलोकनाद्वत्सराजस्य परस्परास्थाबन्धरूपो रतिस्थायिभावो विभावानुभावसंयोजनवशेन चर्वणारूढ इति। तदलं बहुना! स्थितमेतत्—रसादिरर्थोऽङ्गित्वेन भासमानोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकार इति। सहेवेति। इवशब्देनासंलक्ष्यता विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता। वाच्येनेति। विभावानुभावादिना।

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि इस भाँति विभाव, अनुभाव के प्रकार से भी अधिक चमत्कार देखा जाता है, ऐसी स्थिति में विभावध्वनि एवं अनुभावध्वनि का भी कथन करना चाहिये।

इस शङ्का का समाधान यह है कि ऐसा नहीं है, विभाव एवं अनुभाव तो अपने शब्द से ही वाच्य हुआ करते हैं, उनकी चर्वणा भी चित्तवृत्तियों में ही पर्यवसित होती है। अतएव रस तथा भावों से अधिक (दूसरा) चर्वणा के योग्य नहीं है। जब विभाव और अनुभाव व्यङ्ग्य होते हैं तब वस्तुध्वनि क्यों नहीं मान लेते हैं? जब विभावाभाव से रत्याभास का उदय होगा तब विभाव के भी साथ भासित होने के कारण चर्वणाभास होगा। इस भाँति रसाभास का विषय होगा। जैसे–रावणकाव्य का श्रवण करने में शृंगाराभास होगा। यद्यपि भरतमुनि ने निरूपण किया है कि 'जो शृंगार का अनुकरण हो उसे हास्य कहना चाहिये', तथापि हास्य रस की स्थिति (शृंगार) के उत्तरकाल में होती है।

"दूर ही से आकर्षण कर लेने वाले मोहमन्त्र की भाँति उसके नाम के कान में प्रवेश करते ही चित्त थोड़ी देर भी उसके बिना नहीं ठहर पाता है।"

इसमें हास्यरस की चर्वणा का अवसर नहीं है। जब कि 'रति' स्थायीभाव यहाँ नहीं है क्योंकि एक-दूसरे के प्रति (परस्पर) आस्था बन्ध का अभाव है फिर किसने कहा कि यह रति है? क्योंकि यह रत्याभास है। इस कारण से भी रति आभासता प्रगट होती है कि रावण के हृदय को यह ज्ञान छू तक नहीं सका है कि सीता मेरे प्रति उपेक्षा का भाव रखती है अथवा द्वेष का। यदि उसको इस प्रकार का ज्ञान रहा होता तो उसका अभिलाष विलीन हो गया होता। 'मुझ में यह अनुरक्त है' इस प्रकार का निश्चय भी नहीं है क्योंकि कामजनित मोह हो चुका है। अतएव रति की अभासता को वस्तुतः वहाँ स्थापित करते हैं, जैसे शुक्ति में रजत का आभास हुआ करता है। इसे 'शृंगार की अनुकृति' इस शब्द का प्रयोग करते हुये मुनि ने भी सूचित कर दिया है। अनुकृति, अमुख्यता तथा आभास एक ही अर्थ है। अतएव अभिलाष जब किसी एक (पक्ष) में ही रहे, तब 'शृंगार' शब्द से व्यवहार उसके आभास के रूप में मानना चाहिये। एक शृंगार के कथन करने से वीर आदि रसों की भी आभासरूपता उपलक्षित ही है। इस भाँति ये भावध्वनि इत्यादि रसध्वनि के ही निष्पन्द हैं। आस्वाद के इस प्रकार प्रधान अंश को विभक्त

करके पृथक व्यवस्थापित करते हैं। जिस भाँति गन्ध योजना की कला के जानकार लोग एक रस के आस्वाद से व्याप्त आमोद (गन्ध) के उपभोग में भी कहते हैं कि यह गन्ध शुद्ध मासी (एक प्रकार का गन्ध द्रव्य) आदि से तैयार है। रसध्वनि तो वही है जो यहाँ मुख्यरूप से विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव के संयोग से उत्पन्न स्थायीभाव की प्रतिपत्ति अथवा ज्ञान वाले ज्ञाता अथवा सहृदय का स्थायी के अंश की चर्वणा के कारण ही प्रकृष्ट आस्वाद है। जैसे—

"प्यासी हुई सी मेरी दृष्टि कठिनता से प्रिया के उरुयुगल को पारकर नितम्ब के स्थल में देर तक भ्रमणकर, इसके त्रिवली की तरङ्गों से विषम मध्य भाग में निश्चलभाव (निश्चलता) को प्राप्त कर गई, अब इन उन्नत स्तनों पर धीरे से चढ़कर हसरत के साथ अश्रुजल को बरसने वाली आँखों को बार-बार देख रही है।"

यहाँ नायिका (रत्नावली) के आकाररूप चित्र से देखी गई अपनी प्रतिकृति (चित्र) से पवित्र हुये फलक को देखने के कारण वत्सराज (उदयन) का परस्पर आस्थारूप रति-स्थायीभाव विभाव, अनुभाव के संयोजन के कारण चर्वणा की स्थिति तक आरूढ़ हो गया है। अधिक कहने से कोई लाभ नहीं। बात यह हुई—रसादि अर्थ अङ्गी अथवा प्रधानरूप से भासमान होकर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का प्रकार है। साथ ही जैसा—। जैसा अथवा सा (इव) शब्द के क्रम के रहते हुये भी उसकी संलक्ष्यता व्याख्यान की गई है। वाच्य के साथ—। अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि के साथ।

मंजूआशुबोधिनी

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः–प्रधान (मुख्य) रूप से प्रकाशित होने वाला व्यङ्ग्य ही ध्वनि का स्वरूप है। कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता हुआ करती है वहाँ 'ध्वनि काव्य' स्वीकार किया जाया करता है। इस बात को दूसरे अर्थ में इस प्रकार से भी कहा जा सकता है कि जहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं हुआ करती है, उसको ध्वनि काव्य नाम से नहीं कहा जाया करता है। अतएव रस आदि व्यङ्ग्य भी प्रधान न होने की स्थिति में 'ध्वनि' नहीं कहे जाया करते हैं। केवल प्रधान होने की स्थिति में ही 'ध्वनि' नाम से कहे जाया करते हैं। किन्तु जिस स्थल पर वे किसी अन्य अङ्गी (प्रधान) के अङ्ग बन जाया करते हैं तो वहाँ उन्हें रसवदादि अलङ्कार नामों से कहा जाया करता है। आगामी दो कारिकाओं में रसादि की प्रधानता तथा अप्रधानता मूलक ध्वनित्व का और रसवदलङ्कारत्व का प्रतिपादन किया गया है।

'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' तथा 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' इन दो नामों से विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के प्रारम्भ में दो भेद किये गये हैं। इनमें से रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशवलतारूप आस्वाद प्रधान ध्वनि को "असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि" कहा जाता है। यदि इसके भी अवान्तर भेद किये जायँ तो इन 'अवान्तरभेदों' का अनन्त विस्तार हो जायगा। अतएव इसका विस्तार नहीं किया जा सका है और इस 'असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनि' को एक ही भेद स्वीकार किया गया है। किन्तु द्वितीय भेद "संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि" अनेक अवान्तर भेद किये गये हैं।

इस भाँति "विवक्षितान्यपरवाच्य" (अभिधामूल) ध्वनि के उपर्युक्त दो भेदों को करके पहले प्रथमभेद (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि) के विषय में ही कुछ विशेष बातों पर विचार करते हैं।

प्रधान रूप से प्रकाशित होने वाला व्यङ्ग्य अर्थ ही ध्वनि का आत्मा अर्थात् स्वरूप है और वह कभी तो वाच्यार्थ की अपेक्षा से अलक्षित क्रम से प्रकाशित हुआ करता है और कभी संलक्षितक्रम से प्रकाशित होने के कारण दो प्रकार का माना गया है।

सम्बन्धित प्रस्तुत कारिका में 'रस' के साथ 'भाव' इत्यादि का भी उल्लेख किया गया है, "रस्यते आस्वाद्यते इति रसः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि सभी का समावेश "रस श्रेणी" में हो जाता है किन्तु फिर भी उनमें कुछ भेद अवश्य हैं:—

रतिदेवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।

भावः प्रोक्तः, तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः।। (।। काव्यप्रकाश ४।३५।।)

अर्थात् देवता, गुरु आदिविषयक रति (प्रेम) तथा अभिव्यक्त व्यभिचारी (संचारी) भाव को 'भाव' कहा जाता है। (किन्तु) रस और भाव के अनुचित वर्णन को रसाभास एवं भावाभास कहा जाया करता है।

रस-प्रक्रिया–भरतमुनि का रसविषयक सूत्र है–"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"। इसका अभिप्राय यह है कि विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव के संयोग से परिपुष्ट रति आदि स्थायीभाव आस्वादावस्थापन्न होकर 'रस' कहे जाते हैं। आचार्या भरतमुनि का यह सूत्र तो सीधा सा है किन्तु इसकी वास्तविक व्याख्या अत्यधिक विवादग्रस्त रही है। उनमें से काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में निम्नलिखित चार आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है:—

(१) भट्ट लोल्लट (२) श्री शुङ्कुक (३) भट्टनायक और (४) आचार्य अभिनवगुप्त।

इस वारे में हमें 'ध्वन्यालोक' की आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा की गई 'लोचन' टीका में भी अनेक मतों का उल्लेख उपलब्ध होता है। इन सभी मतों को भली भाँति समझने के लिये सर्वप्रथम रसप्रक्रिया के परिभाषिक शब्द स्थायी भाव. विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव आदि को समझ लेना परमावश्यक है:—

स्थायी भाव–मानव जो कुछ देखता, सुनता अथवा अन्य किसी भाँति अनुभव किया करता है उस सबका 'संस्कार' मानव के मन पर पड़ा करता है। अनुभव तो क्षणिक हुआ करता है और वह नष्ट हो जाया करता है, किन्तु वह अनुभव अपने बाद एक स्थायी वस्तु छोड़ जाया करता है जिसे 'संस्कार' नाम से कहा जाता है। इसको 'वासना' नाम से भी कहा जाया करता है। ये संस्कार ही अनुकूल समय तथा उद्‌बोधक सामग्री पाकर उद्‌बुद्ध हो जाया करते हैं। इस उद्बोधक सामग्री के द्वारा इस समय के अथवा इस जन्म के ही नहीं, अपितु पूर्वकालीन अनेक जन्म-जन्मान्तरों में व्यवहित अथवा इस जन्म में भी अनेक देश देशान्तरों में व्यवहित संस्कारों का उद्बोध हो सकता है। योगदर्शन में इन वासनाओं अथवा संस्कारों के अनादि होने तथा अत्यन्त सुदूरवर्ती संस्कारों की भी अभिव्यक्ति का वर्णन करते हुये लिखा है:—

तासामनादित्वञ्चाशिषो नित्यत्वात्।। (योगसूत्र ४।९।।)

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्ये स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।।

(यो.द. ४।१०।।)

इन संस्कारों की गणना का किया जाना तो असम्भव है, फिर भी प्राचीन आचार्यों ने उन संस्कारों का वर्गीकरण करने का प्रयास अवश्य किया है। मन में स्थायीरूप से रहने वाली वासनाओं अथवा संस्कारों का ही नाम 'स्थायी भाव' है। इन संस्कारों में सर्वाधिक प्रबल तथा बहुसंख्यक वासनायें इन (१) राग, (२) द्वेष, (३) उत्साह और (४) जुगुप्सा से सम्बन्ध रखने वाली हुआ करती हैं। क्योंकि ये प्राणियों की सबसे अधिक स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं जो कि सभी प्राणियों में पायी जाने वाली हैं। साहित्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा इन स्थायी भावों की गणना निम्नलिखित रूप में की गई है:—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।। (का०प्र० ४।३०।।)

(१) रति (२) हास (३) शोक (४) क्रोध (५)उत्साह (६) भय (७) जुगुप्सा तथा (८) विस्मय ये आठ तथा कहीं निर्वेद अथवा वैराग्य को भी मिलाकर नौ प्रकार के स्थायीभाव स्वीकार किये गये हैं।

इन स्थायीभावों को उद्बुद्ध करने वाली सामग्री प्रधान रूप से दो प्रकार की है—(१)आलम्बन (२) उद्दीपन। इन दोनों को 'विभाव' नाम से कहा जाता है।

आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव–नायक अथवा नायिका इत्यादि के आलम्बन से उपर्युक्त स्थायीभाव उद्बुद्ध हुआ करते हैं। अतएव इनको आलम्बनात्मक सामग्री अथवा 'आलम्बन विभाव' नाम से कहा जाता है। बाह्य परिस्थितियाँ अथवा उद्यान, प्रकृति के देखने योग्य नाना प्रकार के सौन्दर्य इत्यादि इन आलम्बनों के उद्दीपक हुआ करते हैं। अतएव इनको उद्दीपन-साग्रमी अथवा उद्दीपनविभाव नाम से कहा जाया करता है। जैसा कि 'साहित्य दर्पण' में कहा भी गया है:—

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।

आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ समृतौ।।

आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोदगमात्।। (सा०द० ३।२९।।)

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा।। (सा०द० ३।१३१।।)

अनुभाव–मन के अन्दर स्थायीरूप से विद्यमान 'रति' आदि वासनाओं अथवा स्थायीभावों का इन आलम्बन और उद्दीपन विभावों द्वारा केवल उद्बोधन ही हुआ करता है, उत्पत्ति नहीं। इस भाँति जब विभावों द्वारा 'रति' आदि की वासना उद्बुद्ध हो जाया करती है तब उन वासनाओं का प्रभाव बाह्यरूप से दृष्टिगोचर होने लगा करता है। मन के अन्दर उद्बुद्ध वासना के अनुसार ही मानव की चेष्टायें, आकार-भङ्गी आदि में भी भेद हो जाया करता है। इन्हीं को 'अनुभाव' नाम से कहा जाया करता है। विभाव तो 'रति' आदि को उद्बोध के कारण

हैं तथा अनुभाव उनके कार्य हैं। इसी कारण इनको "अनु पश्चाद् भवन्तीति अनुभावाः" अनुभाव नाम से कहा जाया करता है। ये अनुभाव प्रत्येक वासना अथवा स्थायीभाव के अनुसार पृथक् पृथक् ही हुआ करते हैं।

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिभावं प्रकाशयन्।

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।। (सा०द० ३।१३२।।)

इन अनुभावों में:—

स्तम्भः स्वेदोऽथरोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।

वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः।। (सा०द० ३।१३५।।)

स्वात्विक भावों में इन आठों की प्रधानता है। अतएव "गोबलीवर्दन्याय" के अनुसार इन आठों की पृथक् रूप से गणना कर ली जाया करती है।

व्यभिचारी अथवा सञ्चारिभाव–स्थायीभावों से उलटे व्यभिचारिभाव हुआ करते हैं। इनको 'सञ्चारिभाव' नाम से भी कहा जाया करता है। स्थायीभावों का स्थायीरूप से रहना ही उनका वैशिष्ट्य है। व्यभिचारीभावों का अस्थायी रूप में रहना ही उनका अपना वैशिष्ट्य है। स्थायीभावों की उपमा 'लवणाकर' से दी गई है। साँभर-झील में जो कुछ भी गिर जाय अथवा डाल दिया जाता है वह स्वल्पकाल में ही 'लवण' (नमक) बन जाया करता है। इसी भाँति जो विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न नहीं हुआ करता है वही 'स्थायीभाव' है:—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैः विच्छिद्यते न यः।

आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।। (दशरूपक ४।३४।।)

इसके विपरीत व्यभिचारिभाव अथवा संचारिभाव सागर की तरङ्गों के सदृश अस्थिर हैं। स्थायिभाव के परिपोष में ये व्यभिचारि अथवा सञ्चारिभाव सहकारी ही हुआ करते हैं। इनकी संख्या तेंतीस स्वीकार की गई है:—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।

स्थायिन्युन्मन्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।। (दशरूपक ४।७।।)

निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्तास्त्रासेर्ष्यमिर्षगर्वाः स्मृतियरण-मदाः सुप्तनिद्राविवोधाः।

व्रीडापस्यारमोहाः समतिरलसता वेगतर्कविहित्था व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुक चपलयुतास्त्रिदशदेते त्रयश्च।। (दशकरूप ४।८।।)

रसास्वाद–ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव ही रस की सामग्री है। आलम्बन और उद्दीपनविभाव स्थायीभाव को उद्बुद्ध किया करते हैं। अनुभाव उस (स्थायीभाव) को प्रतीतियोग्य बनाया करते हैं तथा व्यभिचारिभाव अथवा सञ्चारिभाव उसको परिपुष्ट किया करते हैं। इस भाँति इन सभी के संयोग से स्थायीभाव रसनेयोग्य अथवा आस्वादयोग्य हो जाया करता है। इसी रसन अथवा आस्वादन को 'रस' कहा जाया करता है। इस आस्वादन अवस्था का ही नाम 'रस' है। इसके अतिरिक्त 'रस' कुछ अन्य नहीं है।

रस संख्या–काव्य में शृंगार आदि आठ तथा नवम शान्तरस मिलाकर नौ रस माने गये

हैं। किन्तु नाटक में शान्तरस का परिपाक होना सम्भव न होने के कारण, उसे छोड़कर आठ ही रस माने गये हैं:—

श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।। (का०प्र० २९।।)
निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।। (का०प्र० ३५।।)

शान्तरस के सम्बन्ध में विवेचना करते हुये दशरूपककार ने लिखा है:—

शममपि के चिद् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।। (दशरूपक ४।३५।।)

'शम' को स्थायिभाव मानने के सम्बन्ध में कई प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। (१) भरतमुनि ने स्वरचित नाट्यशास्त्र में 'शान्तरस' के विभाव आदि का उल्लेख तक नहीं किया है तथा न 'शम' नामक स्थायी भाव का लक्षण ही किया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने शम को स्थायीभाव स्वीकार नहीं किया है। (२) कुछ का कहना यह है कि राग-द्वेष इत्यादि दोषों का सर्वथा विनाश हो जाने पर ही शम की स्थिति उत्पन्न हो सकती है किन्तु अनादिकाल प्रवाह से आने वाले राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाना सम्भव ही नहीं है। अतएव 'शम' नामक स्थायिभाव की स्थिति हो ही नहीं सकती है। (३) कुछ अन्य विद्वानों ने उसका अन्तर्भाव वीर, वीभत्स आदि रसों में माना है। इनमें से चाहे किसी का मत ठीक हो वास्तविकता तो यह है दशरूपक तथा दशरूपक के टीकाकार तो यह मानते हैं कि सम्पूर्ण व्यापारविलयरूप 'शम' का अभिनय सम्भव नहीं है। अतएव अभिनय प्रधान नाट्य में 'शम' का स्थायीभाव होना हम स्वीकार नहीं कर सकते।

कुछ विद्वानों ने "नागानन्द" नामक नाटक में "शान्त रस" माना है। किन्तु उनका यह कहना 'नागानन्द' में आदि से अन्ततक पाये जाने वाले मलयवती के प्रति अनुराग और विद्याधरचक्रवर्तित्व की प्राप्ति के विपरीत होने से वहाँ शान्तरस नहीं है। दयावीर का उत्साह ही वहाँ स्थायीभाव तथा वीर रस है।

ऊपर स्थायीभाव का लक्षण "विरुद्धाविरुद्धविच्छेदित्व" रूप लिखा है। यह लक्षण 'शम' में घटता ही नहीं है। परिणामस्वरूप 'शम' नामक स्थायीभाव नहीं है।

रसानुभूतिकाल में चित्त की चार प्रकार की वृत्तियाँ तथा उनके आधार पर रसतुष्टम्–यह पहले कहा जा चुका है कि विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव के योग से स्थायिभाव की पुष्टि होकर जो आस्वादन हुआ करता है उसी का नाम है 'रस'। यह आस्वादन अथवा रस वस्तुतः चित्त की एक अवस्थाविशेष ही है। हम पहले जिन आठ स्थायिभावों का वर्णन लिख चुके हैं उनका भी संक्षिप्तीकरण करने पर चार प्रकार की ही चित्त की अवस्थाओं का वर्णन दशरूपककार ने किया है। रसास्वादन के समय चित्त की जो जो भिन्न भिन्न प्रकार की अवस्थायें हुआ करती हैं उनको विकाश, विस्तार, विक्षोभ और विक्षेय—इन चारों रूपों में विभक्त किया गया है। इस भाँति चित्त की चार प्रकार की अवस्थाओं के होने से शृङ्गार, वीर, वीभत्स तथा रौद्र—इन चार रसों को ही मौलिक रस स्वीकार किया गया है। शेष चार (हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक) को उनके आश्रित माना गया है क्योंकि इन चारों में भी वही

चार प्रकार की चित्त की अवस्था हुआ करती है। अतएव हास्य रस में शृङ्गार के सदृश चित्त का विकाश, अद्‌भुत रस में वीर रस के सदृश चित्त का विस्तार, भयानक रस में वीभत्स के सदृश विक्षोभ तथा करुण रस में रौद्र रस के सदृश चित्त में 'विक्षेप' की प्रधानता हुआ करती है। इस भाँति रसानुभूतिकाल में चित्त की चार प्रकार की अवस्थाओं के सम्भव होने के कारण चार ही रस मौलिक हैं तथा शेष चार की उत्पत्ति उन्हीं के द्वारा हुआ करती है।

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्‌भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः।।

इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुये भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 'हास्य' का लक्षण करते हुये लिखा है:—

शृङ्गारानुकृतिर्या तु सा हास्य इति कीर्तितः।

उपर्युक्त विषय का प्रतिपादन 'दशरूपक' के ४।४३-४४ में किया गया है। अन्त में उन्होंने लिखा है:—

अतस्तज्जन्यता तेषामतएवावधारणम्।।

नाटकों एवं काव्यों में रसोत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत–नाटकों एवं काव्यों में रसोत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ स्वल्प-भेद की प्रतीति होती है। नाटक के देखे जाते समय 'रस' की उत्पत्ति कहाँ तथा किस प्रकार हुआ करती है? इस सम्बन्ध में भट्ट लोल्लट, श्री शङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त के मत पृथक् पृथक् हैं। विवरण निम्नवत हैं:—

१. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवादः–भट्टलोल्लट ने रस की उत्पत्ति को प्रधानरूप से अनुकार्य अर्थात् राम, दुष्यन्त आदि में निष्ठ माना है। रामादि का अनुकरण किये जाने के कारण नट में भी रस की प्रतीति हो जाया करती है। भट्टलोल्लट के मतानुसार ललना तथा उद्यान आदि आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव में राम, दुष्यन्त आदि में 'रति' इत्यादि की उत्पत्ति अर्थात् उद्बोध हुआ करता है। उसके कार्यभूत कटाक्ष इत्यादि अनुभावों द्वारा रामगत रति आदि स्थायीभाव प्रतीति योग्य बन जाया करते हैं तथा 'निर्वेद' आदि व्यभिचारि अथवा सञ्चारिभावों की सहायता से परिपुष्ट होकर प्रधानत: राम आदि में तथा उनके अनुकरण किये जाने के कारण गौणरूप से नट में रस की उत्पत्ति हुआ करती है।

भट्टलोल्लट के मत की आलोचना–भट्टलोल्लट को उपर्युक्त मत में प्रधानरूप से अनुकार्य राम, दुष्यन्त आदि में तथा गौणरूप से नट में रस की उत्पत्ति मानने में सामाजिक में रस की उत्पत्ति का कई अवसर ही नहीं है। अतएव सामाजिक को रस के आस्वाद के होने की प्रतीति ही नहीं होती। यह एक महान् त्रुटि है। अतएव श्री शङ्कुक ने इस मत का खण्डन कर अपने 'रसानुभितिवाद' की स्थापना की।

२. श्री शङ्कुक का ''अनुभितिवाद''–श्री शङ्कुक के 'रसानुभितिवाद' में 'रस' अनुकार्य राम, दुष्यन्त आदि में निष्ठ नहीं रहा करता है, वह तो अनुकर्त्ता नट में उत्पन्न हुआ करता है। नट को राम आदि समझकर उसके द्वारा शिक्षाभ्यासचातुर्य से प्रदर्शित कृत्रिम विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव अथवा संचारिभाव आदि के द्वारा नट में ही रस का

अनुमान हुआ करता है। ऐसी दशा में नट में जो राम-बुद्धि हुआ करती है उसको न तो सम्यग्ज्ञान ही कहा जा सकता है और न मिथ्या-ज्ञान ही, न उसे संशय ही कहा जा सकता है और सादृश्यमात्रप्रतीति ही। इन सभी प्रतीतियों से विलक्षण 'चित्रतुरगन्याय' से अनिर्वचनीय-प्रतीति ही है। उदाहरण के लिये एक चित्र में अङ्कित घोड़े को देखकर जो घोड़े की प्रतीति हुआ करती है वह यथार्थ प्रतीति तो है नहीं क्योंकि वास्तविक घोड़ा तो वहाँ है नहीं। "तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा" यह यर्थाथ ज्ञान अथवा प्रमा का लक्षण है; और यह लक्षण यहाँ घटता ही नहीं है। अतएव चित्रतुरगबुद्धि अथवा नाट्यशाला में विद्यमान नट में रामबुद्धि यथार्थ नहीं है। न वह मिथ्या ही है तथा न सादृश्य अथवा संशयरूप। इन सब से विलक्षण अनिर्वचनीय राम की प्रतीति में नट को रामरूप में ग्रहण करके उस नट के द्वारा प्रकाशित अनुभाव आदि भी जो वस्तुतः कृत्रिम हैं, किन्तु उनको कृत्रिम न मानकर उनके आधार पर नट में 'रति' आदि का अनुमान होता है। वह अनुमिति की प्रतीति भी अन्य अनुभीयमान पदार्थों से भिन्न प्रकार की हुआ करती है क्योंकि साधारणतः अनुमिति परोक्षज्ञान है तथा रस की अनुभूति तो प्रत्यक्षात्मक हुआ करती है। अतएव रसादि प्रतीति के अनुमिति रूप होते हुये भी अन्य अनुमितियों से विलक्षण होने के कारण नटगत रतिआदि का सामाजिक को अनुभव हुआ करता है।

श्री शङ्कुक के उपर्युक्त मत की आलोचना–श्री शङ्कुक के अनुमितिवाद में सबकुछ कल्पित ही है। अनुमिति के लिये उन्होंने जिस नटरूप राम को पक्ष बनाया है उसका रामत्व निश्चित नहीं है। अनुमान की दृष्टि से जिन अनुभाव-आदि को लिङ्ग अथवा हेतु बनाया गया है वे भी कल्पित-कृत्रिम हैं किन्तु उनको अकृत्रिम माना जा रहा है। उस हेतु के द्वारा जिस 'रति' आदि स्थायीभाव की सिद्धि की जानी है, वह भी सम्भावित मात्र, अयथार्थ है। उस परोक्ष अनुमिति को जो अपरोक्षात्मक अथवा साक्षात्कारात्मक अनुभूतिस्वरूप माना है वह भी कल्पित है। इस भाँति श्री शङ्कुक का मत पूर्णरूपेण स्वकल्पित ही है। उन्होंने "विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद् रसनिष्पत्तिः" भरतमुनि के इस सूत्र में आये हुये "संयोगात्" शब्द का अर्थ "गम्यगमकभावरूपात् सम्बन्धात्" किया है तथा इस गम्यगमकभाव से "रामोऽयं सीतात्रिषयकरतिमान् सीताविषयकविभावदिसम्बन्धित्वाद् सीताविषयक-कटाक्षादिमत्त्वाद्वा यो नैवं स नैवं यथाहम्" यह जो अनुमान किया है उसमें 'अहम्' को व्यतिरेकी उदाहरण बनाया है तथा उस ही अहं पदबोध्य सामाजिक को रस की चर्वणा का आश्रय स्वीकार किया है। वस्तुतः उनका यह सबकुछ पूर्णतया असङ्गत ही है। अतएव भट्टनायक द्वारा शङ्कुक के मत का खण्डन किया गया और उन्होंने अपने "भुक्तिवाद" सम्बन्धी मत की स्थापना की।

भट्टनायक द्वारा उपर्युक्त मतों की आलोचना–भट्टनायक ने लिखा है कि रस यदि परगत अर्थात् अनुकार्यगत अथवा अनुकर्त्ता (नट) गत प्रतीत होगा तो दोनों ही स्थितियों में उस रस का सामाजिक सहृदय से अथवा सहृदय दर्शक से कोई सम्बन्ध नहीं बन सकेगा तथा वह (रस) सामाजिक अथवा दर्शक के लिये तटस्थ के सदृश प्रयोजनरहित होगा।

यदि उसकी उत्पत्ति स्वगत अर्थात् सामाजिकगत मान ली जाय तो भी सङ्गत नहीं होगा क्योंकि उसकी उत्पत्ति तो सीता आदि विभावों के द्वारा ही हुआ करती है। सीता आदि राम के प्रति तो विभावादि हो सकते हैं, सामाजिक के प्रति नहीं हो सकते हैं। साधारणीकरण व्यापार

द्वारा सीता तथा रामादि का व्यक्तित्व निकलकर उनमें साधारण कान्तात्व आदि रूप ही रह जाता है, अतएव ये सामाजिक के प्रति भी विभावादि हो सकते हैं; ऐसा कहना भी उचित नहीं है। अथवा बीच में स्वकान्ता स्मरण मानने से भी कार्य नहीं चलेगा क्योंकि देवता आदि के वर्णन जैसे–'कुमारसम्भव' आदि में—पार्वती आदि के वर्णनों के प्रसङ्ग में भी रसास्वादन तो होता ही है और उनको भी होता है जिनकी कान्ता न थी और न है। देवता के वर्णन के स्थल पर वर्ण्यमान पार्वती आदि में देवता-बुद्धि तथा पूज्यता की प्रतीति ही साधारणीकरण में बाधक है। अतएव रसकी उत्पत्ति न तो स्वगत (सामाजिकगत) बनती है और न परगत (अनुकार्य रामादिगत अथवा अनुकर्तृ नट आदि गत)। इस भाँति स्वगत अथवा परगत न प्रतीति बनेगी और न अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति वाले पक्ष में तो और भी दोष आयेगा। अभिव्यक्ति तो पूर्वसिद्ध अर्थ की ही हुआ करती है। किन्तु 'रस' नाम तो अनुभूति का ही है। अनुभवकाल के पहले अथवा बाद में उसकी कोई सत्ता ही नहीं है। इस कारण भी अभिव्यक्ति नहीं बनती है। यदि यह कहा जाय कि रस वासना अथवा स्थायीभाव के रूप में स्थित है, उसी की अभिव्यक्ति हुआ करती है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि अभिव्यक्ति स्थल में दीपकादि अभिव्यञ्जक सामग्री में नहीं बनता है, अतएव रस की स्वगततया अथवा परगततया उत्पत्ति, प्रतीति अथवा अभिव्यक्ति कुछ भी नहीं बनती है।

भट्टनायक का मत ''भुक्तिवाद''–भट्टनायक का कहना है कि काव्यात्मक शब्दों में अन्य शब्दों से विलक्षण अभिधामकत्व, भावकत्व और भोजकत्व नामक तीन व्यापार रहा करते हैं। इनमें से अभिधायकत्व व्यापार अर्थविषयक, भावकत्व व्यापार रस इत्यादि विषयक तथा भोजकत्व व्यापार सहृदयविषयक हुआ करता है।

इन तीनों (१. अभिधा; २.भावकत्व; ३.भोजकत्व) व्यापारों के बल पर सामाजिक को रस की अनुभूति हो जाया करती है। अभिधा व्यापार द्वारा सामाजिक अथवा दर्शक काव्य के शब्दार्थ को ग्रहण करता है। उसके पश्चात् शब्द की भावकत्व शक्ति द्वारा सामाजिक को उस अर्थ का भावन होता है। भावन होने पर भाव की वैयक्तिकता की समाप्ति होकर साधारणीकरण हो जाता है। तथा भाव विशिष्ट न रहकर साधारण बन जाया करते हैं अर्थात् सामाजिक अथवा दर्शन की दृष्टि में राम अथवा दुष्यन्त एक सामान्य पुरुष और सीता अथवा शकुन्तला एक सामान्य स्त्री बन जाया करती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द का भावकत्व व्यापार कथानक में परिष्कार कर उसमें से उक्तिविशेष के सम्बन्ध को हटाकर उसका साधारणीकरण कर दिया करता है। उस साधारणीकरण के पश्चात् सामाजिक अथवा दर्शक उस कथा के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस भाँति अपनी रुचि अथवा संस्कार के अनुरूप सामाजिक उस कथा का एक पात्र स्वयं बन जाता है। इस भाँति असली नायक/नायिका आदि की जो स्थिति उस कथा में थी, साधारणीकरण द्वारा सामाजिक अथवा दर्शक को भी लगभग वही स्थान प्राप्त हो जाया करता है।

भावकत्व-व्यापार के द्वारा जब काव्य अथवा नाटक के अर्थ के साथ दर्शक का साधारणीकरण हो जाता है तब शब्द का भोजकत्व नामक तीसरा व्यापार सामाजिक अथवा दर्शक को 'रस' का साक्षात्कारात्मक भोग करवाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भोजकत्व

व्यापार द्वारा साधारणीकृत भाव का रस के रूप में भोग हो जाया करता है। इस अवसर पर सामाजिक के हृदय में रजोगुण एवं तमोगुण सम्बन्धी भावशान्त हो जाते हैं तथा केवल सत्वगुण सम्बन्धी भावों का ही प्राधान्य रह जाता है जिसके कारण प्रत्येक अनुभव आनन्दमय हो जाता है। आनन्द की इसी अनुभूति का नाम 'रस' है। अथवा यही 'रस' की भुक्ति है।

इस भुक्तिवाद में जिन भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो नवीन शक्तियों (व्यापारों) की कल्पना की गई है वे अनुभवसिद्ध नहीं हैं तथा उनको मानने के लिये कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। इसके साथ ही जिस स्थायीभाव का भोग बतलाया गया है वह स्थायीभाव राम-सीता-गत स्थायीभाव है अथवा वह नटगत अथवा दर्शक (सामाजिक) गत है? इसका भी स्पष्टीकरण नहीं हो सका है। ऐसी प्रमाणहीन अपने विलक्षण सिद्धान्त का स्थिर रखना पूर्णतया अनुचित प्रतीत होता है। अतएव आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद सम्बन्धी एक नवीन सिद्धान्त का सृजन किया।

४. अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद–व्यंजनावादी अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवादकी स्थापना की है। अभिनवगुप्त के अनुसार भावकत्व तो भावों का ही मूलगुण है। साथ ही भावकत्व एवं भोजकत्व सम्बन्धी शक्तियों अथवा व्यापारों का कार्य व्यंजनाशक्ति अथवा ध्वनि से ही चल जाता है। अतः इन दो नवीन व्यापारों की कल्पना का किया जाना पूर्णरूपेण अनावश्यक ही है।

अभिनवगुप्त ने 'संयोग' का अर्थ 'ध्वनित' अथवा व्यंजित होना किया तथा निष्पत्ति का अर्थ "आनन्दरूप से प्रकाशित होना" किया है। उनके मतानुसार 'रस' न तो 'अभिधा' शक्ति द्वारा वाच्य ही होता है और न लक्षणाशक्ति द्वारा लक्ष्य ही। व्यह तो व्यंजनाशक्ति द्वारा 'अभिव्यक्त' ही होता है। इस भाँति रस तथा विभावादिकों में "व्यंग्यव्यंजक" सम्बन्ध है। विभाव आदि 'व्यंजक' होते हैं तथा 'रस' 'व्यङ्ग्य' होता है। भावकत्व व्यापार जो व्यंजना का प्रथम उन्मेष है तथा द्वितीय उन्मेष है भोगीकरण। इस प्रकार विभाव आदि के 'संयोग' अर्थात् व्यंग्यव्यञ्जक-सम्बन्ध के द्वारा 'निष्पत्ति' अर्थात् अभिव्यक्ति दर्शकों अथवा सामाजिकों को होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि रति आदि स्थायीभाव विभाव आदि के द्वारा साधारणीकृत होकर शृंगारादि रसों के रूप में अभिव्यक्त हुआ करते हैं। रसानुभूति की अवस्था में सामाजिक अथवा दर्शक इतना अधिक आनन्दविभोर हो जाया करता है कि उसे कुछ ज्ञान नहीं रहा करता है कि ये विभाव आदि मेरे हैं अथवा शत्रु के हैं अथवा तटस्थ के हैं तथा न मेरे हैं और न शत्रु के हैं और न तटस्थ के हैं। तात्पर्य यह है कि दर्शकों अथवा सामाजिकों को रसानुभूति की अवस्था में कुछ भी अन्य ज्ञान नहीं रहा करता है। इसी कारण रस को वेद्यान्तर–स्पर्श–शून्य कहा गया है। इसी दशा में सामाजिक अन्यज्ञान के सम्पर्क से शून्य अथवा रहित होकर स्वयं प्रकाशक–रस का आस्वादन किया करता है।

अन्यमत–इसके अतिरिक्त कुछ अन्य भी छोटे-छोटे मत हैं जिनका उल्लेख लोचनकार द्वारा अतिसंक्षेप में किया गया है:—

"अन्ये तु शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिभावम्, इत्वरे

व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगम्, एके अनुकार्यम्, केचन सकलमेव समुदायं रसमाहुः''।

नाट्यरसः–उपर्युक्त सभी मत नाट्यरस से सम्बन्धित हैं। नाट्यरस शब्द का प्रयोग भरतमुनि द्वारा किया गया है। व्याख्याताओं ने 'नाट्यरस' शब्द की व्युत्पत्ति अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार पृथक् पृथक् ढङ्ग से की है। लोल्लट के अनुसार अनुकार्यगत रस की उत्पत्ति हुआ करती है अत: उन्होंने ''नाट्ये प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस:'' यह 'नाट्यरस' शब्द का विग्रह किया गया है। श्री शङ्कुक के मतानुसार अनुकार्याभिन्न नर्तक में अनुमीयमान रस का सामाजिक अथवा दर्शक को आस्वादन होता है। अतएव इनके मत में—''नाट्ये नाट्याश्रये नटे रस: नाट्यरस:'' यह विग्रह होता है। इसी भाँति अन्य मतों में—''नाट्यपाद् रस: इति नाट्यरस:'' अथवा ''नाट्यमेव रस: नाट्यरस:'' विग्रह हुआ करते हैं।

नाट्य के भी दो रूप माने गये हैं (१) लोकधर्मीनाट्य (२) नाट्यधर्मीनाट्य। (१) लोकधर्मीनाट्य की परिभाषा है:—

स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मीति सा मृता।

अर्थात् इसमें स्वाभाविक अभिनय होता है अर्थात् स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का रूप धारण करके अभिनय नहीं किया करता है।

(२) नाट्यधर्मीनाट्य:—जहाँ स्वर, अलङ्कार तथा स्त्री पुरुषादि के वेषपरिवर्त्तन आदि की आवश्यकता हुआ करती है वह नाट्यधर्मी-नाट्य हुआ करता है:—

स्वरालङ्कारसंयुक्तमस्वस्थपुरुषाश्रयम्।
यदी दृशं भवेन्नाट्यं नाट्यधर्मी इति सा मृता।।

(नाट्यशास्त्र १४।७१-७३।।)

काव्य रस–काव्य रस की प्रक्रिया नाट्यरस की प्रक्रिया से कुछ भिन्न है क्योंकि काव्य में नाटक जैसे आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ करते हैं, अपितु काव्यशब्दों से बुद्धिस्थ हुआ करते हैं।

भाव–असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनी के भेद में रसों के पश्चात् स्थान भावों का है। देवादिविषयक देवता, गुरु, राजा आदि विषयक रति तथा प्रधानरूप से व्यञ्जित व्यभिचारिभाव—इन दोनों को 'भाव' कहा गया है:—

''रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जित:।
भाव: प्रोक्त:।'' देवादिविषयक रतिरूप भाव के उदाहरण:—

१. ''कण्ठकोणविनिविष्ठमीशते कालकूटमपि महामृतम।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि ते न रोचते।।''

२. ''हरत्यधं सम्प्रति हेतुरेष्यत: शुभस्य पूर्वाचरितै: कृतै: शुभै:।
शरीरभाजां भवदीपदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्।।''

प्रथम उदाहरण में शिवविषयक और दूसरे में नारदमुनिविषयक रति (प्रेम, श्रद्धा)

प्रदर्शित की है। अतएव यह 'भाव' है। इसके अतिरिक्त जिस स्थल पर व्यभिचारिभाव प्रधानरूप से व्यक्त होता है वहाँ भी 'भाव' व्यवहार ही होता है।

व्यभिचारिभाव की स्थिति में उदय, स्थिति तथा अपायये तीन प्रकार की दशायें हो सकती हैं। इनमें से उदयवाली स्थिति को 'भावोदय' नाम से तथा अपायवाली दशा को 'भावप्रशम' नाम से पृथक् कहा गया है। स्थितिवाली दशा के भी तीन प्रकार हो सकते हैं:— अकेले एकभाव की स्थिति, अथवा दो भावों की स्थिति अथवा दो से अधिक भावों की स्थिति। इनमें से दो भावों की स्थिति को 'भावसन्धि' तथा दो से अधिक भावों की स्थिति को 'भावशबलता' कहा जाता है। भावों की यह सभी स्थितियाँ "आस्वादयोग्य" होने के कारण "रस्यते इति रस:" इस व्युत्पत्ति के आधार पर रसश्रेणी में आती हैं। अतएव कारिका में आदि पद से भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता का ग्रहण किया गया है।

रसाभास और भावाभास–तृतीय कारिका में आया हुआ "तदाभास" शब्द रसाभास और भावाभास का बोधक है। अनुचितरूप से वर्णित इस "रसाभास" और अनुचितरूप से वर्णित भाव "भावाभास" नामों से कहे जाते हैं। "अनौचित्य प्रवर्तिता रसा रसाभासा:", "अनौचित्त प्रवर्तिता भावा भावाभास:"। यथा—पशुपक्षियों के श्रृंगार का वर्णन अथवा गुरु आदि पूज्य पुरुषों के सम्बन्ध में हास्य रस का प्रयोग 'रसाभास' के अन्तर्गत आता है।

"रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनावभासते" में सहेव अथवा सहैव पाठ—निर्णयसागरीय संस्करण में 'सहेव' के स्थान पर 'सहैव' पाठ है। इस भाँति "वाच्येन सहैव अवभासते" अर्थात् वाच्य के साथ ही प्रतीत होता है अथवा प्रकाशित होता है। किन्तु "सहैव" पाठ भ्रमपूर्ण ही है क्योंकि वाच्य विभाव आदि तथा रसादि अर्थ की प्रतीति में क्रम अवश्य हुआ करता है किन्तु शीघ्रता के कारण उस (क्रम) की प्रतीति नहीं हो पाया करती है (उत्पलशतपत्रव्यतिभेदवत् लाघवात् न संलक्ष्यते" (जैसे) कमल की सैकड़ों पंखुड़ियों को एकबार में ही सूचिका से छेदने में क्रम की प्रतीति नहीं हुआ करती है। इसी भाँति वाच्य के साथ ही रसादि की प्रतीति न होकर वाच्य के साथ जैसी ही प्रतीत हुआ करती है। अत:एव (ही) के स्थान पर 'इव' (जैसा, सा) पाठ ही उचित है। दूसरी बात यह है कि वाच्य अर्थ के साथ ही व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति का होना संभव भी नहीं है। अतएव वाच्य और रस आदि व्यङ्ग्य की प्रतीति में क्रम के होते हुये होने पर भी शीघ्रता के कारण प्रतीत नहीं होता है, यह असंलक्ष्यता ही 'इव' शब्द से सूचित होती है। लोचनकार ने भी "सहेव" पाठ को ही सही और उचित माना है।

रसवत्, अलङ्कार और ध्वनि–कारकिा सं.३ में कहा गया था कि "आङ्गिभावेन" अर्थात् प्रधानरूप से (अर्थात् अङ्गीरूप में) प्रतीत होने वाले 'रस' इत्यादि 'ध्वनि' की आत्मा है। इस कथन से प्रतीत होता है कि कहीं कहीं अङ्ग (अप्रधान) रूप में भी 'रस' आदि की प्रतीति हुआ करती है। किन्तु जहाँ पर 'रस' किसी अन्य के अङ्ग-रूप में प्रतीत हुआ करते हैं वहाँ 'रस' इत्यादि 'ध्वनि' रूप में न होकर "रसवदलङ्कार" कहे जाया करते हैं। "रसवदलङ्कार" चार प्रकार के हुआ करते हैं:—(१) रसवत् (२) प्रेय (३) ऊर्जस्वि (४) समाहित।

''रस्यते इति रसः'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर रस, भाव, तदाभास और भावशान्ति आदि चारों को रस कहा गया था। जब ये चारों अङ्गरूप में प्रतीत हुआ करते हैं, तब इन्हें 'रसवत्' आदि चारों नामों से कहा जाया करता है। 'रस' यदि अन्य रसादि के अङ्गरूप में वर्णित हो तो 'रसवत्' नाम से, 'भाव' यदि किसी अन्य के अङ्गरूप में प्रतीत हो तो 'प्रेय' नाम से, रसाभास अथवा भावाभास किसी के अङ्ग हों तो 'ऊर्जस्वि' तथा 'भावशान्ति' आदि किसी के अङ्ग हों तो समाहित नामक अलङ्कार कहलाते हैं। इन 'रसवत्' आदि अलङ्कारों और 'रसध्वनि' के इसी भेद का आगामी दो कारिकाओं में प्रतिपादन किया गया है:—

ध्वन्यालोक

इदानीं रसवदलङ्कारादलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो ध्वनेर्विभक्तो विषय इति प्रदर्श्यते:-

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः।।४।।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप ध्वनि का विषय 'रसवदलङ्कारों' से पृथक् है, इस बात को स्पष्ट करते हुये कहते हैं:—

जहाँ नाना प्रकार के शब्द (वाचक) और अर्थ (वाच्य) तथा उनके चारुत्वहेतु (अलङ्कार) रसादिपरक (रसादि के अङ्ग) होते हैं, वह ध्वनि का विषय है।।४।।

रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणं मुख्यमर्थमनुवर्त्तमाना यत्र शब्दार्थालङ्कारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यपेक्षया विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये ध्वनिरिति व्यपदेशः।

रस, भाव-तदाभास और तत्प्रशमरूप मुख्य अर्थ के अनुगामी शब्द, अर्थ, उनके अलङ्कार तथा गुण, परस्पर और ध्वनि से भिन्नस्वरूप जहाँ (अनुगामीरूप में) स्थित होते हैं, उसी काव्य को 'ध्वनिकाव्य' कहा जाता है।।४।।

लोचनम्

नन्वङ्गित्वेनावभासमान इत्युच्यते; तत्राङ्गत्वमपि किमस्ति रसादेर्येन तन्निराकरणायैतद्विशेषणमित्यभिप्रायेणोपक्रमते–इदानीमित्यादिना। अङ्गत्वमस्ति रसादीनां रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितालङ्काररूपतायामिति भावः। अनया च भङ्ग्या रसवदादिष्वलङ्कारेषु रसादिध्वनेर्नान्तर्भाव इति सूचयति। पूर्वं हि समासोक्त्यादिषु वस्तुध्वनेर्नान्तर्भाव इति दर्शितम्। वाच्यं च वाचकं च तच्चारुत्वहेतवश्चेति द्वन्द्वः। वृत्तावपि शब्दाश्चालङ्काराश्चार्थाश्चालङ्काराश्चेति द्वन्द्वः। मत इति। पूर्वमेवैतदुक्तमित्यर्थः। ननूक्तं भट्टनायकेन–रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता, सीतायाः सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्–देवतावर्णनादौ तदपि कथम्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते

अननुभूतत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणपेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्न उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि श्रृंगारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः। तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येनरसः। किं त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्त्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूता व्यापाराः। तत्राभिधाभागोयदि शुद्धः स्यात्तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्य-लङ्काराणां को भेदः? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम्? तेन रसाभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः, यद्वशादभिधा विलक्षणैव। तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तर-विकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः। स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप इति। व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवे'ति।

यहाँ एक शङ्का यह है कि जब 'अङ्गी अथवा प्रधानरूप से अवभासमान' (ध्वनि) का कथन किया जाता है तो वहाँ 'रस' आदि का अङ्गत्व भी क्या है? जिससे उसके (अङ्गत्व) के निराकरण के लिये यह विशेषण, इस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं अब इत्यादि के द्वारा। भाव यह है कि रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित अलङ्कार के रूपों में रसादि का अङ्गत्व है। इस अङ्गी के द्वारा सूचित करते हैं कि रसवद् आदि अलङ्कारों में रसादि ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं है। पहले दिखलाया जा चुका है कि समासोक्ति आदि अलङ्कारों में वस्तुध्वनि का अन्तर्भाव नहीं है। 'वाच्य और वाचक तथा उनके चारुत्व हेतु' यह द्वन्द्व समास है। वृत्ति में भी 'शब्द, अलङ्कार और अर्थालङ्कार' यह द्वन्द्व समास है। माना गया है—अर्थात् यह पहले ही कहा जा चुका है। शङ्का—भट्टनायक ने कहा है रस आदि परगत रूप से (अर्थात् सहृदय से अतिरिक्त में) प्रतीत होता है, तब ताटस्थ्य (सहृदय से असम्बन्ध) ही होगा (अर्थात् स्वयं सहृदय को ऐसी स्थिति में रस की प्रतीति नहीं होगी) और स्वगतरूप से (अर्थात् सहृदय में) वह (रस) राम आदि के चरितरूप काव्य से प्रतीत नहीं होता है क्योंकि अपने आप में प्रतीति मान लेने पर सहृदय में रस की उत्पत्ति माननी होगी किन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि सामाजिक अथवा सहृदय के प्रति सीता विभाव नहीं है। यदि यह कहें कि साधारण कान्तात्व 'रति' आदि वासना के विकास के हेतुभूत विभावना में प्रयोजक है। तो वह भी देवता के वर्णन आदि में कैसे होगा? ऐसा नहीं कि बीच में अपनी कान्ता के स्मरण का संवेदन होता है। और, आलोक सामान्य, चरितवाले राम आदि में जो समुद्र के सेतुबन्ध आदि विभाव हैं, वे कैसे साधारण्य को प्राप्त कर सकते हैं? और उत्साह आदि से युक्त राम का तत्काल स्मरण भी नहीं होता, क्योंकि उनका पहले कभी अनुभव नहीं हुआ रहता है। शब्द रूप काव्य से यदि उस रामगत उत्साह की प्रतीति करते हैं तब भी (सहृदयों में) रस उत्पन्न नहीं होगा, जैसे नायक-नायिका

को प्रत्यक्ष देखकर (किसी के रसोत्पत्ति नहीं होती)। रस की उत्पत्ति को (सहृदयों में) मान लेने पर करुण रस के उत्पन्न होने से दुःखी होने पर पुनः वे (सहृदय) करुण-रस प्रधान नाटकों में प्रवृत्त नहीं होंगे। अतएव उत्पत्ति भी नहीं, अभिव्यक्ति भी नहीं। शक्ति अथवा वासनारूप शृङ्गार (और वीर आदि अन्य रस) की अभिव्यक्ति में विषय के अर्जन (ग्रहण) में अनुभव के अंश में तारतम्य की प्रवृत्ति करनी पड़ेगी। वहाँ भी, क्या स्वगत (सहृदयात्मगत) रस अभिव्यक्त होगा, अथवा परगत, यह दोष पहले के समान ही है। अतएव काव्य से रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है, न अभिव्यक्त होता है। किन्तु तीन अंशों वाला होने के प्रसाद से काव्यरूप शब्द की अन्य शब्दों से विलक्षणता है। वहाँ अभिधायकत्व (अभिधा) वाच्यविषयक व्यापार है, भावकत्व रसादिविषयक व्यापार है तथा भोगकृत्व (भोजकत्व) सहृदयविषयक व्यापार है। इस भाँति काव्यरूप शब्द के तीन अंशभूत व्यापार हैं। वहाँ यदि अभिधा के अंश को शुद्ध (अर्थात् इतर व्यापार से अनालिङ्गित) मान लिया जाय तो तन्त्र आदि शास्त्र के प्रकारों से श्लेष आदि अलङ्कारों का क्या भेद होगा? उपनागरिका आदि वृत्तियों के भेदों का वैचित्र्य (विलक्षणता) कुछ नहीं कर सकती। और फिर श्रुतिदुष्ट आदि दोषों का वर्जन किस काम का होगा? इस दृष्टि से रसभावनारूप दूसरा व्यापार है, जिसके कारण अभिधा विलक्षण ही हो जाती है। वह यह भावकत्व रसों के प्रति जो काव्य के उन रसों के विभावादि के साधारणीकरणत्व आपादन है। रस के भावित होने पर, उसका भोग, जो अनुभव, स्मरण और प्रतिपत्ति से विलक्षण ही है, और वह द्रुति, विस्तार और विकासरूप है, तथा रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध स्वात्यचैतन्यरूप लोकोत्तर आनन्द है, अर्थात् विगलित वेद्यान्तररूप में अवस्थितिरूप वाच्य एवं परब्रह्म के आस्वाद का समीपवर्ती है, वही प्रधानभूत अंश सिद्धरूप है। (सहृदयों को) व्युत्पत्ति (चतुर्वर्गफल की प्राप्तिरूप फल) मिलता है, वह तो अप्रधान है।

अत्रोच्यते–रसस्वरूप एव तावद्विप्रतिपत्तयः प्रतिवादिनाम्। तथा हि पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारि सम्पातादिना प्राप्त परिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस इति केचित्। प्रवाहधर्मिण्यां चित्तवृत्तौचित्तवृत्तेः चित्तवृत्यन्तरेण कः परिपोषार्थः? विस्मय शोकक्रोधादेश्च क्रमेण तावन्न परिपोष इति नानुकार्ये रसः. अनुकर्तरि च तद्भावे लयाद्यननुसरणं स्यात्। सामाजिकगते वा कश्चमत्कारः? प्रत्युत करुणादौ दुःखप्राप्तिः। तस्मान्नायं पक्षः। कस्तर्हि? इहानन्त्यान्नियतस्यानुकारो न शक्यः। निष्प्रयोजनश्च, विशिष्टताप्रतीतौ ताटस्थ्येन व्युत्पत्त्यभावात्।

तस्मादनियतावस्थात्मकं स्थायिनमुद्दिश्य विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयुज्यमानैरयं रामः सुखीति स्मृतिविलक्षणा स्थायिनि प्रतीतिगोचरतयास्वादरूपा प्रतिपत्तिरनुकर्त्रालम्बना नाट्यैकगामिनी रसः। स च न व्यतिरिक्तमाधारमपेक्षते। किं त्वनुकार्याभिन्नाभिमते नर्तके आस्वादयिता सामाजिक इत्येतावन्मात्रमदः। तेन नाट्य एव रसः, नानुकार्यादिष्विति केचित्।

इस प्रसङ्ग में कहते हैं—रस के स्वरूप के सम्बन्ध में ही प्रतिवादियों के विभिन्न मत है। जैसा कि—कुछ लोगों का कहना है कि "पूर्व अवस्था" में जो स्थायी है वही व्यभिचारिभावों के सम्पात आदि से परिपोष प्राप्त करके अनुकार्य (राम आदि) में ही 'रस' होता है। परन्तु नाट्य में प्रयोग किये जाने के कारण नाट्य का रस होता है। कुछ लोग कहते हैं कि चित्तवृत्ति के प्रवाहधर्म होने से एक चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति से परिपोषरूप फल क्या होगा? दूसरी बात यह है कि विस्मय, शोक और क्रोध आदि का क्रम से परिपोष नहीं हुआ करता है, अतएव अनुकार्य में 'रस' नहीं हो सकता है। यदि अनुकर्त्ता नट में 'रस' को मानेंगे तो नट में रस जब सिद्ध ही है तब उसके द्वारा रसोपयोगी ताल-लय आदि का अनुसरण नहीं बनेगा। और यदि सामाजिक (दर्शक) में 'रस' स्वीकार करेंगे तब कौन सा चमत्कार होगा? प्रत्युत करुण आदि रस में (सामाजिक को) दु:ख की प्राप्ति होगी। अत: वह पक्ष नहीं हो सकता। फिर कौन होगा? तत्तदगत 'रति' आदि भाव के अनन्त होने के कारण नियत (निश्चित, एक अवस्था वाले स्थायी) का अनुकरण नहीं किया जा सकता और वह निष्प्रयोजन भी है, क्योंकि स्थायी के वैशिष्ट्य की प्रतीति में (नट के) तटस्थ होने के कारण (चतुर्वर्ग, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के उपायरूप) व्युत्पत्ति नहीं होगी।

इस कारण जिसकी अवस्था नियत नहीं है, ऐसे स्थायी को उद्देश्य करके संयोग प्राप्त करते हुये विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि से 'यह राम सुखी है', यह स्मृति से विलक्षण स्थायी के प्रतीतिगोचर होने के कारण आस्वादरूप, अनुकर्त्ता नट में आलम्बित, एकमात्र नाट्य में रहनेवाली प्रतिपत्ति (ज्ञान) 'रस' है। वह रस दूसरे आधार की अपेक्षा नहीं करता किन्तु अनुकार्य (राम आदि) से अभिन्न रूप में मानलिये गये नर्त्तक में सामाजिक आस्वाद प्राप्त करता है, यह इतना मात्र है। अतएव नाट्य में ही रस है, अनकार्य आदि में नहीं।

अन्ये तु–अनुकर्तरि यः स्थाय्यवभासोऽभिनयादिसामग्न्यादिकृतो भित्ताविव हरितालादिना अश्वावभासः, स एव लोकातीततयास्वादापरसंज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्याद्रसा नाट्यरसाः। अपरे पुनर्विभावानुभावमात्रमेव विशिष्टसामग्न्या समर्प्यमाणं तद्विभावनीयानुभावनीयस्थायिरूपचित्तवृत्युचितवासनानुषक्तं स्वनिर्वृतिचर्वणाविशिष्टमेव रसः। तन्नाट्यमेवरसाः। अन्ये तु शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगम्, एकेऽनुकार्यम्, केचन सकलमेव समुदायं रसमाहुरित्यलं बहुना।

काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्ति वक्रोक्ति प्रकारद्वयेनालौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता। अस्तु वात्र नाट्याद्विचित्ररूपा रसप्रतीतिः। उपायवैलक्षण्यादियमेव तावदत्र सरणिः। एवं स्थिते प्रथमपक्ष एवैतानि दूषणानि, प्रतीतेः स्वपरगतत्वादिविकल्पनेन। सर्वपक्षेषु च प्रतीतिरपरिहार्या रसस्य। अप्रतीतं हि पिशाचवदव्यवहार्यं स्यात्। किं तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी आनुमानिकी आगमोत्था प्रतिभानकृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापर-

नामा भवतु। तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामाग्न्या लोकोत्तर-रूपत्वात्। रसाः प्रतीयन्त इति ओदनं पचतीतिवद् व्यवहारः, प्रतीयमान एव हि रसः। प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना। सा च नाट्ये लौकिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणा; तां च प्रमुखे उपायतया सन्दधाना। एवं काव्ये अन्यशाब्दप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा।

तस्मादनुत्थानोपहतः पूर्वपक्षः। रामादिचरितं तु न सर्वस्य हृदयसंवादीति महतास्हसम्। चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः। यदाह–तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात्। जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्' इति । तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्व-ननात्मैव, नान्यत्किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भव-तैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्। 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः' इत्यत्र। तस्मा-द्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपितु घनमोहान्ध्यसङ्कटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगं कर्त्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तच्चेदंभोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति। सत्त्वादीनां चाङ्गाङ्गिभाववैचित्र्यस्यानन्त्याद् द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता। परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसास्वादस्य। व्युत्पादनं च शासनप्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहासकृताभ्यां विलक्षणम्। यथा रामस्तथाहमित्युपमानातिरिक्तां रसास्वादोपायस्वप्रतिभाविजृम्भारूपां व्युत्पत्तिमन्ते करोतीति कमुपालभामहे। तस्मात्स्थितमेतत्–अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति। तत्राभिव्यक्तिः प्रधानतया भवत्वन्यथा वा प्रधानत्वे ध्वनिः, अन्यथा रसाद्यलङ्काराः। तदाह–मुख्यमर्थमिति। व्यवस्थिता इति। पूर्वोक्तयुक्तिभिर्विभागेन व्यवस्थापितत्वादिति भावः।।४।।

अन्य लोगों का कहना है—अनुकर्त्ता नट में अभिनयादि सामग्री आदि से उत्पन्न जो स्थायी का अवभास (मिथ्या ज्ञान), दीवाल पर हरिताल आदि से अश्व के मिथ्याज्ञान की भाँति है, वही लोकातीत होने के कारण 'आस्वाद' नामक प्रतीति से रस्यमान ही 'रस' है। इस प्रकार नाट्य से रस "नाट्यरस" कहलाते हैं। अन्य लोगों के अनुसार विभाव-अनुभावमात्र ही, विशिष्ट-सामग्री के द्वारा (सामाजिकों) में समर्पित, उनसे विभावनीय एवं अनुभावनीय स्थायी

रूप चित्तवृत्ति के उचित वासना में सम्बद्ध, एवं सामाजिक की निर्वृति अथवा आनन्दरूप चर्वणा से विशिष्ट होकर ही 'रस' है। इस प्रकार नाट्य ही रस है। अन्य लोग शुद्ध विभाव को, दूसरे शुद्ध अनुभाव को, कुछ लोग स्थायीभाव को, इतरलोग व्यभिचारी को, दूसरे लोग इनके संयोग को, कुछ लोग अनुकार्य को तथा कुछ लोग समुदायरूप समस्त को 'रस' कहते हैं। अलं बहुना।

काव्य में भी लोकधर्मी और नाट्यधर्मी के समान (क्रम से) स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दोनों प्रकारों से अलौकिक, प्रसन्न, मधुर और ओजस्वी शब्द से समर्प्यमाण विभावादि के योग से इसी प्रकार 'रस' की वार्ता (प्रतीति) है। यहाँ (काव्य में) नाट्य से रस की प्रतीति विचित्र है, तथापि उपाय के विलक्षण होने के कारण यही प्रकार यहाँ भी है। इस भाँति स्थित होने पर, प्रथम पक्ष में ही ये दोष हैं, क्योंकि प्रतीति स्वगत होती है अथवा परगत होती है, यह विकल्प करते हैं। सभी पक्षों में 'रस' की प्रतीति का निराकरण नहीं है, क्योंकि अप्रतीत वस्तु पिशाच की भाँति व्यवहार में नहीं आती है। किन्तु जिस प्रकार प्रतीतिमात्र होने से अवशिष्ट (समान) होने पर भी प्रत्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था, प्रतिभानकृता, योगिप्रत्यक्षजा ये प्रतीतियाँ उपाय के विलक्षण होने से पृथक-पृथक हो जाया करती हैं, उसी प्रकार यह भी प्रतीति जिसके नाम चर्वणा, आस्वादन, भोग आदि हैं (अन्य प्रतीतियों से विलक्षण) हैं। क्योंकि इस प्रतीति का निदानभूत जो हृदयसंवाद आदि से उपकृत, विभावादि सामग्री है, वह लोकोत्तर है। "रस प्रतीत होते हैं" यह "ओदनं पचति" (भात को पकाता है) के समान व्यवहार है, क्योंकि रस प्रतीयमान ही होता है, विशिष्ट प्रतीति ही 'रसना' है। वह नाट्य में लौकिक अनुमानजन्य प्रतीति से विलक्षण प्रतीति है। उस (लौकिक अनुमानजन्य) प्रतीति को (वह प्रतीति) पहले अपने उपाय के रूप में अपेक्षा करती है। इस भाँति काव्य में (लौकिक-वैदिक) शब्दजन्य प्रतीति से विलक्षण है। उस (शब्द प्रतीति) को पहले में उपायरूप से अपेक्षा करती है।

अत: पूर्वपक्ष उत्थित न होने कारण उपहत हो गया। यह कहना बड़े साहस की बात है कि राम आदि का चरित सभी का हृदयसंवादी नहीं है, क्योंकि चित्त नानाविध वासनाओं से विशिष्ट होता है। जैसाकि योगसूत्रकार कहते हैं:—वे (वासनायें) अनादि होती हैं क्योंकि आशिष अथवा संकल्प विशेष (कि हमें सुख मिलता रहे, कभी सुख के साधनों से वियोग न हो) नित्य होते हैं। अत: जाति देश और काल के व्यवधान होने पर भी (वासनाओं का) आनन्तर्य (क्रम) बना रहता है क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों एकरूप होते हैं। इस कारण रस की प्रतीति सिद्ध है। वह रसना रूप उत्पन्न होती है। उसमें वाच्य और वाचक (काव्य) का अभिधा से व्यतिरिक्त व्यंजना (ध्वनन) ही रूप व्यापार है। (भट्टनायक का अभिमत 'भोगीकरण (भोजकत्व) व्यापार काव्य का रस विषयक व्यापार होने के कारण ध्वननरूप ही है, अन्य कुछ नहीं। समुचित गुणों तथा अलङ्कारों का परिग्रहरूप भावकत्व व्यापार को भी हम ही विस्तार करके कहेंगे। फिर यह अपूर्व क्या है? यदि आप कहते हैं कि रसों के प्रति काव्य भावक हुआ करता है। वहाँ आप ही ने भावन करने (काव्य को 'रस' का उत्पादक मान लेने) से उत्पत्ति पक्ष को पुनरुज्जीवित कर दिया है। केवल काव्य के शब्दों का भावकत्व नहीं बन सकता,

क्योंकि अर्थ के परिज्ञान न होने से उनका भावकत्व नहीं बनेगा। केवल अर्थों का भी (भावकत्व) नहीं सम्भव है। शब्दान्तर (लौकिक वाक्य) से भी उन अर्थों के उपस्थित होने पर उनमें भावकत्व का योग नहीं। दोनों का भावकत्व तो हमने ही कहा है 'जहाँ अर्थ अथवा शब्द उस अर्थ को व्यञ्जित करते हैं' इस कारिका में। अतएव व्यञ्जकत्व नामक व्यापार से गुण और अलङ्कार के औचित्य आदिरूप इतिकर्तव्यता के द्वारा भावक काव्य रसों को भावित करता है। इस प्रकार तीन अंशों (साध्य, साधन तथा इति कर्तव्यता) वाली 'भावना' के करण (साधन) अंश में ध्वनन हो जाता है। भोग भी काव्य-शब्द से नहीं किया जाया करता है (अर्थात् अवश्य किया जाया करता है)। अपितु वह भोग जो घने मोहान्धकार की आवृत्ति (सङ्कटता) भग्न हो जाने के द्वारा आस्वाद नामधारा एवं द्रुत, विस्तर और विकासरूप है, जब (उत्पन्न) किया जाता है उस स्थिति में लोकोत्तर 'ध्वनन' व्यापार ही मूर्धाभिषिक्त (प्रधान हेतु) होता है। वह यह भोगकृत्त्व (भोजकत्व-व्यापार) 'रस' की ध्वननीयता के सिद्ध हो जाने पर दैवसिद्ध (स्वयं सिद्ध है) है क्योंकि भोग रस्यमानता के कारण उत्पन्न चमत्कार से अनतिरिक्त (अभिन्न) है। सत्त्व आदि का अङ्गाङ्गिभावप्रयुक्त वैचित्र्य अनन्त हो जाया करता है। अत: द्रुति आदि रूप से आस्वाद की गणना ठीक नहीं। इस रसास्वाद का परब्रह्म के आस्वाद के समान होना माना गया है। (इस काव्य का) व्युत्पादन, शास्त्र के शासन और इतिहास के प्रतिपादन से विलक्षण है। जैसा राम वैसा मैं हूँ, इस प्रकार के उपमान से अतिरिक्त, रसास्वाद के उपायभूत अपनी प्रतिभा की विजृम्भा (विकास) रूप व्युत्पत्ति को पर्यन्त में (उत्पन्न) करता है, ऐसी स्थिति में हम किसे उलाहना दें। अतएव यह स्थिर हुआ—कि 'रस' अभिव्यक्त होते हैं और प्रतीति के द्वारा ही आस्वादित हुआ करते हैं। वह अभिव्यक्ति प्रधानरूप से हो अथवा अन्यथा (अप्रधान) रूप से। प्रधान होने पर 'ध्वनि' होगी, अन्यथा रसादि अलङ्कार। उसे कहते हैं—मुख्य अर्थ—। व्यवस्थित—। भाव यह है कि पहले कही गई युक्तियों से विभाग के द्वारा व्यवस्थापित किए जा चुके हैं।।४।।

मंजूआशुबोधिनी

रसवदलङ्कारों से भिन्न ध्वनि का विषय

तृतीय-कारिका में कहा जा चुका है कि "अङ्गित्वेन" अर्थात् अङ्गी (प्रधान) रूप से प्रतीत होने वाले 'रस' आदि ध्वनि की आत्मा (स्वरूप) हैं। इस कथन के द्वारा यह भी प्रतीत होता है कि 'रस' आदि की प्रतीति किसी किसी स्थल पर अङ्गरूप में अर्थात् अप्रधानरूप में भी हुआ करती है। जहाँ 'रस' किसी अन्य के अङ्गरूप में प्रतीत हुआ करते हैं वहाँ 'रसादि' ध्वनिरूप में न रहकर 'रसवदलङ्कार' कहे जाया करते हैं।

ये 'रसवदलङ्कार' चार प्रकार के हुआ करते हैं (१) रसवत् (२) प्रेय (३) ऊर्जस्वि तथा (४) समाहित। "रस्यते इति रस:" इस व्युत्पत्ति के आधार पर रस, भाव, तदाभास और भावशान्ति आदि इन चारों को 'रस' कहा गया था। जब ये चारों अङ्गरूप में प्रतीत हुआ करते हैं तब इन चारों को "रसवदलङ्कार' कहा जाता है। जब रस किसी अन्य रसादि के अङ्ग बन जाया करते हैं तब उन्हें 'रसवत्' अलङ्कार के नाम से कहा जाया करता है। जब भाव किसी अन्य का अङ्ग प्रतीत होने लगा करता है तब इसे 'प्रेय' अलङ्कार के नाम से कहा जाता है। रसाभास अथवा भावाभास किसी अन्य के अङ्ग प्रतीत होवें तो इन्हें 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार तथा भावशान्त्यादि किसी के अङ्गरूप में प्रतीत हों तो उन्हें 'समाहित' नामक अलङ्कार कहा जाया करता है। इन सभी अलङ्कारों तथा रसध्वनि के अन्तर का प्रतिपादन प्रस्तुत चतुर्थ कारिका में तथा आगामी पंचम कारिका में किया जा रहा है।

'रसादि' शब्द के प्रयोग से रस के साथ भाव, तदाभास (रसाभास और भावाभास) तथा भावशान्ति आदि (यहाँ आदि पद से भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता का ग्रहण किया जाता है।) गृहीत होते हैं।

प्रस्तुत चतुर्थ कारिका में "असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि" का विषय उपर्युक्त रसवदलङ्कारों से पृथक् है—इस बात का प्रतिपादन किया गया है।

चतुर्थ कारिका में इसी उपर्युक्त विषय का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि—जिस काव्य में नाना प्रकार के (वाचक) शब्द तथा अर्थ (वाच्यार्थ) और इनके चारुत्व (सौन्दर्य) के हेतु (अलङ्कार) रसादिपरक (अर्थात् रसादि के अङ्ग) हुआ करते हैं, वहीं पर ध्वनि का विषय समझा जाया करता है।

अर्थात् रस, भाव-तदाभास और तत्प्रशमरूप मुख्य अर्थ के अनुगामी शब्द, अर्थ और उनसे सम्बन्धित अलङ्कार और गुण परस्पर तथा ध्वनि से भिन्नस्वरूप जहाँ (अनुगामी रूप में) स्थित रहा करते हैं उसी काव्य को ध्वनि-काव्य नाम से कहा जाया करता है।

इस भाँति रसादि की प्रधानता तथ रसवदादि अलङ्कारों की अप्रधानता सर्वत्र समझना चाहिये।

ध्वनि का विषय–

जब रस अङ्गी अथवा प्रधान हुआ करता है तब रसादिध्वनि हुआ करती है किन्तु जब 'रस' की स्थिति अप्रधान अथवा अङ्गरूप में हुआ करती है तब वह 'रसवत्' इत्यादि अलङ्कारों

की कोटि में आता है। यह बात तो प्रथम उद्योत में सोदाहरणरूप में स्पष्ट की जा चुकी है कि अलङ्कारों में ध्वनि के अन्तर्भाव की संभावना नहीं की जा सकती है। इसी भाँति रसवत् अलङ्कार में भी रसादि-ध्वनि का अन्तर्भाव होना संभव नहीं है। यह भी प्रथम उद्योत में पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि वस्तुध्वनि आदि का अन्तर्भाव समासोक्ति आदि अलङ्कारों में नहीं किया जा सकता है। सारांश में साररूप में यही कहा जाना उचित है कि 'ध्वनि' नामक तत्व एक पृथक् रूप में अपना अस्तित्व रखता है। अतः इस ध्वनि का अन्तर्भाव कहीं भी किया जा सकना संभव नहीं है।

वस्तुतः 'रस' तो सहृदय-व्यक्ति के हृदय में स्थित वासना की आनन्दमय परिणति है जो अथबोध से पृथक् है। इसी कारण उक्ति अथवा कथन द्वारा रस का प्रत्यक्षरूप से वाचन नहीं हुआ करता है, हाँ, अप्रत्यक्षरूप से उसकी प्रतीति अवश्य हुआ करती है। पारिभाषिक शब्दों में व्यंजना अथवा ध्वनन हुआ करता है। इसी कारण ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने उसे केवल 'रस' न कहकर 'रसध्वनि' ही कहा है।

ध्वनिवादी लोचनकार का कहना है कि 'रस' की 'अभिव्यक्ति' हुआ करती है, प्रतीति नहीं। इस अभिव्यक्ति का साधन है—"व्यंजना–वृत्ति" अथवा व्यंजना-नामक व्यापार। जब यह अभिव्यक्ति 'अङ्गी' अथवा प्रधानरूप में हुआ करती है तब उसे "ध्वनि" नाम से कहा जाया करता है, किन्तु जब यह 'अभिव्यक्ति' अप्रधान (अङ्गरूप) में हुआ करती है, तब उसे "रसवदादि अलङ्कार" नाम से कहा जाया करता है।

इसी बात को तृतीय कारिका में भी कहा जा चुका है तथा उसी तृतीय कारिका की विस्तृत-व्याख्या में रस-प्रक्रिया का भी साङ्गोपाङ्ग विवेचन हमारे द्वारा किया जा चुका है। भरतमुनि के "विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इस "रस-सूत्र" की भी विस्तृत विवेचना के साथ रस-निष्पत्ति सम्बन्धी चार प्रकार के प्रमुखवादों (१.भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद, २.शङ्कुक का अनुमितिवाद, ३.भट्ट-नायक का भुक्तिवाद, तथा ४.लोचनकार के अभिव्यक्तिवाद) का विस्तृत विवरण भी हमने प्रस्तुत किया है।

"काव्यप्रकाशकार मम्मट" ने रसवदलङ्कारों को अलङ्कारों के प्रसङ्ग में नहीं रखा है। उन्होंने रसवदलङ्कारों को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के प्रसङ्ग में निर्दिष्ट किया है। किन्तु ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य तथा लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त ने रसवदलङ्कारों को अलङ्कारों के ही रूप में माना है। इन दोनों का कहना है कि अलङ्कारों का प्रधान कार्य है—सौन्दर्य (चारुत्व) का सम्पादन करना। ऐसी स्थिति में रसादि को भी वस्तु की भाँति अलङ्कार मानने में कोई विरोध नहीं है।

ध्वनिकार की दृष्टि में गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा रसवदादि अलङ्कारों के भेद के समन्वय के लिये यह कहा जा सकना सम्भव है कि रसादिध्वनि के अपराङ्ग होने पर 'रसवत्' तथा 'प्रेय' अलङ्कार होंगे तथा वस्तु अथवा अलङ्कार ध्वनि के अपराङ्ग होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य होगा।

प्रस्तुत कारिका में आये हुये "वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनाम्" में वाच्यं च वाचकं च तच्चारूत्वहेतवश्च अथवा तयोः (वाच्यवाचकयोः) चारुत्वहेतवश्च, इति तेषाम्—इस प्रकार

द्वन्द्व समास ही किया जाना उचित है। अर्थात् वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) तथा उन शब्द और अर्थ के चारुत्व-हेतु। तात्पर्य यह हुआ कि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार। शब्द और अर्थ के चारुत्व (सौन्दर्य) के हेतु-अलङ्कार हुआ करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त "वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनाम्" में द्वन्द्व समास होने की सार्थकता भी स्पष्ट हो रही है।

प्रथम-उद्योत की तेरहवीं कारिका में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'रसध्वनि' की अभिव्यक्ति में शब्द तथा अर्थ दोनों ही कारण हुआ करते हैं किन्तु प्रधानता तो किसी एक की ही हुआ करती है।

प्रस्तुत कारिका के विषय को उपर्युक्त रूप में प्रस्तुत करने के पश्चात् यह निश्चित हो गया है कि "असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप ध्वनि" का विषय रसवदलङ्कारों से पूर्णतया भिन्न है। अब आगामी पंचम-कारिका में "रसवदलङ्कारों" के विषय को प्रस्तुत किया जा रहा है:—

ध्वन्यालोक

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिति मे मतिः।।५।।

रसवदलङ्कारों का विषयः–जिस (काव्य) में अन्य (अर्थात् अङ्गभूत रसादि से भिन्न, रस अथवा वस्तु अथवा अलङ्कार) अङ्गी अथवा प्रधान वाक्यार्थ हों, तथा उसमें रसादि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि) अङ्ग हों तो उस काव्य में रसादि अलङ्कार (रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित) हुआ करते हैं, यह मेरी सम्मति है।

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतयाऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः। तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते।

यद्यपि 'रसवत्' अलङ्कार का विषय अन्यो ने प्रदर्शित किया है फिर भी जिस काव्य में प्रधानरूप से कोई अन्य अर्थ (रस अथवा वस्तु अथवा अलङ्कार) वाक्यार्थ हो उस प्रधान अथवा मुख्य वाक्यार्थ के अङ्गभूत जो रसादि (हों) वे रसादि अलङ्कार के विषय हुआ करते हैं, यह मेरा अपना पक्ष है। जैसे—चाटु-वाक्यों अर्थात् चापलूसी के वचनों में 'प्रेय' नामक अलङ्कार (भायह ने गुरु, देव, राजा, पुत्रविषयक प्रेमवर्णन को 'प्रेय' अलङ्कार कहा है उस) के (मुख्य) वाक्यार्थ होने पर भी रसादि अङ्गरूप में दृष्टिगोचर होते हैं (वहाँ रसादि अलङ्कार होगा, यह मेरा अपना मत है।)।

लोचनम्

अन्यत्रेति। रसस्वरूपे वस्तुमात्रेऽलङ्कारतायोग्ये वा। मे मतिरित्यन्यपक्षं दूष्यत्वेन हृदि निधायाभीष्टत्वात्स्वपक्षं पूर्वं दर्शयति–तथापीति। स हि परदर्शितो विषयो भाविनीत्या नोपपन्न इति भावः। यस्मिन् काव्ये इति स्पष्टत्वेनासङ्गतं वाक्यमित्थं योजनीयम्–यस्मिन् काव्ये ते पूर्वोक्ता रसादयोऽङ्गभूता वाक्यार्थीभूतश्चान्योऽर्थः

चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे; तस्य काव्यस्य सम्बन्धिनो ये रसादोयऽङ्गभूतास्ते रसादेरलङ्कारस्य रसवदाद्यलङ्कारशब्दस्य विषयाः; स एवालङ्कार-शब्दवाच्यो भवति योऽङ्गभूतः, न त्वन्य इति यावत्। अत्रोदाहरणमाह–तद्यथेति। तदित्यङ्गत्वम्। यथात्र वक्ष्यमाणोदाहरणे, तथान्यत्रापीत्यर्थः। भामहाभिप्रायेण चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इतीदमेकं वाक्यम्। भामहेन हि गुरुदेवनृपतिपुत्रविषयप्रीतिवर्ण्णनं प्रेयोलङ्कार इत्युत्कम्। तत्र प्रेयानलङ्कारो यत्र स प्रेयोलङ्कारोऽलङ्करणीय इहोक्तः। न त्वलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वं युक्तम्। यदि वा वाक्यार्थत्वं प्रधानत्वम्। चमत्कारकारितेति यावत्। उद्भटमतानुसारिणस्तु भङ्क्त्वा व्याचक्षते–चाटुषु चाटुविषये वाक्यार्थत्वे चाटूनां वाक्यार्थत्वे प्रेयोलङ्कारस्यापि विषय इति पूर्वेण सम्बन्धः। उद्भटमते हि भावालङ्कार एव प्रेय इत्युक्तः, प्रेम्णा भावानामुपलक्षणात्। न केवलं रसवदलङ्कारस्य विषयः यावत्प्रेयः प्रभृतेरपीत्यपिशब्दार्थः। रसवच्छब्देन प्रेयःशब्देन च सर्व एव रसवदाद्यलङ्कारा उपलक्षिताः, तदेवाह–रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इति। उक्तविषय इति शेषः।

अन्यत्र—। रसस्वरूप, वस्तुमात्र अथवा अलङ्कारता के योग्य वाक्यार्थ। मेरी मति— इस कथन से दूसरे पक्ष को हृदय में दूषणीय मानकर, अभीष्ट होने के कारण अपने पक्ष को पहले दिखलाते दिखलाते हैं—तथापि—। भाव यह है कि वह परदर्शित विषय वक्ष्यमाण नीति के अनुसार उपपन्न नहीं है, जिस काव्य में यह स्पष्टरूप से असङ्गत वाक्य इस प्रकार लगाना चाहिये—जिस काव्य में वे पूर्वोक्त रसादि अङ्गभूत हों और अन्य अर्थ वाक्यार्थीभूत (प्रधान अर्थ) हो, ('च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है); उस काव्य के सम्बन्धी जो रसादि अङ्गभूत हैं, वे रसादि अलङ्कार के—रसवदादि—अलङ्कार शब्द के—विषय हैं; वही 'अलङ्कार' शब्द वाच्य होता है जो अङ्गभूत होता है न कि दूसरा। यहाँ उदाहरण कहते हैं—वह जैसा कि— । वह अर्थात् अङ्गत्व। अर्थात् जैसे यहाँ वक्ष्ययाण उदाहरण में, उसी प्रकार अन्यत्र भी। भामह के अभिप्राय से चाटु के विषयों में प्रेयोऽलङ्कार के वाक्यार्थ होने पर भी रसादि अङ्गभूत देखे जाते हैं' यह एक वाक्य है। क्योंकि भामह ने कहा है कि "गुरु, देवता राजा तथा पुत्र के विषय में प्रीति का वर्णन "प्रेयोऽलङ्कार" है।" 'प्रेयान्' (प्रियतम) जहाँ अलङ्कार है, वह 'प्रेयोऽलङ्कार' अलङ्करणीय यहा कहा गया है क्योंकि अलङ्कार का वाक्यार्थत्व ठीक नहीं। यदि अथवा वाक्यार्थत्व अर्थात् प्रधानत्व अथवा चमत्कारकारिता। उद्भट के मत का अनुगमन अथवा अनुसरण करने वाले लोग उक्त वाक्य का विभाजन अथवा छोटे-छोटे टुकड़े करके व्याख्यान करते हैं— चाटु अर्थात् चाटुकारी सम्बन्धी विषय के वाक्यार्थ होने पर 'प्रेयोऽलङ्कार' का भी विषय है, यह पहले से सम्बन्ध (अन्वय) है। क्योंकि उद्भट के मत में भावालङ्कार ही 'प्रेयस्' कहा गया है, प्रेम के भाव का उपलक्षण है। अथवा 'अपि' (भी) शब्द का अर्थ है कि न केवल रसवदलङ्कार का, अपितु प्रेयः इत्यादि अलङ्कार का भी विषय है। 'रसवत्' शब्द से तथा 'प्रेयस्' शब्द से सभी रसवदादि–अलङ्कार उपलक्षित हैं, उसी को कहते हैं—"रसादि अङ्गभूत देखे जाते हैं" यह उक्त विषय है।

मंजूआशुबोधिनी

पंचम कारिका में 'रसवदादि' अलङ्कारों के विषय का वर्णन करते हुये यह स्पष्ट किया गया है कि जिस काव्य में पूर्वोक्त रसादि अङ्गभूत हों तथा अन्य अर्थ वाक्यार्थीभूत (प्रधान-अर्थ) हो, उस काव्य से सम्बन्धित जो रसादि अङ्गभूत हैं वे रसादि अलङ्कार के अर्थात् 'रसवदादि-अलङ्कार' शब्द के विषय होते हैं। तात्पर्य यह है कि जो अङ्गभूत हुआ करता है वही 'अलङ्कार' शब्द द्वारा वाच्य होता है।

ये रसादि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास) तथा भावशान्ति आदि (आदि पद से भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता गृहीत होते हैं) किसी अन्य के अङ्गरूप में विद्यमान रहा करते हैं तभी ये क्रमश: रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित नामक अलङ्कार कहलाते हैं।

उपर्युक्त कारिका के विवरण में लोचनकार द्वारा ''तस्य चाङ्गभूता:'' में तस्य शब्द का अर्थ ''काव्यस्य सम्बन्धिनो ये रसादव:'' ऐसे किया है उसके स्थान पर यदि 'तस्य' शब्द का अर्थ इस प्रकार से कर लिया जाय तो वह अधिक सरल तथा सङ्गत होगा—''तस्य वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गभूता ये रसादय:''।

''तद्यथा चाटुषु'' इस अंश की व्याख्या में भी दो पक्ष दिखलाये गये हैं। भामह ने इस सबको एक वाक्य माना है तथा उद्भट के मतानुसार वाक्य के टुकड़े करके व्याख्या की गई है:—

''भामहाभिप्रायेण चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते इतीदमेकं वाक्यम्। ....उद्भटमतानुसारिणस्तु भङ्क्त्वा व्याचक्षते।'' अर्थात् भामह के अभिप्राय से तो यह एक ही वाक्य है कि चाटु अथवा प्रशंसा-विषयक स्थलों में ''प्रेय'' अलङ्कार की स्थिति हुआ करती है। अतएव वहाँ रसादि अङ्गभूत हो जाया करते हैं। 'भामह' के मत के अनुसार गुरु, देवता, नृपति (राजा) और पुत्र के सम्बन्ध में 'प्रीति' का वर्णन होने के कारण ''प्रेयोऽलङ्कार'' है। अतएव भामह के मतानुसार 'प्रेयोऽलङ्कार' का विग्रह होगा—''प्रेयान् अलङ्कारो यत्र''। अर्थात् जिस स्थल पर अति-प्रिय प्राणी अलङ्कार अथवा वर्णन का विषय हो वह ''प्रेयोऽलङ्कार'' है। ऐसी स्थिति में 'प्रेयोऽलङ्कार' वाक्यार्थ होने के कारण अलङ्कार न होकर स्वयं अलङ्करणीय होगा। वाक्यार्थ का अन्य अर्थ है प्रधान होना अर्थात् ''चमत्कारकारी'' होना।

भामह की उपर्युक्त व्याख्या के विरूद्ध उद्भट के मतानुयायी इसका वाक्यभेद करके इसकी व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि पूर्व वाक्य में 'रसवदलङ्कार' के विषय होने की चर्चा है तथा उत्तर-वाक्य में चाटुओं के वाक्यार्थ होने की स्थिति में प्रयोऽलङ्कार का भी विषय है, ऐसा कहा गया है। इस प्रकार की बात 'अपि' अथवा 'भी' शब्द के वाक्य में प्रयोग किये जाने से प्रतीत होता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि केवल 'रसवदलङ्कार' का ही विषय न होकर 'प्रेयोऽलङ्कार' का भी विषय है। उद्भट के मतानुसार भावालङ्कार (जिसमें 'रति' आदि भावों का वर्णन हो) ही 'प्रेय' नामक अलङ्कार है।

यद्यपि रसवदलङ्कार के विषय को अन्यों ने प्रदर्शित किया है किन्तु फिर भी जिस काव्य

में प्रधानरूप से कोई अर्थ (रस अथवा वस्तु अथवा अलङ्कार) वाक्यार्थ हो तो उस प्रधान वाक्यार्थ के अङ्गभूत जो रसादि हों तो वे रसवदादि अलङ्कार के विषय हुआ करते हैं, यह ग्रन्थाकार का अपना पक्ष है।

रसवत् तथा प्रेय शब्दों से ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भाव शवलता सहित सातों प्रकार के रसवदलङ्कारों का ग्रहण किया जाना है।

ध्वन्यालोकः

स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः सङ्कीर्णो वा। तत्राद्यो यथा–

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्करुण! प्रवासरुचिता? केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः।।

इत्यत्र करुणस्य शुद्धस्याङ्गभावात् स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम्। एवं विधे विषये रसान्तराणां स्पष्ट एवाङ्गभावः।

और वह रसवदादि अलङ्कार "शुद्ध" और "संकीर्ण" के भेद से दो प्रकार का होता है। जो अङ्गभूत अन्य रस अथवा अलङ्कार से मिश्रित नहीं है (अर्थात् जहाँ एक ही रस आदि प्रेयोऽलङ्कार अर्थात् गुरु, देव, नृपति, पुत्रविषयक प्रीति का अङ्ग है) वहाँ "शुद्ध" रसवदलङ्कार होता है। उनमें से प्रथम (अर्थात् शुद्ध रसवदलङ्कार का उदाहरण) जैसे—

(प्रस्तुत श्लोक में किसी राजा की स्तुति की गई है। भाव यह है कि तुमने अपने शत्रुओं का नाश कर डाला। उन (शत्रुओं) की स्त्रियाँ रात्रि के समय स्वप्न में अपने पति को देखकर और उनके गलों में हाथ डालकर कह रही हैं—) इस हँसी करने से क्या लाभ है? बहुत दिनों पश्चात् दर्शन हुये हैं। अब मैं जाने नहीं दूँगी। हे निष्ठुर! बतलाओ, प्रवास में (बाहर रहने की) तुम्हारी रूचि क्यों हो गयी है? तुमको किसने मुझसे पृथक् कर दिया है? स्वप्न में पति के कण्ठ का आलिङ्गन कर इस भाँति कथन करने वाली तुम्हारे शत्रुओं की स्त्रियाँ उठकर (प्रियतम के कण्ठग्रहण के लिये) अपने फैलाये हुये बाहुवलय को रिक्त (खाली) देखकर तारस्वर के साथ रुदन करती हैं अथवा ज़ोरों से रोती हैं।

प्रस्तुत उदाहरण में शुद्ध (किसी अन्य रस अथवा किसी अन्य अलङ्कार) से असङ्कीर्ण करुण रस (राजविषयक-प्रीति का) अङ्ग है। अतएव स्पष्ट ही 'रसवदलङ्कार' है। इसी भाँति इस प्रकार के अन्य उदाहरणों में अन्य रसों का भी अङ्गभाव स्पष्ट है।

लोचनम्

शुद्ध इति। रसान्तरेणाङ्गभूतेनालङ्कारान्तरेण वा न मिश्रः। आमिश्रस्तु सङ्कीर्णः। स्वप्नस्यानुभूतसदृशत्वेन भवनमिति हसन्नेव प्रियतमः स्वप्नेऽवलोकितः। न मे प्रयास्यसि पुनरिति। इदानीं त्वां विदितशठभावं बाहुपाशबन्धान्न मोक्ष्यामि। अतएव रिक्तबाहुवलय इति। स्वीकृतस्य चोपालम्भो युक्त इत्याह–केयं निष्करुणेति। केनासीति। गोत्रस्खलनादावपि न मया कदाचित्खेदितोऽसि। स्वप्नान्तेषु। स्वप्नायितेषु

सुप्तप्रलपितेषु पुनः पुनरुद्भूततया बहुष्विति वदन्युष्माकं सम्बन्धी रिपुस्त्रीजनः प्रियतमे विशेषेणासक्तः कण्ठग्रहो येन तादृश एव सन् बुद्ध्वा शून्यवलयाकारीकृतबाहुपाशः सन् तारं मुक्तकण्ठं रोदितीति। अत्र शोकस्थायिभावेन स्वप्नदर्शनोद्दीपितेन करुणरसेन चर्व्यमाणेन सुन्दरीभूतो नरपतिप्रभावो भातीति करुणः शुद्ध एवालङ्कारः। न हि त्वया रिपवो हता इति यादृगनलङ्कृतोऽयं वाक्यार्थस्तादृगयम्, अपि तु सुन्दरतरीभूतोऽत्र वाक्यार्थः, सौन्दर्यं च करुणरसकृतमेवेति। चन्द्रादिना वस्तुना यथा वस्त्वन्तरं वदनाद्यलङ्क्रियते तदुपमितत्वेन चारूतयावभासात्। तथा रसेनापि वस्तु वा रसान्तरं वोपस्कृतं सुन्दरं भाति इति रसस्यापि वस्तुन इवालङ्कारत्वे को विरोधः?

ननु रसेन किं कुर्वता प्रकृतोऽर्थोऽलङ्क्रियते। तर्हि उपमयापि किं कुर्वत्यालङ्क्रियेत। ननु तयोपमीयते प्रस्तुतोऽर्थः। रसेनापि तर्हि सरसीक्रियते सोऽर्थ इति स्वसंवेद्यमेतत्। तेन यत्केचिदचूचुदन् 'अत्र रसेन विभावादीनां मध्ये किमलङ्क्रियते' इति तदनभ्युपगमपराहतम्; प्रस्तुतार्थस्यालङ्कार्यत्वेनाभिधानात्। अस्यार्थस्य भूयसा लक्ष्ये सद्भाव इति दर्शयति—एवमिति। यत्र राजादेः प्रभावख्यापनं तादृश इत्यर्थः।

शुद्ध—। अर्थात् अङ्गभूत किसी रस अथवा किसी अलङ्कार से न मिला हुआ; और जो मिला हुआ (आमिश्र) है, वह सङ्कीर्ण है। अनुभव किये हुये के समान ही स्वप्न हुआ करता है, अतएव हँसते हुये ही प्रियतम को स्वप्न में देखा गया। फिर तुम मुझसे दूर नहीं जा सकते—। जब तुम्हारा शठभाव (छिपकर प्रतिकूल आचरण) जान लिया गया है तो इस प्रकार की स्थिति में बाहुपाश के बन्धन से नहीं छोड़ूँगी। अतएव रिक्तबाहुवलय—। अपने आदमी को उलाहना देना उचित है, अतएव कहते हैं—हे करुणाबिहीन! यह प्रवास में—। किसने—। कभी मैंने गोत्रस्खलन (अन्य प्रिय का नाम लेना) आदि द्वारा भी तुमको खिन्न नहीं किया है। स्वप्नान्त अर्थात् स्वप्न की स्थिति की दशा के प्रलापों में, बार-बार उत्पन्न होने के कारण बहुत से, इस भाँति प्रलाप करती हुई तुम्हारे शत्रुओं की स्त्रियाँ, प्रियतम में विशेष रूप से आसक्त किया है कण्ठग्रह को जिन्होंने, इस प्रकार की अवस्था में जगकर, बलय से रहित स्थिति को प्राप्त बाहुपाश वाली वे अधिकस्वर में अर्थात् मुक्तकण्ठ, रूदन करती हैं। इस स्थल पर शोक जिसका स्थायीभाव है तथा जो स्वप्नदर्शन से उद्दीपित ऐसे चर्वित होते हुये करुण रस से सुन्दर बना राजा का प्रभाव शोभमान् होता है, इस भाँति करुण शुद्ध अवस्था में ही अलङ्कार है। 'तुमने अपने शत्रुओं को मार डाला है' यह जिस प्रकार का अलङ्कारहीन वाक्यार्थ है, उस प्रकार का यह नहीं है, अपितु यहाँ सुन्दरतर वाक्यार्थ बन पड़ा है तथा सौन्दर्य करुण रस के द्वारा ही है। चन्द्र आदि पदार्थों से उस प्रकार दूसरा पदार्थ मुख आदि अलङ्कृत होता है, क्योंकि चन्द्र द्वारा उपमित होने से वह सुन्दररूप में ज्ञात होने लगा करता है। उसी भाँति रस से भी वस्तु अथवा अन्य रस उपस्कृत होकर सुन्दर हो जाया करता है, इस भाँति रस का भी, वस्तु की भाँति, अलङ्कार होने में क्या विरोध है?

शङ्का—क्या करता हुआ रस प्रकृत अर्थ को अलङ्कृत करता है? (समाधान में प्रश्न

करते हैं कि) क्या करती हुई उपमा अलङ्कृत करती है? यदि यह कहें कि प्रस्तुत अर्थ उसके द्वारा उपमित किया जाता है। तब तो यह स्वयं ही समझा जा सकता है कि रस के द्वारा भी वह अर्थ सरस किया जाता है। अतएव, जो कि कुछ लोगों ने कहा है—'यहाँ रस के द्वारा विभाव आदि के बीच किसे अलङ्कृत किया जाय?' यह अमान्य होने के कारण निराकृत है। क्योंकि प्रस्तुत अर्थ को अलङ्कार्य कहा गया है। इस अर्थ का अनेक प्रकार से लक्ष्य में सद्भाव है, यह दिखलाते हैं—। इस प्रकार—। अर्थात् जहाँ राजा आदि के प्रभाव का व्यापन हो वैसा।

मंजूआशुबोधिनी

वह 'रसवदादि' अलङ्कार दो प्रकार का होता है (१) शुद्ध (२) सङ्कीर्ण। जो अङ्गभूत अन्य रस अथवा अलङ्कार से मिश्रित नहीं है अर्थात् जहाँ एक ही 'रस' आदि प्रेयोऽलङ्कार अर्थात् गुरु, देव, नृपति, पुत्रविषयक प्रीति का अङ्ग है वहाँ "शुद्ध नामक रसवदलङ्कार" होता है। किन्तु जहाँ अवयव-अवयवी भाव से अन्य का मिश्रण होता है वहाँ "सङ्कीर्ण" नामक रसवदलङ्कार होता है।

अब शुद्ध-रसवदलङ्कार का उदाहरण कहते हैं—"किं हास्येन" इत्यादि—इस पद्य में कोई चाटुकार (चापलूस) प्रशंसा के द्वारा राजा को प्रसन्न करते हुये कहता है—हे राजन्! आपके शत्रुओं की स्त्रियाँ स्वप्न में हँसते हुये अपने पतियों को देखकर कहती हैं—अब व्यर्थ में हास्य-विनोद करने से क्या लाभ? पर्याप्त दिनों के पश्चात् आज आप भाग्यवश ही मिलगये हो, अब मेरी भुजाओं के पाश में आप जकड़े हुये हो, अतएव भाग नहीं सकते हो। हे निर्दय! प्रवास में रहने के कारण आपका स्वभाव कैसा हो गया है? किसने आपको मुझ से इतनी दूर कर दिया? इस भाँति स्वप्न में प्रियतम के कण्ठ से लिपटकर बोलती हुई शत्रु-स्त्री, अपने भुजापाश को प्रियतम से खाली पाकर बहुत तीव्र वेग के साथ रोने लगी।

इस स्थल पर स्वप्नदर्शन से उद्दीप्त शोक-स्थायीभाव वाला करुणरस प्रशंसा किये जाते हुये राजा के पराक्रमातिशयरूप वस्तु का अङ्ग बन गया है। अतएव यह 'शुद्धरसवदलङ्कार' है।

इसी प्रकार वस्तुप्रधानात्मक चाटु स्थलों में अन्य रसों का भी अङ्गभाव स्पष्ट है।

ध्वन्यालोकः

सङ्कीर्णो रसादिरङ्गभूतो यथा—

सङ्कीर्ण रसादि भी अङ्गरूप हुआ करता है। जैसे—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः।।

पराई स्त्री के तत्कालकृत संसर्ग के अपराधी कामुक पुरुष के सदृश त्रिपुरदाह के समय शिवजी के बाण से उत्पन्न भीषण बाणाग्नि तुम्हारे पापसमूह को अथवा दुःखों को जला देवे अथवा दूर करे। श्लेष अलङ्कार द्वारा यहाँ दोनों के विशेषणों को बतलाते हैं—भय अथवा क्रोध के कारण अश्रुधारा से युक्त नेत्रकमल वाली त्रिपुरासुर की तरुणियों के द्वारा हाथ का स्पर्श करने

पर झटक दिया गया अथवा (कामुक पक्ष में—तिरस्कृत किया गया) जोर से ताड़ित करने पर वस्त्र के छोर को पकड़ने पर दूर हटाया गया अथवा ताड़ित किया गया, केशों को पकड़ते समय दूर हटाया गया, अथवा फटकारा गया, पैरों पर गिरने अथवा प्रणत होने पर भय अथवा घबराहट के कारण नहीं देखा गया, स्पर्श करने अथवा आलिङ्गन करने का प्रयत्न करने पर प्रक्षिप्त किया गया अथवा भर्त्सित किया गया, इस प्रकार की बाणाग्नि अथवा कामुक पुरुष।

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे, ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहित-स्याङ्गभाव इति।

प्रस्तुत श्लोक में त्रिपुरारि (शिव) के प्रभावातिशय के ही चमत्कारी होने से वाक्यार्थ-बोध का प्रधान विषय प्रतीत होता है तथा उक्त श्लेषमिश्रित ईर्ष्याविप्रलम्भ (और करुण) – शृंगार उसका अङ्ग है। अतएव यहाँ संकीर्ण रसादि अङ्ग हैं।

एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य न्याय्यो विषयः। अतएव चेर्ष्याविप्रलम्भ-करुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात्समावेशो न दोषः।

इसी भाँति के उदाहरण रसवदलङ्कार के उचित विषय होते हैं। अतएव यहाँ ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण दोनों (विरोधी-रसों) के अङ्गरूप में स्थित होने से दोष नहीं है।

यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम्? अलङ्कारो हि चारुत्व-हेतुः प्रसिद्धः। न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्व हेतुः। तथा चायमत्र संक्षेपः–

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्।।

तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वो न रसादेरलङ्कारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः। तस्योपमादयोऽलङ्काराः। यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते स रसादेरलङ्कारताया विषयः।

जहाँ रस का वाक्यार्थी भाव (प्राधान्य) है वहाँ कैसे (उसका) अलङ्कारत्व होगा? क्योंकि चारुत्व के हेतु को ही अलङ्कार कहा जाता है। वह स्वयं ही अपना चारुत्व हेतु हो, यह तो होना संभव ही नहीं है। अतएव इसका सारांश यह हुआ कि—

रस, भाव आदि के तात्पर्य से (अर्थात् रसभावादि को प्रधान मानकर उनके अङ्गरूप में) अलङ्कारों की स्थिति ही सभी अलङ्कारों के अलङ्कारत्व (चारुत्वहेतु) साधक है।

अतएव जहाँ रसादि वाक्यार्थीभूत (अर्थात् प्रधानतया बोधित) होते हैं, वे सभी स्थल रसादि अलङ्कार के विषय नहीं (अपितु) वे ध्वनि (रसादिध्वनि) के भेद हैं। उसके (रसादिध्वनि के चारुत्वहेतु) उपमादि अलङ्कार होते हैं। और जहाँ प्राधान्येन कोई अन्य अर्थ वाक्यार्थी भूत हो और रसादि उसके चारुत्व का सम्पादन करते हैं वह रसादि अलङ्कार का विषय है।

लोचनम्

क्षिप्त इति। कामिपक्षेऽनादृतः, इतरत्र धुतः। अवधूत इति न प्रतीप्सितः प्रत्यालिङ्गनेन, इतरत्र सर्वाङ्गधूननेन विशरारुकृतः। साश्रुत्वमेकत्रेर्ष्यया अन्यत्र निष्प्रत्याशतया। कामीवेत्यनेनोपमानेन श्लेषानुगृहीतेनेर्ष्याविप्रलम्भो य आकृष्टस्तस्य

श्लेषोपमासहितस्याङ्गत्वम्, न केवलस्य। यद्यप्यत्र करुणो रसो वास्तवोऽप्यस्ति। तथापि स तच्चारुत्वप्रतीत्यै न व्याप्रियत इत्यनेनाभिप्रायेण श्लेषसहितस्येत्येतावदेवावोचत्, न तु करुणसहितस्येत्यपि। एतमर्थमपूर्वतयोत्प्रेक्षितं द्रढीकर्तुमाह–एवंविध एवेति। अतएवेति। यतोऽत्र विप्रलम्भस्यालङ्कारत्वं न तु वाक्यार्थता; अतो हेतोरित्यर्थः। न दोष इति। यदि ह्यन्यतरस्य रसस्य प्राधान्यमभविष्यन्न द्वितीयो रसः समाविशेत्। रतिस्थायिभावत्वेन तु सापेक्षभावो विप्रलम्भः, स च शोकस्थायिभावत्वेन निरपेक्षभावस्य करुणस्य विरुद्ध एव। एवमलङ्कारशब्दप्रसङ्गेन समावेशं प्रसाध्य एवंविध एवेति यदुक्तं तत्रैवकारस्याभिप्रायं व्याचष्टे–यत्र हीति। सर्वासामुपमादीनाम्।

अयं भावः। उपमादीनामलङ्कारत्वे यादृशी वार्ता तादृश्येव रसादीनाम्। तदवश्यमन्येनालङ्कार्येण भवितव्यम्। तच्च यद्यपि वस्तुमात्रमपि भवति, तथापि तस्य पुनरपि विभावादिरूपतापर्यवसानाद्रसादितात्पर्यमेवेति सर्वत्र रसध्वनेरेवात्मभावः। तदुक्तं–रसभावादितात्पर्यमिति। तस्येति। प्रधानस्यात्मभूतस्य। एतदुक्तं भवति–उपमया यद्यपि वाच्योऽर्थोऽलङ्क्रियते, तथापि तस्य तदेवालङ्करणं यद्व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जनसामर्थ्याधानमिति वस्तुतो ध्वन्यात्मैवालङ्कार्यः। कटककेयूरादिभिरपि हि शरीरसमवायिभिश्चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतयालङ्क्रियते। तथाहि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्। यतिशरीरंकटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्। न हि देहस्य किञ्चिदनौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवालङ्कार्यः, अहमलङ्कृत इत्यभिमानात्। रसादेरलङ्कारताया इति। व्यधिकरणषष्ठ्यौ रसादेर्यालङ्कारता तस्याः स एव विषयः। एतदनुसारेणैव पूर्वत्रापि वाक्ये योज्यम्, रसादिकर्तृकस्यालङ्करणक्रियात्मनो विषय इति।

क्षिप्त—। कामी के पक्ष में अनादृत और अन्यत्र (बाणाग्नि के पक्ष में) झटका गया। अवधूत अर्थात् प्रत्पालिङ्गन द्वारा प्रत्यभिलषित न हुआ, अन्यत्र पक्ष में सभी अङ्गों के झकझोरने से विशीर्ण किया गया। सजल नेत्र होना, एक जगह ईर्ष्या के कारण और अन्यत्र प्रत्याशारहित होने के कारण। 'कामी की भाँति' इस श्लेष अलङ्कार—द्वारा अनुगृहीत उपमान से ईर्ष्याविप्रलम्भ, जो खिंचकर जाता है जाता है, श्लेषोपमासहित वह 'ईर्ष्याविप्रलम्भ' यहाँ अङ्ग बन रहा है, अकेला नहीं। यद्यपि यहाँ करुण रस भी वास्तव में है, लेकिन वह उस (विप्रलम्भ) के चारुत्व की प्रतीति के लिये, नहीं लगता है, इस अभिप्राय से 'श्लेषसहित' इतना ही कहा है, न कि 'करुणसहित' यह भी (कहा है)। अपूर्व ढंग से उत्प्रेक्षित इस बात को दृढ़ करने के लिये कहते हैं—इस प्रकार ही—। इसीलिये—। अर्थात् जिस कारण यहाँ विप्रलम्भ का अलङ्कारत्व है, न कि वाक्यार्थत्व है उस कारण। दोष नहीं है—। क्योंकि यदि दो में से किसी एक रस का प्राधान्य होता तो दूसरा रस समावेश प्राप्त नहीं करता। 'रति' जिसका स्थायीभाव है, इस कारण विप्रलम्भ सापेक्षभाव है और 'शोक' जिसका स्थायीभाव है ऐसा करुण निरपेक्षभाव है, अतः करुण विप्रलम्भ से विरुद्ध ही है। इस प्रकार 'अलङ्कार' शब्द के प्रसङ्ग से समावेश की बात तय करके 'इस प्रकार ही' यह जो कहा है उसके 'ही' कहने

अभिप्राय की व्याख्या करते हैं—क्योंकि जहाँ—। सभी उपमा आदि का।

भाव यह है—उपमा आदि के अलङ्कार होने में जो बात है वही रसादि के (अलङ्कार होने में है)। अतएव अवश्य कोई अन्य अलङ्कार्य होना चाहिये। और वह (अलङ्कार्य) यद्यपि वस्तुमात्र भी हो सकता है तथापि उसके पुनः भी विभावादिरूपता में पर्यवसान होने के कारण, रसादि तात्पर्य ही सिद्ध होता है, ऐसी स्थिति में सर्वत्र 'रसध्वनि' का ही आत्मत्व है। इसी दृष्टि से कहा है—रस, भाव आदि के तात्पर्य०। उसका—। प्रधान, आत्मभूत का। बात यह कही गई—उपमा से यद्यपि वाच्य अर्थ अलङ्कृत होता है तथापि उस वाच्यार्थ का वही अलङ्करण है जो व्यङ्ग्य-अर्थ के अभिव्यंजन-सामर्थ्य का प्रधान है, इस प्रकार वस्तुतः ध्वनि रूप ही अलङ्कार्य है (वाच्यार्थरूप नहीं)। क्योंकि शरीर के साथ सम्बन्ध रखने वाले कटक, केयूर आदि अलङ्कार भी उस—उस विशेष चित्तवृत्ति के औचित्य के सूचक होने के कारण (क्योंकि जैसे किसी युवक के शरीर के अलङ्कार उसके चित्त के रागी होने के औचित्य के सूचक होते हैं, इसी प्रकार किसी साधू के दण्ड-कमण्डल आदि उसके विराग के सूचक होते हैं) चेतनस्वरूप आत्मा को ही अलङ्कृत करते हैं। जैसा कि—चेतनारहित शव-शरीर कुण्डल आदि अलङ्कारों से युक्त होने पर भी शोभा को प्राप्त नहीं हुआ करता है क्योंकि उसमें अलङ्कार्य (आत्मा) का आभाव है और साधु का शरीर कटक आदि अलङ्कारों से युक्त होने पर भी हास्य (खिल्ली) का पात्र बना करता है क्योंकि अलङ्कार्य का वहाँ औचित्य नहीं है (वहाँ तो दण्ड-कमण्डल का ही रहना उचित है।) शरीर का कोई अनौचित्य नहीं। इस भाँति वस्तुतः आत्मा ही अलङ्कार्य है क्योंकि यह अभिमान होता है कि "मैं अलङ्कृत हूँ।" 'रसादि की अलङ्कारता' का यहाँ व्यधिकरण षष्ठी-विभक्ति है अर्थात् रसादि की जो अलङ्कारता है, उस (अलङ्कारता) का वही विषय है। इसे के अनुसार प्रथम वाक्य में भी योजना कर लेनी चाहिये—'रसादिकर्तृक अलङ्करण-क्रिया का विषय' इति।

मंजूआशुबोधिनी

सङ्कीर्ण रसवदलङ्कार का उदाहरण-सङ्कीर्ण रस आदि भी अङ्गरूप होता है। जैसे—

त्रिपुरदाह के समय शिव जी के बाण से उत्पन्न, त्रिपुर की तरुणियों द्वारा, आर्द्रापराध अर्थात् तत्कालकृत अन्यों की स्त्रियों के उपभोग आदि अपराध से युक्त कामी पुरुष के सदृश, हाथ का स्पर्श करने पर झटक दिया गया, ज़ोर से ताड़ित करने पर भी वस्त्र के छोर को पकड़ता हुआ, बालों को पकड़ते समय हटा दिया गया, चरणों में पड़ा हुआ होने पर भी क्रोध अथवा घबराहट के कारण न देखा गया तथा आलिङ्गन करने हेतु प्रयत्न करने पर अश्रुधाराओं से परिपूर्ण नेत्रकमलवाली (कामीपक्ष में—डाह (ईर्ष्या) के कारण, अग्निपक्ष में—बचाव की आशा से रहित होने के कारण रुदन करती हुई), त्रिपुर की युवतियों द्वारा तिरस्कृत (कामी के पक्ष में—प्रत्यालिङ्गन द्वारा स्वीकृत न करके तथा अग्नि पक्ष में—सम्पूर्ण शरीर को झटककर फेंका गया) शिवजी के बाण की अग्नि तुम्हारे दुःखों को दूर करे।

प्रस्तुत श्लोक में त्रिपुरारि (शिव) के अत्यधिक प्रभाव सम्बन्धी मुख्य वाक्यार्थ के होने पर श्लेषसहित ईर्ष्याविप्रलम्भ तथा करुण उसका अङ्ग है। इसी दृष्टि से इस स्थल पर सङ्कीर्ण रस आदि अङ्ग है।

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी 'रसवदलङ्कार' के उपयुक्त विषय हुआ करते हैं। अतएव प्रस्तुत श्लोक में ईर्ष्याविप्रलम्भ तथा करुण दोनों विरोधी रसों के अङ्गरूप में विद्यमान होने के कारण दोष नहीं है।

जिस स्थल पर रस का वाक्यार्थत्व है (अर्थात् जहाँ रस की प्रधानता है), उस स्थल पर तो वह अलङ्कार्य है, अलङ्कार नहीं। इसीलिये वह ध्वनि है, रसवदलङ्कार नहीं। वहाँ उसको रसवत् अलङ्कार किस भाँति मान लिया जाय? (अर्थात् माना जाना संभव नही है।) क्योंकि चारुत्व हेतु को ही अलङ्कार कहा जाता है। वह स्वयं ही अपना चारुत्व हेतु (अर्थात् प्रधान होने के कारण स्वयं ही अलङ्कार्य है तथा रसवदलङ्कार होने के कारण चारुत्व हेतु भी) हो, ऐसा होना संभव ही नहीं है। अतएव सारांशरूप में यही कहना उचित होगा कि—

"रस, भाव आदि के तात्पर्य से (कहने का अभिप्राय यह है कि रस, भावादि को प्रधान मानकर उनके अङ्गरूप में) अलङ्कारों की स्थिति ही सभी अलङ्कारों के अलङ्कारत्व (चारुत्व हेतु) का साधक है।"

अतएव जिस स्थल पर रसादि वाक्यार्थीभूत (अर्थात् प्रधानतया बोधित) हुआ करते हैं, वह सभी स्थल रसादि अलङ्कार के विषय नहीं (अपितु) वे ध्वनि (अर्थात् रसादिध्वनि) के भेद हुआ करते हैं। उसके (रसादिध्वनि के चारुत्व हेतु) उपमा इत्यादि अलङ्कार होते हैं। और जिन स्थलों पर प्राधान्येन कोई अन्य अर्थ वाक्यार्थीभूत हो तथा रस आदि उसेक चारुत्व का सम्पादन करें तो वह रसादि अलङ्कार का विषंय हुआ करता है।

"क्षिप्तः हस्तावलग्नः" इत्यादि श्लोक में कविनिष्ठ शिवविषयक भक्ति ही प्रधानरूप से व्यज्यमान है। साथ ही शिवजी का त्रिपुरदाह सम्बन्धी उत्साह उसका पोषक है। किन्तु यह 'उत्साह' नामक भाव विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा पूर्णरूप से पुष्ट न होने के कारण परिपक्वरस के रूप को धारण नहीं कर सका है और वह "भाव" पात्र ही रह गया है। पतियों के मारे जाने पर 'अग्नि' की इस आपत्ति में पड़ी हुई त्रिपुर की स्त्रियों के वर्णन से प्रकट हो रहा करुणरस उस उत्साह भाव का अङ्ग है। और "कर्मबार्द्रापराधः" में प्रदर्शित कामीव्यक्ति की समानता से उपमा द्वारा प्रतीत होने वाला शृङ्गार रस उस करुण रस का अङ्ग है। किन्तु यह करुण भी विश्रान्ति का अन्तिम स्थल नहीं है अपितु उत्साह भाव का अङ्ग है। ऐसी स्थिति में करुण एवं शृङ्गार दोनों ही उत्साहपोषित शिवसम्बन्धी "रतिप्रीतिरूप" भाव के अङ्ग हैं। ग्रन्थकार ने तो केवल "श्लेषसंहितस्य ईर्ष्याविप्रलम्भस्य अङ्गभावः" ही कहा है। इस अङ्गभाव में 'करुण' को नहीं दिखलाया है। वस्तुतः ग्रन्थकार का तो अभिप्राय केवल यही है कि चारुत्व के बढ़ाने में उसका योग अधिक नहीं है। इसी दृष्टि से उन्होंने लिखा है कि—"श्लेषसहितस्य ईर्ष्याविप्रलम्भस्य"।

रसों का परस्पर विरोधाविरोध–कुछं रस इस प्रकार के हैं कि जिनका साथ-साथ वर्णन किया जा सकता है, कुछ इस प्रकार के हैं कि जिनका साथ-साथ वर्णन नहीं किया जा सकता है। ऐसे विरोधी रसों में शृंगाररस का करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स तथा भयानक के साथ विरोध माना गया है, "आद्यः करुण वीभत्स रौद्र वीरभयानकैः"। अतएव करुण तथा शृङ्गार रसों का एक साथ वर्णन नहीं किया जा सकता है। किन्तु प्रस्तुत श्लोक में करुण एवं शृङ्गार

दोनों रसों का वर्णन विद्यमान है। इसी के समाधान हेतु ग्रन्थकार ने "अतएव चेष्टीविप्रलम्भकरुण-योरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् समावेशो न दोष:" ऐसा लिखा है।

रसों के इस प्रकार के विरोध के तीन प्रकार हैं। किन्हीं रसों का विरोध आलम्बन ऐक्य में हुआ करता है। किन्ही का आश्रय सम्बन्धी ऐक्य में तथा किन्हीं का नैरन्तर्य विरोध-उत्पादक है। जैसे—शृङ्गार तथा वीर-रस का आलम्बन के ऐक्य से विरोध है; एक ही आलम्बन विभाव के द्वारा शृङ्गार तथा वीर—दोनों रसों का परिपोष हो नहीं सकता है। इसी भाँति हास्य, रौद्र और वीभत्स के साथ सम्भोग-शृङ्गार का तथा वीर, करुण, रौद्रादि के साथ विप्रलम्भ–शृङ्गार का आलम्बन विभाव के ऐक्य के साथ विरोध है।

वीर और भयानक रस का आश्रय ऐक्य से विरोध है। एक ही आश्रय व्यक्ति में एक साथ वीर और भयानक के स्थायिभाव-भय तथा उत्साह उद्भूत हो नहीं सकते हैं। इसी भाँति शान्त और शृङ्गार रसों का नैरन्तर्य विरोध-उत्पादक है। अर्थात् शृङ्गार से अव्यवहित शान्तरस का वर्णन दोषोत्पादक है। यह तो हुई रसों के विरोध की बात। उपर्युक्त रूपों में रस एक-दूसरे के विरोधी अथवा शत्रु हैं। किन्तु शृङ्गाररस का अद्भुत के साथ, भयानक-रस का वीभत्स-रस के साथ, वीर-रस का अद्भुत तथा रौद्र-रस के साथ किसी भाँति का विरोध नहीं है। न तो आलम्बन के ऐक्य से, न आश्रय की समानता से और न नैरन्तर्ग से। अतएव इनको 'मित्ररस' नाम से कहा जा सकता है।

सङ्कीर्ण रसवदलङ्कार के उदाहरण "क्षिप्त:" इत्यादि पद्य में पतियों के मर जाने के कारण 'अग्नि' की विपत्ति में पड़ी हुई त्रिपुर की सुन्दरियाँ करुण-रस सम्बन्धी आलम्बनविभाव हैं। तथा "कमीवार्द्रापराध:" में 'कमीव' इस उपमा का सम्बन्ध भी उन्हीं के साथ होने से शृङ्गार-रस की आलम्बनविभाव भी वे (सुन्दरियाँ) ही हैं। इस भाँति इस स्थल पर करुण रस और विप्रलम्भ-शृङ्गार रस—दोनों के आलम्बन के ऐक्य का वर्णन किया गया है। किन्तु आलम्बनैक्य के कारण ही इन दोनों रसों का विरोध भी है। इस दृष्टि से उक्त पद्य में अनुचित रसवर्णन किया गया है। इस स्थल पर की गई उक्त शङ्का का समाधान भी यही है कि उपर्युक्त दोनों विरोधी-रस अङ्गरुप में स्थित हैं, अतएव ऐसा होने से यहाँ कोई दोष नहीं आता है।

परस्पर विरोधीरसों के अविरोध–सम्पादन का उपाय–यदि दो विरोधी रसों का स्मरणात्मक वर्णनमात्र हो, अथवा दोनों का समभाव से अर्थात् गुणप्रधान भावरहित वर्णन हो, अथवा दोनों विरोधी रस यदि किसी तीसरे के अङ्गरूप में वर्णित हों तो इन तीनों दशाओं में उक्त विरोधी रसों का एक साथ किया गया वर्णन भी दोषोत्पादक नहीं हुआ करता है, ऐसा सिद्धान्त है:—

विरोधिनोऽपि स्मरणे साम्येन वचनेऽपि वा।
भवेद् विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयो:।। (साहित्यदर्पण ७।३०।।)

उपर्युक्त "क्षिप्त:" इत्यादि श्लोक में करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गार—दोनों उत्साह परिपोषित भगवद्विषयक रति—भक्ति के अङ्ग हैं। अत: इन दोनों का एक साथ वर्णन दोषोत्पादक नहीं है। इसी भाव को ध्वनिकार ने "विप्रलम्भकरुण-योरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् सम.ावेशो न दोष:" यह लिखकर स्पष्ट किया है।

उपर्युक्त श्लोक में त्रिपुरदाह के अग्निकाण्ड का वर्णन प्रस्तुत है, यह एक पौराणिक कथा पर आधारित है। वह कथा इस प्रकार है कि तारकासुर नामक एक विख्यात असुर था। उसके तीन पुत्र थे (१) तारकाक्ष, (२) विद्युन्माली और (३) कमललोचन। इन तीनों ने ब्रह्मा तथा शिव को प्रसन्न करने हेतु महान् घोर तप किया। ब्रह्मा तथा शिव प्रसन्न हो गये। फिर इन तीनों ने उनसे अन्तरिक्ष सम्बन्धी तीनों पुरों का अधिकार प्राप्त कर लिया। बाद में वे तीनों अधिकार के मद में मत्त हो गये तथा नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे। ऐसी स्थिति में विष्णु के नेतृत्व में सभी देवता शिव के पास पहुँचे तथा उन तीनों के विनाशार्थ शिव जी से प्रार्थना की। देवताओं की प्रार्थना को स्वीकार कर शिव जी ने एक बाण छोड़ा जिसके परिणामस्वरूप वे तीनों पुर (त्रिपुर) आग्नि से प्रज्वलित हो उठे तथा भस्म होकर विनाश को प्राप्त हो गये। उसी समय से शिव का 'त्रिपुरारि' नाम भी पड़ गया। प्रस्तुत श्लोक में उसी अग्निकाण्ड का वर्णन है।

सञ्चारिरस अथवा खण्डरस–रसों के अङ्गाङ्गिभाव तथा विरोध का वर्णन संक्षेप में ऊपर किया जा चुका है। इसके सम्बन्ध में ऐसी मान्यता है कि 'रस' तो समूहालम्बनात्मक तथा ब्रह्मानन्दसहोदर है। ऐसी स्थिति में दो रसों का एक ही स्थान पर समावेश अथवा प्रादुर्भाव संभव ही नहीं है। अत: उनके अङ्गाङ्गिभाव अथवा विरोध का उपपादन किस भाँति होगा? इसका उत्तर यह है कि आपका कथन ठीक है। अतएव ऐसे अपूर्ण रसों को 'रस' न कहकर प्राचीन लोगों ने 'सञ्चारिरस' नाम से कहा है तथा चण्डीदास ने उनको ''खण्डरस'' नाम से कहा है:—

अङ्ग वाध्योऽथ संसर्गो यद्यङ्गी स्याद्रसान्तरे ।
नास्वाद्यते समग्रं तत्ततः खण्डरसः स्मृतः ।। (सा०द० ७।।)

रसवदलङ्कारों के सम्बन्ध में मतभेद–चतुर्थ कारिका में रसवदलङ्कारों का वर्णन करते हुये ग्रन्थकार ने लिखा है कि ''काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मति।''अर्थात् जिस स्थल पर कोई अन्य मुख्य वाक्यार्थ हो तथा 'रस' आदि अङ्गरूप में वर्णित हों तो वहाँ रसादि अलङ्कार होता है, यह मेरी सम्मति है ''मे मति:'' शब्द इस बारे में मतभेद का सूचक है। इसी की वृत्ति में वृत्तिकार ने भी ''यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषय:'' लिखकर उपर्युक्त मतभेद को और स्पष्ट कर दिया है। यह मतभेद दो रूपों में उपलब्ध होता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि अलङ्कार तो कटककुण्डल के सदृश हैं, वे साक्षात् वाच्यार्थ तथा वाचक शब्द के उपकारक हुआ करते हैं तथा परम्परया 'रस' के भी उपकारक हो जाते हैं। जिस भाँति कटककुण्डल साक्षात् शरीर के उपकारक हुआ करते हैं तथा शरीर द्वारा आत्मा के भी उपकारक होने से 'अलङ्कार' कहे जाते हैं। अतएव—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।। (काव्य प्र० ८।२।।)

इत्यादि अलङ्कार के लक्षणों में अनुप्रास एवं उपमादि को अङ्ग अर्थात् शब्द तथा अर्थ द्वारा ही रस का उपकारक माना है। किन्तु रसवदलङ्कार वाच्य (अर्थ) अथवा वाचक (शब्द)

के उपकारक न होकर साक्षातरूप से रस आदि के ही उपकारक हुआ करते हैं। अतएव उन (रसवदलङ्कारों) में अलङ्कारों का लक्षण ही नहीं घटता है। ऐसी स्थिति में यह कहना ही उपयुक्त होगा कि "रसवदलङ्कार" होते ही नहीं हैं। अतएव जिन दशाओं में रसादि अन्य के अङ्ग हुआ करते हैं, वहाँ ये लोग 'रसवदलङ्कार' न मानकर उनको "गुणीभूतव्यङ्ग्य" ही कहते हैं। कुछ अन्य लोगों ने रसवदलङ्कारों के सम्बन्ध में उठाई गई उपर्युक्त आपत्ति का विभिन्न रूपों में परिष्कार कर रसवदलङ्कारों की मान्यता को स्वीकार किया है।

रसवदलङ्कार और गुणीभूतव्यङ्ग्य–यह वास्तविकता है कि अलङ्कार साक्षत् शब्द और अर्थ के ही उपकारक हुआ करते हैं। और गुणीभूतरस शब्द एवं अर्थ के उपकारक न होकर साक्षात् किसी अन्य रस के उपकारक हुआ करते हैं। अतएव रसवदलङ्कारों मेंअलङ्कार का सामान्य लक्षण न घटने के कारण उन्हें "गुणीभूतव्यङ्ग्य" कहना ही उचित होगा। इस सिद्धान्त में विश्वास रखने वालों का कहना है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दो ही वस्तु हैं। इन दोनों से भिन्न रसवदलङ्कार नामक कोई तीसरी वस्तु नहीं है। किन्तु ध्वनिकार ने रसवदलङ्कारों तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य—दोनों को माना है। इनके मतानुसारर रसादिध्वनि के अपराङ्ग होने में रसवत् तथा प्रेयोऽलङ्कार तथा वस्तु अथवा अलङ्कारध्वनि के अपराङ्गादि होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य मानने पर ही दोनों का समन्वय हो सकना संभव है।

ध्वनि, उपमादि और रसवदलङ्कारः–रसवदलङ्कारों के विषय में द्वितीय मतभेद जिसकी ओर कारिका तथा वृत्ति दोनों में ही संकेत किया गया है उसका स्वरूप यह है कि कुछ लोग (१) चेतन के वाक्यार्थीभूत होने पर रसवदलङ्कार तथा (२) अचेतन के वाक्यर्थीभूत होने पर उपमादि अलङ्कार मानते हैं। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि अचेतन के वाक्यर्थीभूत होने पर उसमें चित्त-वृत्तिरूप रसादि की संभावना न होने के कारण उनके वर्णन में रसवदलङ्कार की संभावना नहीं की जा सकती है। इसलिये उनको उपमा आदि अलङ्कार का विषय तथा चेतन के वाक्यार्थी भाव से रसवदलङ्कार का विषय स्वीकार करना चाहिये। ध्वनिकार ने 'इति मे मति:' लिखकर इसी मत के विरोध में अपनी सम्मति प्रदर्शित की है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि:—

(१) जिन स्थलों पर रसादि की प्रतीति प्रधानरूप से हुआ करती है उनमें 'रसध्वनि' का विषय समझना उचित है।

(२) जहाँ मुख्य रस अलङ्कार्य है तथा कोई अन्य रस भी अङ्गभूत नहीं है वहाँ उपमादि अलङ्कार का क्षेत्र समझना उचित है।

(३) जहाँ रसादि अङ्गरूप में हैं वहाँ रसवदलङ्कार का विषय समझना उचित होगा।

इस भाँति (१) ध्वनि (२) उपमादि अलङ्कार तथा (३) रसवदलङ्कारों का विषयभेद हो जाता है।

इसके विरुद्ध चेतन एवं अचेतन के वर्णनों के भेद के आधार पर भेद मानने वालों के मत में उपर्युक्त विभाजन बनना संभव नहीं है, इसी विषय को ध्वन्यालोककार आगे प्रस्तुत करते हैं:—

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेः उपमादीनाम्, रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति। यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते तर्ह्युपमादीनां प्रविरल-विषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात्। यस्मादचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतन-वस्तुवृत्तान्तयोजनया यथाकथञ्चिद्भवितव्यम्। अथ सत्यामपि तस्यां यत्राचेतनानां वाक्यार्थीभावो नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते, तत्महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात्।

यथा—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता।।

यथा वा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा।
चिन्ता मौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा।।

यथा वा—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृंदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः।।

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्त्येव। अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्ति तत्र रसादिरलङ्कारः। तदेवं सत्युपमादयो निर्विषयाः प्रविरल विषया वा स्युः। यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतन वस्तुवृत्तान्त योजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन। तस्मादङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारता। यः पुनरङ्गी रसो भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति।।५।।

इस प्रकार (ऊपर वर्णित प्रकार से) ध्वनि, उपमा आदि अलङ्कार तथा रसवदलङ्कारों का क्षेत्र पृथक्-पृथक् हो जाता है। (इसके अतिरिक्त दूसरों के मतानुसार) यदि चेतन के वाक्यार्थीभाव (चेतन को मुख्य वाक्यार्थ स्वीकार करने में रसवदलङ्कार का विषय बनता है, ऐसा माना जाय,तो उपमा इत्यादि अलङ्कारों का विषय (क्षेत्र) अत्यधिक विरल रह जायगा अथवा सर्वथा रहेगा ही नहीं। क्योंकि जहाँ अचेतन वस्तुवृत्त मुख्य वाक्यार्थ है वहाँ किसी न क़िसी भाँति (विभावादि के द्वारा) चेतनवस्तु के वृत्तान्त की योजना होवेगी ही। (इस भाँति उन सभी स्थलों में चेतन वस्तु के वाक्यार्थ बन जाने पर वे सभी रसवदलङ्कार के विषय बन

जावेंगे, उपमा आदि अलङ्कारों के नही। अतएव उपमा आदि अलङ्कार अविरलविषय अथवा निर्विषय हो जायेंगे।) और यदि चेतनवृत्तान्तयोजना होने पर भी जिन स्थलों पर अचेतन का वाक्यार्थीभाव (प्रधानता) है उन स्थलों पर रसवदलङ्कार नहीं हो सकेगा, ऐसा कहा जाय तो बहुत बड़े रसमय काव्य के भाग का 'नीरस हो जाना' हो जायगा। जैसे—

तिरछी भौहों के सदृश तरङ्गों को तथा रशना (काञ्ची) के सदृश क्षुब्ध पक्षि-समुदाय के शब्द को धारण किये हुये, क्रोध के कारण खिसके हुये ढीले वस्त्र को के सदृश फेनों को धारण किये हुये, (यह नदी) बारम्बार ठोकर खाने के कारण जो कुटिल चाल चली जा रही है, ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे अनेक अपराधों को देखकर रूठी हुई वह (उर्वशी ही) नदी के रूप में परिणत हो (परिवर्तित-बदल) गई है।

अथवा जैसे—

वह तन्वी (उर्वशी) ही पैरों पर पड़े हुये मुझको झटककर मानों उत्पन्न हुये पश्चात्ताप के कारण मेघ के जल से आर्द्र (गीले) पल्लव के रुप में अश्रुधारा से धुले अधरवाली, अपने समय के विगत हो जाने पर फूलों का खिलना बन्द हो जाने के रूप में अपने आभूषणों से रहित की भाँति तथा भ्रमर–समूह के गुञ्जन के अभाव के रूप में चिन्ता के कारण मौनभाव को प्राप्त हुई लता के सदृश प्रतीत हो रही है अथवा दृष्टिगोचर हो रही है।

अथवा जैसे—

हे भद्र! गोपिओं के विलास-सुहृद्, राधा की एकान्त के साक्षी वे यमुना के किनारे स्थित लताकुञ्ज तो कुशलपूर्वक हैं? अथवा अब तो कामशय्या के निर्माण हेतु कोमल किसलयों के तोड़ने का प्रयोजन न रहने के कारण वे पल्लव श्यामल-शोभा से रहित होकर रूढ़ हो जाते होंगे।

इत्यादि उदाहरणों में अचेतन (क्रमशः प्रथम श्लोक में नदी, द्वितीय में लता तथा तृतीय श्लोक में लताकुञ्ज) वस्तुओं के वाक्यार्थीभाव (प्रधानता) होने पर भी (विभाव आदि के द्वारा कथञ्चित्) चेतन वस्तु अथवा पदार्थ की योजना है ही। और जहाँ चेतनवस्तु के वृत्तान्त की योजना है वहाँ रसादि अलङ्कार है। ऐसी स्थिति में उपमा आदि अलङ्कारों का कहीं कोई विषय न रह जायेगा। अथवा वे कहीं-कहीं परही होंगे (सर्वत्र नहीं) क्योंकि कोई ऐसा अचेतन वस्तु का वृत्तान्त नहीं ही है कि जहाँ चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना नहीं है। अन्ततः विभावरूप में उसकी योजना बन ही जायगी। अतएव रसादि के अङ्ग होने के कारण रसादि का अलङ्कारत्व (रसवदादि अलङ्कारों का होना) माना गया है। और जो अङ्गी रस अथवा भाव है वह तो सभी प्रकार से अलङ्कार्य है और वह ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) है।

लोचनम्

एवमिति। अस्मदुक्तेन विषयविभागेनेत्यर्थः। उपमादीनामिति। यत्र रसस्यालङ्कार्यता रसान्तरं चाङ्गभूतं नास्ति तत्र शुद्धा एवोपमादयः। तेन संसृष्ट्या नोपमादीनां विषयापहार इति भावः। रसवदलङ्कारस्य चेति। अनेन भावाद्यलङ्कारा अपि प्रेयस्व्यूर्जस्विसमाहिता गृह्यन्ते । तत्र भावालङ्कारस्य शुद्धस्योदाहरणं यथा–

तव शतपत्रपत्रमृदुताम्रतलश्चरणश्चलकलहंसनूपुरकलध्वनिना मुखरः।

महिषमहासुरस्य शिरसि प्रसभं निहितः कनक महामहीध्रगुरुतां कथमम्ब गतः।।

इत्यत्र देवीस्तोत्रे वाक्यार्थीभूते वितर्कविस्मयादिभावस्य चारुत्व हेतुतेति तस्याङ्गत्वाद्भावालङ्कारस्य विषयः। रसाभासस्यालङ्कारता यथा ममैव स्तोत्रे–

समस्तगुणसम्पदः सममलङ्क्रियाणां गणै–

र्भवन्ति यदि भूषणं तव तथापि नो शोभसे।

शिवं हृदयबल्लभं यदि यथा तथा रञ्जये–

स्तदेव ननु वाणि। ते भवति सर्वलोकोत्तरम् ।।

अत्र हि परमेशस्तुतिमात्रं वाचः परमोपादेयमिति वाक्यार्थे शृङ्गाराभासश्चारुत्वहेतुः श्लेषसहितः। न ह्ययं पूर्णः शृङ्गारो नायिकाया निर्गुणत्वे निरलङ्कारत्वे च भवति। 'उत्तमयुवप्रकृतिरुज्ज्वलवेषात्मकः' इति चाभिधानात्। भावाभासाङ्गता यथा–

स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु।

लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु।।

अत्र रौद्रप्रकृतीनामनुचितस्त्रासो भगवत्प्रभावकारणकृत इति भावाभासः। एवं तत्प्रशमस्याङ्गत्वमुदाहार्यम्। मे मतिरित्यनेन यत्परमतं सूचितं तद्दूषणमुपन्यस्यति–यदीत्यादिना। परस्य चायमाशयः–अचेतनानां चित्तवृत्तिरूपरसाद्यसम्भवात्तद्वर्णने रसवदलङ्कारस्यानाशङ्क्यत्वात्तद्विभक्त एवोपमादीनां विषय इति। एतद् दूषयति–तर्हीति। तस्माद्वचनाद्धेतोरित्यर्थः। नन्वचेतनवर्णनं विषय इत्युक्तमित्याशङ्क्य हेतुमाह–यस्मादिति। यथाकथञ्चिदिति विभावादिरूपतया। तस्यामिति। चेतनवृत्तान्तयोजनायाम्। नीरसत्वमिति। यत्र हि रसस्तत्रावश्यं रसवदलङ्कार इति परमतम्। ततो न रसवदलङ्कारश्चेन्नूनं तत्र रसो नास्तीति परमताभिप्रायान्नीरसत्वमुक्तम्। न त्वस्माकं रसवदलङ्काराभावे नीरसत्वम्। अपितु ध्वन्यात्मभूतरसाभावे तादृक्च रसोऽत्रास्त्येव।

तरङ्गेति। तरङ्गा एव भ्रूभङ्गा यस्याः। विकर्षन्ती विलम्बमानं बलादाक्षिपन्ती। वसनमंशुकम्। प्रियतमावलम्बननिषेधायेति भावः। बहुशो यत्स्खलितं येऽपराधास्तानभिसन्धाय हृदयेनैकीकृत्यासहमाना मानिनीत्यर्थः। अथ च मद्वियोगपश्चात्तापासहिष्णुस्तापशान्तये नदीभावं गतेति।

तन्वीति। वियोगकृशाप्यनुतप्ता चाभरणानि त्यजाति। स्वकालो वसन्तग्रीष्म प्रायः। उपायचिन्तनार्थं मौनं, किमिति पादपतितमपि दयितमवधूतवत्यहमिति च चिन्तया मौनम्। चण्डी कोपना। एतौ श्लोकौ नदीलतावर्णनपरौ तात्पर्येण पुरुरवस उन्मादाक्रान्तस्योक्तिरूपौ।

तेषामिति। हे भद्र! तेषामिति ये ममैव हृदये स्थितास्तेषाम्। गोपवधूनां गोपीनां ये विलाससुहृदो नर्मसचिवास्तेषाम्। प्रच्छन्नानुरागिणीनां हि नान्यो नर्मसुहृद्भवति।

राधायाश्च सातिशयं प्रेमस्थानमित्याह–राधासम्भोगानां ये साक्षाद् द्रष्टारः, कलिन्द-शैलतनया यमुना तस्यास्तीरे लतागृहाणां क्षेमं कुशलमिति काक्वा प्रश्नः। एवं तं पृष्ट्वा गोपदर्शनप्रबुद्धसंस्कार आलम्बनोद्दीपनविभावस्मरणात्प्रबुद्धरतिभावमात्मगत-मौत्सुक्यगर्भमाह द्वारकागतो भगवान् कृष्णः स्मरतल्पस्य मदनशय्यायाः कल्पनार्थं मृदुसुकुमारं कृत्वा यश्छेदस्त्रोटनं स एवोपयोगः साफल्यम्। अथ च स्मरतल्पे यत्कल्पनं क्लृप्तिः स एव मृदुः सुकुमार उत्कृष्टश्छेदोपयोगस्त्रोटनफलं तस्मिन्विच्छिन्ने। मय्यनासीने का स्मरतल्पकल्पनेति भावः। अतएव परस्परानुरागनिश्चयगर्भमेवाह – ते जान इति। वाक्यार्थस्यात्र कर्मत्वम्। अधुना जरठीभवन्तीति। मयि तु सन्निहितेऽनवरतकथितोपयोगान्नेमेजराजीर्णताखिलीकारं कदाचिदवाप्नुवन्तीति भावः। विगलन्ती नीला त्विड्येषामित्यनेन कतिपयकालप्रोषितस्याप्यौत्सुक्यनिर्भरत्वं ध्वनितम्। एवमात्मगतेयमुक्तिर्यदि वा गोपं प्रत्येव संप्रधारणोक्तिः। बहुभिरुदा-हरणैर्महतोभूयसः प्रबन्धस्येति यदुक्तं तत्सूचितम्। अथेत्यादि। नीरसत्वमत्र मा भूदित्यभिप्रायेणेति शेषः। ननु यत्र चेतनवृत्तस्य सर्वथा नानुप्रवेशः स उपमादेर्विषयो भविष्यतीत्याशङ्क्याह–यस्मादित्यादि। अन्तत इति स्तम्भपुलकाद्यचेतनमपि वर्ण्य-मानमनुभावत्वाच्चेतनमाक्षिपत्येव तावत्, किमत्रोच्यते। अतिजडोऽपि चन्द्रोद्यानप्रभृतिः स्वविश्रान्तोऽपि वर्ण्यमानोऽवश्यं चित्तवृत्तिविभावतां त्यक्त्वा काव्येऽनाख्येय एव स्यात्; शास्त्रेतिहासयोरपि वा। एवं परगतं दूषयित्वा स्वमतमेव प्रत्याम्नायेनोपसंहरति–तस्मादिति। थतः परोक्तो विषयविभागो न युक्तः इत्यर्थः। भावो वेति वाग्रहणात्तदाभासतत्प्रशमादयः। सर्वाकारमिति क्रियाविशेषणम्। तेन सर्वप्रकारमित्यर्थः। अलङ्कार्य इति। अतएव नालङ्कार इति भावः।।५।।

इस प्रकार—अर्थात् जैसे कि हमने विषय विभाजन किया है। उपमा आदि। जिन स्थलों पर रस की अलकार्यता तथा रसान्तर अङ्गभूत नहीं होते वहाँ उपमा आदि शुद्ध ही अलङ्कार होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है संसृष्टि से उपमा आदि का विषयापहार (उच्छेद) नहीं हुआ करता है। और रसवदलङ्कार का—। इससे प्रेयस्वि, ऊर्जस्वि, समाहित आदि भावालङ्कार भी गृहीत होते हैं। वहाँ शुद्ध ''भावालङ्कार'' का उदाहरण–जैसे—

''हे अम्ब! कमल के पत्र के सदृश कोमल एवं लाल तलभाग वाला चंचल, सुन्दर हंस की भाँति नूपुर के शब्द से शब्दायमान एवं महिषासुर के सिर पर बलात् (जबरन) रखा हुआ तुम्हारा चरण महापर्वत सुमेरु की गुरुता को प्राप्त हो गया है।''

इस स्थल पर देवी से सम्बन्धित स्तोत्र प्रधान वाक्यर्थ है तथा वितर्क, विस्मय आदि भाव उसके सौन्दर्य के कारण हैं। इस भाँति उस (वाक्यार्थरूप स्तोत्र) के अङ्ग होने के कारण 'भावालङ्कार' का विषय है। 'रसाभास' की अलङ्कारता—जैसे मेरे ही द्वारा रचित स्तोत्र में—

हे वाणि! अलङ्कारों के साथ सम्पूर्ण गुणों की सम्पत्तियाँ यदि तुम्हारा भूषण बन जायँ तो भी तुम्हारी शोभा नहीं। यदि तुम जिस किसी भाँति मनभाये भगवान् शिव को प्रसन्न कर लो, तभी तुम्हारा सबसे लोकोत्तर भूषण हो।''

इस स्थल पर परमेश्वर (शिव) की स्तुतिमात्र वाणी का परम (श्रेष्ठ) उपादेय है। इस वाक्यार्थ में श्लेष सहित शृङ्गाराभास चारुत्व का हेतु है। नायिका के निर्गुण और निरलङ्कार होने पर शृङ्गारपूर्ण नहीं है (अपितु आभासमात्र है) क्योंकि कहा है "उज्ज्वल वेषवाले उत्तमप्रकृति के युवति और युवक हुआ करते हैं" 'भावाभास' की अङ्गता-जैसे—

"जिन (कृष्ण) के द्वारा मारे जाने से शेष बचे हुये दैत्य, उन (कृष्ण) के समान कृष्ण वर्ण के अंजन से रञ्जित, अपनी पत्नियों के लावण्ययुक्त नेत्रकमलों से भयभीत रहा करते हैं, ऐसे भगवान् कृष्ण आपकी रक्षा करें।"

इस स्थल पर रौद्र प्रकृति वाले दैत्यों का भयभीत होना अनुचित है, (किन्तु) वह भगवान् कृष्ण के प्रभाव के कारण है, अतएव 'भावाभास' है। इसी भाँति 'भावप्रशम' का भी उदाहरण कर लेना चाहिये।

"मेमतिः"—'मेरी मति है' इस कथन के द्वारा जो परमत को सूचित किया है उसका दोष उपन्यस्त करते हैं—अगर-इत्यादि के द्वारा। दूसरे का आशय यह है कि "अचेतन पदार्थों का चित्तवृत्तिरूप रसादि सम्भव न होने कारण, उनके वर्णन में रसवद् अलङ्कार के अनाशङ्क्य होने से रसवद् अलङ्कार से पृथक् ही 'उपमा' इत्यादि अलङ्कारों का विषय है।" इसमें दोष दिखलाते हैं—तो—। अर्थात् उस कथन के कारण। 'अचेतन का वर्णन विषय है' इस प्रकार की आशङ्का करके हेतु कहते हैं—जिस कारण—। जिस किसी प्रकार अर्थात् विभाव आदि के प्रकार से। 'उसमें' अर्थात् चेतन पदार्थ के वृत्तान्त की योजना में। नीरसत्व—। दूसरे का मत यह है कि जहाँ रस है वहाँ अवश्य रसवद् अलङ्कार है। ऐसी दशा में जहाँ रसवद् अलङ्कार न हो वह 'रस' नहीं है। इस प्रकार के दूसरे के मत की दृष्टि से 'नीरसत्व' कहा गया। किन्तु हमारे मत में रसवद् अलङ्कार के अभाव में 'नीरसत्व' नहीं है। अपितु ध्वनि के आत्मा रूप रस के प्रभाव में "नीरसत्व" है, उस प्रकार का रस यहाँ पर है ही।

तरङ्गें—नदी की तरङ्गें ही हैं भौओं की भंगीमा जिसकी। विकर्षण करती हुई फैले हुये को बलपूर्वक धारण करती हुई। वसन अर्थात् अंशुक (वस्त्र)। प्रियतम के अवलम्बन के निषेध के लिये—यह भाव है। अर्थात् अनेक बार के जो स्खलित है, जो अपराध है—उन्हें अभिसन्धान करके—हृदय के साथ एक करके सहन न करती हुई मानिनी। और भी, यह कि मेरे वियोगजन्य पश्चात्ताप न सहनकर पा रही वह ताप की शान्ति के लिये नदी के स्वरूप को प्राप्त हुई।

तन्वी—। वियोग से उत्पन्न हुई दुर्बलता के कारण भी तथा पश्चात्ताप से पीड़ित होने के कारण आभूषणों का धारण करना छोड दिया है। अपना समय (स्वकाल) अर्थात् प्रायः वसन्त और ग्रीष्म। उपाय खोजने की चिन्ता के लिये मौन, पैरों पर पड़े अपने प्रियतम को मैने क्यों झटक दिया अर्थात् तिरस्कृत किया? इस चिन्ता के कारण मौन। चण्डी अर्थात् क्रोधशीला। नदी तथा लता के वर्णन से सम्बन्धित ये दोनों श्लोक तात्पर्यरूप में उन्माद से आक्रान्त पुरूखा के उक्तिरूप हैं।

अथवा जैसे—

हे भद्र—उन लतागृहों का जो मेरे ही हृदय में स्थित हैं, उनका। गोप बन्धुओं अर्थात् गोपियो के जो विलाससुहृद् अर्थात् नर्मसचिव, उनका। प्रच्छन्न (लुक छिपकर) अनुराग करने वालियों का नर्म सुहृद् कोई अन्य नहीं हुआ करता है। राधा का प्रेम बढ़कर है, अतः कहते हैं—राधा के सम्भोगों के जो साक्षात् दृष्टा हैं, कलिन्दशैलतनया अर्थात् यमुना, उसके किनारे पर स्थित लतागृहों का क्षम अथवा कुशलतो है! यह काकु द्वारा प्रश्न है। इस भाँति उस (उद्धव) से पूछ कर द्वारका में पहुँचे एवं गोपों के देखने से प्रबुद्ध संस्कारवाले भगवान् कृष्ण ने आलम्बन और उद्दीपन विभावों के स्मरण द्वारा अपने में उत्पन्न उत्सुकता से युक्त प्रबुद्ध रतिभाव को प्रकट करते हैं—स्मरतल्य अर्थात् कामदेव की शय्या का जो कल्पन अथवा निर्माण वही है कोमल अथवा सुकुमार अर्थात् उत्कृष्ट द्वेदोपयोग अर्थात् तोड़ना रूप फल उसके विच्छिन्न होने पर। भाव यह है कि मेरे न रहते स्मरतल्प का निर्माण कैसा? इसलिये (अपने और गोपियों के) पारस्परिक अनुराग के निश्चय से गर्भित इस भाँति कहते हैं—वे मैं जानता हूँ—यहाँ वाक्यार्थ का कर्मत्व है। अब झूर हो गये होंगे—। भाव यह है मेरे सन्निहित रहने पर निरन्तर कहे हुये (तोड़ने सम्बन्धी पूर्वोक्त) उपयोग के कारण कभी भी ये पल्लव जर्जर होने से जीर्ण हो जाने की विद्रूपता को कभी भी प्राप्त नहीं करते हैं। विगलित अथवा अपकान्त हो रही है नीलकान्ति जिनकी, इससे कुछ ही समय से प्रोषित (बाहर गये) उन भगवान् कृष्ण की अत्यधिक उत्सुकता ध्वनित होती है। इस भाँति यह उक्ति अपने प्रति अथवा गोप के प्रति सम्प्रधारणोक्ति है। अनेक उदाहरणों से कि 'महान् अथवा भूयान् प्रबन्ध का' यह कहा है, उसे सूचित किया है। और—इत्यादि। इस अभिप्राय से, कि यहाँ नीरसत्व न हो। इस प्रकार की आशङ्का करके कि जहाँ चेतनवृत्तान्त का सर्वथा अनुप्रवेश नहीं वह उपमा आदि का विषय होगा, कहते हैं—क्योंकि—इत्यादि। अन्ततः—। जब कि अचेतन भी वर्ण्यभाव स्तम्भ, पुलक आदि अनुभाव के होने के कारण चेतन का आक्षेप कर लेंगे, ऐसी दशा में आप क्या उत्तर देंगे? चन्द्र, उद्यान आदि अत्यन्त जड़ होकर एवं स्वयं में पर्यवसित होकर भी चित्तवृत्ति के विभाव (उद्दीपक विभाव) के वैशिष्ट्य को छोड़कर काव्य में कथन किये जाने योग्य नहीं ही हो सकेगा, शास्त्र और इतिहास में भी यही स्थिति है। इस भाँति परमत में दोष देकर स्वमत का ही पुनरुक्ति द्वारा उपसंहार करते हैं—अतएव। अर्थात् जो कि दूसरे लोगों ने विषय—विभाग किया है, वह ठीक नहीं। अथवा भाव अथवा के ग्रहण से भावाभास, भावप्रशम आदि संगृहीत है। 'सर्वाकार' (सब प्रकार) यह क्रिया-विशेषण है। अर्थात् सब प्रकार। अलङ्कार्य-। भाव यह कि अलङ्कार नहीं।।५।।

मंजूआशुबोधिनी

जिस काव्य में पूर्व-कथित व्यङ्ग्य-रसादि की अपेक्षा दूसरे ही वस्तु अलङ्कार आदि शब्दार्थ प्रधानतः चमत्कारी होने से वाक्यार्थ-बोध के विषय हुआ करते हैं तथा उक्त रस आदि अप्रधान अथवा अङ्गरूप में प्रतीत हुआ करते हैं, उस काव्य में क्रमशः 'रस' के अङ्गरूप होने पर 'रसवत्', भाव के अङ्ग होने पर 'प्रेयः', रसाभास एवं भावाभास के अङ्ग होने पर 'ऊर्जस्वी', भावशान्ति के अङ्गरूप होने पर समाहित तथा अवशिष्ट के अङ्ग होने पर

'भावोदय', 'भावसन्धि', भावशवलता नामक अलङ्कार माने गये हैं। ग्रन्थकार का यह अपना मत है।

यद्यपि उद्भट आदि विद्वानों ने तो प्रधानरूप से वाक्यार्थ बोध विषय तथा रस आदि के भासित होने पर ही रसवदादि अलङ्कारों को माना है। किसी अन्य ने तो रस आदि को अलङ्कार न स्वीकारकर उन (रस आदि) को अलङ्कार्य मानकर उनमें अलङ्कार होने का खण्डन किया है। वस्तुतः रस आदि के अङ्गी (प्रधान) होने पर चमत्कारोत्पादक होने से उनमें अलङ्कार्यत्व ही हो सकता है, अलङ्कारत्व मानना उचित नहीं है क्योंकि प्रधानीभूत रसादि में ही सभी ने अलङ्कार्यत्व को ही स्वीकार किया है, अप्रधान (अङ्गरूप में विद्यमान) रस आदि में नहीं। इन युक्तियों के आधार पर जिस काव्य में प्रधानरूप से अन्य वाच्य-अर्थ ही वाक्य के बोध का विषय है तथा उसका अङ्ग होकर ही उक्त रस आदि भासित होता है, उस काव्य में रसवदादि अलङ्कार मानने में कोई आपत्ति नहीं आती है। यह ग्रन्थकार का मत है।

उदाहरणों द्वारा वे अपने मत को पुष्ट करते हैं—जैसे—राजा आदि को की गई मिथ्या प्रशंसा-स्थलों में प्रेयोऽलङ्कार के वाच्यार्थ-बोध का प्रधान विषयत्व होने पर, रस आदि अङ्गरूप में ही भासित हुआ करता है। वास्तविकता तो यह है कि चाटुकारी युक्त स्थलों में भी प्रशंसनीय राजा आदि विषयक 'रति' भाव की प्रधानता होने से 'प्रेयोऽलङ्कार' नहीं है, अपितु रस आदि के प्रधानीभूत उक्त 'रति' भाव के प्रति अङ्ग होने से रसवदादि अलंकार ही मानना उचित है।

कुछ अन्य विद्वानों का कहना यह है कि चेतन के वाक्यार्थीभूत होने की दशा में 'रसवदलङ्कार' तथा अचेतन के वाक्यार्थीभूत होने पर उपमादि अलङ्कार होते हैं। इस प्रकार की स्थिति में (अर्थात् चेतन को मुख्य-वाक्यार्थ मानने में रसवदलङ्कार का विषय मान लिया जाय तो 'उपमा' आदि अलङ्कारों का विषय बहुत स्वल्प रह जायगा अथवा सर्वथा ही नहीं रहेगा। क्योंकि जहाँ अचेतन वस्तुवृत्त मुख्य वाक्यार्थ है वहाँ किसी न किसी प्रकार विभाव आदि के द्वारा चेतनवस्तु के वृत्तान्त की योजना बन ही जायगी। इस भाँति उन सभी स्थलों में चेतनवस्तु के वाक्यार्थ बन जाने पर वे सभी रसवदलङ्कार के विषय बन जायेंगे, उपमादि अलङ्कारों के नहीं। ऐसी दशा में उपमा आदि प्रविरल विषय अथवा निर्विषय हो जावेंगे। और यदि यह कहा जाय कि चेतनवृत्तान्त की योजना होने पर भी जहाँ अचेतन का वाक्यार्थीभाव (प्रधानता) है वहाँ रसवदलङ्कार हो ही नहीं सकता है तो बहुत बड़े, रसयुक्त काव्य के भाग का नीरसत्व कथित हो जायगा। जैसे—

ध्वन्यालोककार द्वारा उदधृत ('तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादि, 'तन्वी' इत्यादि और तेषां गोपबधू...इत्यादि) तीनों उदाहरणों में क्रमशः नदी, लता तथा लताकुञ्ज—इन अचेतन वस्तुओं के वाक्यार्थीभाव (प्रधानता) होने पर भी विभाव आदि के द्वारा कथञ्चित् चेतनवस्तु के व्यवहार की योजना बन ही जायगी। किन्तु जहाँ चेतनवस्तु के वृत्तान्त की योजना है वहाँ रसादि अलङ्कार हैं। ऐसी स्थिति में उपमा आदि अलङ्कार सर्वथा निर्विषय हो जावेंगे अथवा उनके उदाहरण बहुत ही स्वल्प मिल सकेंगे क्योंकि इस प्रकार का कोई अचेतन वृत्तान्त नहीं उपलब्ध हो सकेगा कि जहाँ पर चेतनवस्तु के वृत्तान्त का सम्बन्ध, अन्ततः विभावरूप से न

हो। अतएव रस आदि के अङ्ग होने पर 'रसवदलङ्कार' हुआ करते हैं तथा जो प्रधान (मुख्य) रस अथवा भाव सभी प्रकार से अलङ्कार्य हैं वह तो ध्वनि का अपना स्वरूप ही है।

इस भाँति रसवदलङ्कार के विषय में आलोककार ने अन्यमत का निराकरण करते हुये अपने मत का उपसंहार किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि चेतनवस्तु के वाक्यार्थीभाव के आधार पर रसवदलङ्कार तथा अचेतन वस्तु के वाक्यार्थीभाव की दशा में उपमा इत्यादि अलङ्कार हुआ करते हैं—अन्यों का यह मत ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन वस्तु के साथ चेतनवस्तु वृत्तान्त का सम्बन्ध हो ही जाया करता है। अत: दोनों ही प्रकार की स्थितियों में रसवदलङ्कार ही होगा। उपमा आदि का विषय तो अतिस्वल्प अथवा मिलेगा ही नहीं। साथ ही अचेतनपरक काव्य को नीरस भी ठहराना होगा।।५।।

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

तमर्थवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।

अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।।६।।

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्य-वाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।।६।।

और—

गुण और अलङ्कार का भेद (सिद्धान्तपक्ष)–गुण—एवं गुणी की ही भाँति अलङ्कार्य से अलङ्कार भिन्न है। इस सिद्धान्त के अनुसार अङ्गीभूत रसादि ध्वनि से रसवदादि अलङ्कार भिन्न हैं। इस सिद्धान्त को सूचित करने की दृष्टि से विभागपूर्वक गुण तथा अलङ्कार के स्वरूप को कहते हैं:—

जो अङ्गीभूत (प्रधान) रस के आश्रित रहने वाले माधुर्य आदि हैं उनको 'गुण' कहा जाता है। और जो उसके अङ्ग (शब्द तथा अर्थ) में आश्रित रहने वाले हैं उनको कटकादिके सदृश 'अलङ्कार' कहा जाता है।

जो उस रसादिरूप अङ्गीभूत (प्रधान) का अवलम्बन करते हैं अर्थात् उसके आश्रित रहा करते हैं, वे शौर्य आदि के सदृश 'गुण' कहे जाते हैं। और वाच्य (अर्थ) तथा वाचकरूप (शब्द) उस काव्य के अङ्ग हैं, जो उन अङ्गों के आश्रित हैं, उनको कटक आदि के समान अलङ्कार समझना चाहिये।।६।।

जिस प्रकार शौर्य, सौजन्य, विद्या आदि गुण शरीर के अभ्यन्तर प्रधानभूत आत्मा में रहते हुये उसी (आत्मा) के उत्कर्ष को बढ़ाया करते हैं उसी भाँति माधुर्य, ओज, प्रासाद आदि गुण रसादि के स्वरूप को प्रधान (अङ्गी) में रहते हुये रसादि की उत्कृष्टता को बढ़ाया करते हैं। और जिस भाँति कंयूर, बलम आदि आभूषण शरीर में रहते हुये उसी (शरीर) के द्वारा आत्मा को अलङ्कृत किया करते हैं उसी भाँति क्रमशः शब्द और अर्थ, अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार शब्द एवं अर्थरूप अङ्गों के द्वारा रसादि को सुशोभित अथवा अलङ्कृत किया करते हैं।

लोचनम्

अलङ्कार्यव्यतिरिक्तश्चालङ्कारोऽभ्युपगन्तव्यः लोके तथा सिद्धत्वात् यथा गुणिव्यतिरिक्तो गुणः। गुणालङ्कारव्यवहारश्च गुणिन्यलङ्कार्ये च सति युक्तः। स चास्मत्पक्ष एवोपपन्न इत्यभिप्रायद्वयेनाह–किञ्चेत्यादि। न केवलमेतावद्युक्तिजातं रसस्याङ्गित्वे, यावदन्यदपीति समुच्चयार्थः। कारिकाप्यभिप्रायद्वयेनैव योज्या। केवलं प्रथमाभिप्राये प्रथमं कारिकार्धं दृष्टान्ताभिप्रायेण व्याख्येयम्। एवं वृत्तिग्रन्थोऽपि योज्यः।।६।।

अलङ्कार को अलङ्कार्य से पृथक् समझना चाहिये क्योंकि लोक में उस प्रकार सिद्ध है, जैसे गुण को गुणी से पृथक् माना जाता है। गुण एवं अलङ्कार का व्यवहार भी गुणी अलङ्कार्य के रहने पर ही ठीक है और यह बात हमारे पक्ष में ही उपपन्न होती है, इन दोनों अभिप्रायों से कहते हैं—और भी—। ये ही युक्तियाँ केवल रस के अङ्गी होने में ही नहीं, अपितु और दूसरी भी सम्भव है, यह समुच्चयार्थ है। कारिका को भी इन दोनों अभिप्रायों से जानना चाहिये। केवल प्रथम अभिप्राय में प्रथम कारिकार्ध भाग को दृष्टान्त के अभिप्राय से व्याख्या की जानी चाहिये। इसी भाँति वृत्तिग्रन्थ को भी लगाना चाहिये।

मंजूआशुबोधिनी

जो उस प्रधानभूत (अङ्गीरस) के आश्रित रहने वाले माधुर्य इत्यादि हैं उनको 'गुण' कहा जाया करता है तथा जो उसके अङ्ग (शब्द तथा अर्थ) में आश्रित रहने वाले हैं उनको कटक आदि के सदृश अलङ्कार कहा जाता है।

जो अङ्गी (प्रधान) रूप में विद्यमान 'रस' आदि का अवलम्बन किया करते हैं अर्थात् उस रस के आश्रित रहा करते हैं वे शौर्य आदि के सदृश 'गुण' कहलाते हैं। और वाच्य और वाचकरूप (अर्थ तथा शब्द उस काव्य के अङ्ग हैं) अङ्गों के आश्रित हैं वे कटक, कुण्डल आदि के समान 'अलङ्कार' शब्द वाच्य होते हैं।

पंचम कारिका की व्याख्या में रसध्वनि,रसवदलङ्कार तथा 'उपमा' आदि अलङ्कारों के विषयों का विभाजन किया गया था। प्रस्तुत छठी कारिका में 'गुण' तथा 'अलङ्कारों' का विषय-विभाग किया गया है। इसके अनुसार जो साक्षात् रस के आश्रित रहने वाले माधुर्य आदि हैं उनको साक्षात् आत्मा में रहने वाले शौर्य आदि के सदृश 'गुण' कहा जाता है तथा जो उस (रस) के अङ्गभूत शब्द तथा अर्थ में रहने वाले धर्म हैं उनको कटक आदि के समान 'अलङ्कार' कहा जाता है। यही है 'गुण' तथा 'अलङ्कार' का वास्तविक भेद।

रीति–सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'वामन' ने 'काव्य के शोभाजनक धर्मों को 'गुण' तथा उस शोभा को बढ़ाने वाले हेतुओं को 'अलङ्कार' कहा है।' आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में वामन के उपर्युक्त लक्षण का खण्डन किया है।

भामह के विवरण में भट्टोद्भट ने तो गुण एवं अलङ्कार के भेद को ही स्वीकार नहीं किया है। उनका कथन है कि लौकिक गुण (शौर्य आदि) और अलङ्कार (कटक, कुण्डल आदि) में तो भेद स्पष्ट ही है। शौर्य आदि गुण तो आत्मा में समवाय–सम्बन्ध से रहा करते

हैं तथा कटक, कुण्डल आदि शरीर में संयोग–सम्बन्ध से आश्रित रहा करते हैं। अतएव लौकिक गुण और अलङ्कारों में वृत्ति-नियामक सम्बन्ध संयोग तथा समवाय के भेद से भेद हो सकता है। अतएव इन दोनों का भेद मानना उचित नहीं है। किन्तु आलोककार तथा काव्यप्रकाशकार—दोनों ने रसनिष्ठ धर्मों को गुण तथा शब्दार्थनिष्ठ धर्मों को 'अलङ्कार' मानकर दोनों के भेद को स्वीकार किया है। इस भाँति आश्रय-भेद की दृष्टि से उन्होंने दोनों के भेद को स्वीकार किया है।

ध्वन्यालोकः

तथा च—

शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति।।७।।

शृङ्गार एव रसान्तराऽपेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्। तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः। श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति।।७।।

माधुर्य गुण का आश्रयः–

इसी से—

शृङ्गार रस ही सर्वाधिक आह्लादकारी मधुर (माधुर्य-गुणयुक्त) रस है। तन्मय (उस शृङ्गारमय) काव्य के आश्रित ही माधुर्य-गुण प्रतिष्ठित हुआ करता है।।७।।

शृङ्गार-रस ही अन्य रसों की अपेक्षा अधिक आह्लादक होने के कारण मधुर है। शब्द तथा अर्थ शृङ्गार-रस के प्रकाशन में संलग्न रहा करते हैं। अतएव शब्दार्थ युक्त काव्य का यह 'माधुर्य' गुण है। श्रव्यत्व तो 'ओज' का भी साधारण-धर्म है। (कहने का अभिप्राय यह है कि माधुर्य के सदृश 'ओज में भी' श्रव्यत्व रहा करता है।)

लोचनम्

ननु शब्दार्थयोर्माधुर्यादयो गुणाः, तत्कथमुक्तं रसादिकमङ्गिनं गुणा आश्रिता इत्याशङ्क्याह–तथा चेत्यादि। तेन वक्ष्यमाणेन बुद्धिस्थेन परिहारप्रकारेणोपपद्यते चैतदित्यर्थः। शृङ्गार एवेति। मधुर इत्यत्र हेतुगाह–परः प्रह्लादन इति। रतौ हि समस्तदेवतिर्यङ्नरादिजातिष्वविच्छिन्नैव वासनास्त इति न कश्चित्तत्र तादृग्यो न हृदयसंवादमयः, यतेरपि हि तच्चमत्कारोऽस्त्येव। अतएव मधुर इत्युक्तम्। मधुरो हि शर्करादिरसो विवेकिनोऽविवेकिनो वा स्वस्थस्यातुरस्य वा झटिति रसनानिपतितस्तावदभिलषणीय एव भवति। तन्मयमिति। स शृङ्गार आत्मत्वेन प्रकृतो यत्र व्यङ्ग्यतया। काव्यमिति। शब्दार्थावित्यर्थः। प्रतितिष्ठतीति। प्रतिष्ठां गच्छतीति यावत्। एतदुक्तं भवति – वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्गारादे रसस्यैव गुणः। तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरितं मधुरशृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम्। तस्माद्युक्तमुक्तं 'तमर्थमि' त्यादि। कारिकार्थं वृत्त्याह–शृङ्गार इति। ननु 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते' इति माधुर्यस्य लक्षणम्। नेत्याह–

श्रव्यत्वमिति। सर्वं लक्षणमुपलक्षितम्। ओजसोऽपीति। 'यो यः शस्त्रम्' इत्यत्र हि श्रव्यत्वमसमस्तत्वं चास्त्येवेति भावः।।७।।

जब कि माधुर्य आदि गुण शब्द और अर्थ दोनों के हैं तब कैसे कहा कि अङ्गी (प्रधान) रसादि पर गुण आश्रित होते हैं? यह आशङ्का करके कहते हैं—और उस प्रकार—। अर्थात् अभी जो बुद्धि में स्थित परिहार का प्रकार कहने वाले हैं, उससे यह उपपन्न हो जायगा। शृङ्गार ही—। 'मधुर' होने का कारण कहते हैं—परम आह्लादकारी—। क्योंकि रति (शृङ्गार-रस का स्थायीभाव) के सम्बन्ध में सारे देवता, पक्षी, मनुष्य आदि जातियों में वासना अविच्छिन्नरूप से विद्यमान रहती है; इस प्रकार कोई वैसा नहीं जो हृदयसंवाद धारण नहीं करता, क्योंकि यति (साधू-सन्यासी) को भी उस (रति) में चमत्कार (हृदय-संवाद) होता ही है। इसी कारण 'मधुर' यह कहा है। शक्कर आदि का मधुर रस विवेकी अथवा अविवेकी, स्वस्थ और रोगी की जीभ पर पढ़ते ही अभिलषणीय हो जाता है। तन्मय—। वह शृङ्गार व्यङ्ग्य होने से आत्मारूप से जहाँ हो रहा हो। काव्य अर्थात् शब्द तथा और अर्थ। प्रतिष्ठित होता है—प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। बात यह कही गई—वास्तव में 'माधुर्य' शृङ्गार आदि रस का ही गुण है। वह (माधुर्य) मधुररस के अभिव्यंजक शब्द और अर्थ में उपचरित (आरोपित) होता है। फलतः 'शब्द और अर्थ की जो मधुर शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य है वही माधुर्य है' यह लक्षण है। अतएव ठीक कहा है 'उस अर्थ को०' इत्यादि। कारिका के अर्थ को वृत्ति से कहते हैं—शृङ्गार—। शङ्का—जैसा कि (भामह ने) 'माधुर्य' का लक्षण किया है 'श्रवणीय और जिसमें शब्द अधिक समासयुक्त अर्थ वाले न हों, वह 'मधुर' कहलाता है' यह 'नहीं' यह कहते हैं—श्रव्यत्व—(इतने से 'मधुर' का) पूरा लक्षण उपलक्षित कर लिया है। ओजस् का भी—। भाव यह है कि 'यो यः शस्त्रं विभर्ति.' इस (ओजस् के) स्थल में श्रव्यत्व और असमस्तत्व दोनों ही हैं।।७।।

मंजूआशुबोधिनी

माधुर्य-गुण का आश्रय–गुणों के रसादिमात्रवृत्ति होने पर भी परम्परा सम्बन्ध से उपचार द्वारा शब्दार्थवृत्तित्व का प्रतिपादन करते हैं—। यद्यपि अत्यधिक आह्लादोत्पादक शृङ्गार रस ही साक्षात्‌रूप से माधुर्यगुणविशिष्ट प्रतीत हुआ करता है, तथापि शृङ्गार-रस प्रधान, शब्द तथा अर्थ से युक्त काव्य भी स्वाश्रयाभि-व्यञ्जकत्वरूप परम्परा सम्बन्ध से माधुर्यगुण से युक्त ही व्यवहृत हुआ करता है।

दूसरे रसों की अपेक्षा शृङ्गाररस ही सभी प्राणियों में अत्यधिक आनन्द अथवा आह्लाद का उत्पादक होने से चित्त को शीघ्र ही द्रवित करने वाला, साक्षात् माधुर्यगुण युक्त प्रतीत हुआ करता है। शृङ्गार को अभिव्यक्त करने वाले शब्द और अर्थ से युक्त काव्य में तो उपचार से ही माधुर्यगुण का व्यवहार हुआ करता है। अतएव यह कहना सर्वथा उचित ही है कि शृङ्गार-रस ही अन्य रसों की अपेक्षा आह्लादजनक होने के कारण मधुर अथवा माधुर्यगुणयुक्त रस है, उस रस को प्रकाशित करने वाले शब्द और अर्थ से युक्त काव्य का वह माधुर्यगुण ही हुआ करता है।

यद्यपि केवल-माधुर्य-गुण में ही चित्तद्रुति-जनकत्व की प्रतीति हुआ करती है, तथापि ओज और प्रसाद नामक गुण भी साधारणतया कानों को सुखद प्रतीत होने से श्रव्यत्व धर्म से युक्त होने के कारण विदग्ध रसिकों का उपादेय होता है, अन्यथा उनमें गुण होने का ही विनाश हो जायेगा।

एवकारस्त्रिधा मत–प्रस्तुत कारिका में 'एव' पद का प्रयोग किया गया है। इस 'एव' पद का प्रयोग तीन प्रकार से हुआ करता है तथा उन तीनों प्रकारों में उस 'एव' पद के प्रयोग में अर्थ में भेद हो जाया करता है। यह 'एव' पद कभी विशेषण के साथ प्रयुक्त होता है, कभी विशेष्य के साथ तथा कभी क्रिया के साथ। 'एव' का विशेष्य के साथ प्रयोग होने पर वह अन्ययोग का व्यवच्छेदक हो जाता है। "विशेष्यसङ्गतस्त्वेवकारो अन्ययोगव्यवच्छेदकः" जैसे "पार्थ एव धनुर्धरः" में 'पार्थ' विशेष्य है, उसके साथ प्रयुक्त हुआ 'एव' का अर्थ अन्य योग का व्यवच्छेद करना है। अर्थात् "पार्थ एव धनुर्धरः" में पार्थ विशेष्य से अन्य में विशेषण "धनुर्धर" के सम्बन्ध का निषेध करता है। उसका भावार्थ होता है कि "पार्थ एव धनुर्धरः नान्यः"।

विशेषण के साथ प्रयुक्त 'एव' पद अयोगव्यवच्छेदक हुआ करता है "विशेषणसङ्गतस्त्वेवकारो अयोगव्यवच्छेदकः"। जैसे "पार्थो धनुर्धरः एव" में विशेषण "धनुर्धर" के साथ प्रयुक्त 'एव' पद विशेष्य 'पार्थ' में विशेषण के प्रयोग अर्थात् सम्बन्धाभाव का निषेध कर उस (विशेष्य) में धनुर्धरत्व का नियमन करता है।

इसी भाँति जब 'एव' पद क्रिया के साथ अन्वित होता है तब अत्यन्ता-योगव्यवच्छेदक हुआ करता है जैसे "नीलं कमलं भवत्येव" इस वाक्य में भवति क्रिया के साथ अन्वित 'एव' पद कमल में नीलत्व के अत्यन्त असम्बन्ध का निषेध कर किसी विशेष कमल में नील के सम्बन्ध को नियमित करता है। इस भाँति 'एव' पद का तीन प्रकार से प्रयोग हुआ करता है:—

अयोगमन्ययोगं चात्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः।।"

प्रस्तुत कारिका के भाग "शृङ्गार एव मधुरः" में विशेष्य के साथ अन्वित 'एव' पद के अन्ययोगव्यवच्छेदक होने से उसका अर्थ होगा—"शृङ्गार एव मधुरो नान्यः"।

किन्तु अगली कारिका संख्या आठ में करुण आदि रस में भी उस (माधुर्य) का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया है अपितु सम्भोग-शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में तथा उससे भी अधिक 'करुणरस' में माधुर्य का उत्कर्ष स्वीकार किया है। यदि "शृङ्गारे एव" का 'एव' पद अन्य योगव्यवच्छेदक है तो फिर इसकी सङ्गति किस भाँति लग सकेगी? इसका उत्तर यह है कि अन्य के भीतर दो प्रकार की वस्तुयें आती हैं (१) विशेष्य की सजातीय तथा (२) विशेष्य की विजातीय। यहाँ विशेष्य 'शृङ्गार' है। उसके सजातीय अन्य रस करुण आदि भी अन्य की श्रेणी में आते हैं। अन्य व्यवच्छेदक 'एव' पद कहीं सजातीय व्यवच्छेदक होता है और कहीं विजातीय व्यवच्छेदक हुआ करता है। यहाँ यदि उसे सजातीय व्यवच्छेदक मान

लिया जाय तो वह करुण आदि में माधुर्य के योग का व्यवच्छेदक होगा तथा उस दशा में आगामी कारिका से उसका विरोध होगा। किन्तु यदि उसे विजातीय अन्य का व्यवच्छेदक मान लिया जाय तो वह शब्द तथा अर्थ में माधुर्य का व्यवच्छेदक हो जायगा और इस भाँति गुण के शब्द-धर्मत्व अथवा अर्थ-धर्मत्व का निषेध कर रसैक-धर्मत्व का प्रतिपादक होगा। आलोककार के इसी सिद्धान्त-पक्ष को शृङ्गार के साथ 'एव' पद द्वारा सूचित किया गया है॥७॥

ध्वन्यालोकः

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः।।८।।

अर्थात् विप्रलम्भशृङ्गार और करुणरस में माधुर्य (गुण का प्रयोग विशेषरूप से) उत्कर्ष-युक्त हुआ करता है क्योंकि उसमें मन अधिक आर्द्रता को प्राप्त हो जाया करता है।

विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत्। सहृदयहृदयावर्जनातिशय-निमित्तत्वादिति।।८।।

विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण-रस में तो सहृदयों के हृदयों को अतिशय आकृष्ट करने का निमित्त होने से माधुर्य (गुण) ही उत्कर्षयुक्त हुआ करता है॥८॥

लोचनम्

सम्भोगशृङ्गारान्मधुरतरो विप्रलम्भः, ततोऽपि मधुरतमः करुण इति तदभि-व्यञ्जनकौशलं शब्दार्थयोर्मधुरतरत्वं मधुरतमत्वं चेत्यभिप्रायेणाह–शृङ्गार इत्यादि। करुणे चेति चशब्दः क्रममाह। प्रकर्षवदिति। उत्तरोत्तरं तरतमयोगेनेतिभावः। आर्द्रता-मिति। सहृदयस्य चेतः स्वाभाविकमनाविष्टत्वात्मकं काठिन्यं क्रोधादिदीप्तरूपत्वं विस्मयहासादिरागित्वं च त्यजतीत्यर्थः। अधिकमिति। क्रमेणेत्याशयः। तेन करु-णेऽपि सर्वथैव चित्तं द्रवतीत्युक्तं भवति। ननु करुणेऽपि यदि मधुरिमास्ति, तर्हि पूर्वकारिकायां शृङ्गार एवेत्येवकारः किमर्थः? उच्यते–नानेन रसान्तरं व्यवच्छिद्यते; अपि त्वात्मभूतस्य रसस्यैव परमार्थतो गुणा माधुर्यादयः, उपचारेण तु शब्दार्थयो-रित्येवकारेण द्योत्यते। वृत्त्यार्थमाह–विप्रलम्भेति।।८।।

सम्भोगशृङ्गार से मधुरतर विप्रलम्भशृङ्गार है, उससे भी मधुरतम करुण है। उस रस के अभिव्यञ्जन का कौशल शब्द-अर्थ का मधुरतरत्व तथा दूसरे का मधुरतमत्व है, इस अभिप्राय से कहते हैं—विप्रलम्भशृङ्गार०—इत्यादि। और करुण में यहाँ "और" शब्द क्रम को बतलाता है। प्रकर्षयुक्त—। भाव यह है कि उत्तरोत्तर अधिक और अधिकतर के होने से। आर्द्रभाव—। अर्थात् सहृदय का चित्त स्वाभाविक अनावेशयुक्ततारूप काठिन्य को, क्रोध आदि के कारण दीप्तरूपता को तथा विस्मय और हास के कारण विक्षेप को स्थिति को छोड़ देता है। अधिक—। "क्रम से" यह आशय है। इससे यह कहा गया कि करुण में भी सर्वथा ही चित्त पिघल पड़ता है। (यहाँ शङ्का करते हैं कि) यदि करुण में भी मधुरिमा है, तो पहली कारिका में 'शृङ्गार ही'

यह 'एव' (ही) का प्रयोग किसलिये? उत्तर में कहते हैं—इस 'एव' के प्रयोग से दूसरे रस का व्यवच्छेद अथवा निराकरण नहीं किया गया है, अपितु 'एव' कार से द्योतित होता है कि 'माधुर्य' आदि परमार्थरूप से आत्मभूत रस के ही गुण हैं, केवल उपचार (आरोप) से शब्द और अर्थ के भी गुण हो जाते हैं। वृत्ति से अर्थ कहते हैं—विप्रलम्भ०॥८॥

मंजूआशुबोधिनी

अष्टम कारिका में गुणों को दूसरे प्रकार से परम्परा से शब्द और अर्थ में स्थापित करते हैं:—विप्रलम्भ-शृङ्गार रस में तथा उत्तरोत्तर उससे भी अधिक करुण रस में चित्त (मन), कठोरता रहित होकर शीघ्र ही द्रवीभूत हो जाया करता है। अतएव उनमें माधुर्यगुण, विच्छित्ति विशेष के जनक होने के कारण अधिक व्यक्त रूप में प्रतीत हुआ करता है और तद्व्यञ्जक शब्द और अर्थ में भी परम्परया माधुर्य आदि गुण रहा करते हैं।

सहृदय-व्यक्तियों के हृदयों (चित्तों) को अतिशीघ्र ही द्रवीभूत कर लिये जाने के कारण विप्रलम्भशृङ्गार और करुणरस में अत्यधिक चमत्कारोत्पादक माधुर्यगुण प्रतीत हुआ करता है। काव्यप्रकाशकार ने तो इन दोनों रसों की अपेक्षा शान्तरस में अतिशयरूप में माधुर्य-गुण को स्वीकार किया है॥८॥

भामह आदि आचार्यों ने दस प्रकार के शब्दगुण और दस ही प्रकार के अर्थगुणों को स्वीकार किया है:—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥

इन दस गुणों का अन्तर्भाव–इन दस-दस प्रकार के शब्द तथा अर्थगुणों के नाम तो एक ही हैं किन्तु इन दोनों प्रकार के गुणों के लक्षण पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

आलोक, लोचन, काव्यप्रकाश आदि ने इन उपर्युक्त दस गुणों का अन्तर्भाव अपने तीन (माधुर्य, ओज और प्रसाद) गुणों में ही कर लिया है। इन दस गुणों के अन्तर्भाव का प्रकार निम्नलिखित है:—

संख्या	शब्दगुणों तथा अर्थगुणों के नाम	शब्दगुणों के लक्षण तथा उनका अन्तर्भाव		अर्थगुणों के लक्षण तथा उनका अन्तर्भाव	
		शब्दगुणदशा में लक्षण	अन्तर्भाव	अर्थगुणदशा में लक्षण	अन्तर्भाव
१.	श्लेषः	बहूनां पदानामेकपद-वद्भासनम्	ओजसि	क्रमकौटिल्यानुव-गत्व योगरूपघटना	विचित्रता-यात्रम्
२.	प्रसादः	आजोमिश्रितशैथि-ल्यात्मा	ओजसि	अर्थवैमल्यम्	अपुष्टार्थ-त्वाभावे
३.	समता	मार्गाभेदस्वरूपिणी (क्वचिद्दोषः)	यथायथम्	प्रक्रान्तप्रकृत्यादि-निर्वाहः	प्रक्रमभङ्ग-दोषाभावे

४.	माधुर्यम्	पृथक्पदत्वम्	माधुर्ये	माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम्	अनवीकृत-दोषाभावे
५.	उदारता	विकटत्वम्, पदानां नृत्यत्प्रायत्वम्	ओजसि	अग्राम्यत्वम्	ग्रम्यत्वाभावे
६.	अर्थव्यक्तिः	पदानां झटित्यर्थ-समर्पणम्	प्रसादे	वस्तुस्वभावस्फुट-त्वम्	स्वभावो-त्त्यलङ्कारे
७.	सुकुमारता	अपारुष्यम्	दुःप्रवतात्यागे	अपारुष्यम्	अमङ्गला-श्लीलत्यागे
८.	ओजः	बन्धवैकट्यम्	ओजसि	साभिप्रायतवम्	अपुष्टार्थ-त्वाभावे
९.	कान्तिः	औज्ज्वल्यम्	ग्राम्यत्वाभावे	दीप्तरसत्वम्	ध्वनिगुणी-भूतव्यङ्ग्योः
१०.	समाधिः	आरोहावरोहक्रमः	ओजसि	अथदृष्टिरूपः अयोनिः अन्यच्छा-योचोनिश्चेति द्विविधः	अर्थदृष्टिर्न-गुणः

ध्वन्यालोकः

गुणों के वर्णन प्रसङ्ग से ओज-गुण का वर्णन करते हैं:—

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।

तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्।।९।।

रौद्र आदि (आदि पद से वीर तथा अद्भुत) रस शब्दार्थमय काव्य में काव्य में व्यङ्ग्य होते हुये दीप्ति (चित्तविस्ताररूप रौद्र आदि रसों में अनुभूयमान चित्त (अथवा मन) की अवस्थाविशेष) के कारण लक्षित हुआ करते हैं। उस दीप्ति के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ को आश्रयण करके ओज-गुण व्यवस्थित है।।९।।

रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्येते। तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमास रचनालङ्कृतं वाक्यम्।

रौद्र, वीर और अद्भुत रस अत्यधिक उज्ज्वलतारूप चित्त की अवस्था-विशेष को उत्पन्न करते हैं, अतएव लक्षणा द्वारा वे ही दीप्तिरूप कहे जाते हैं। (ज्ञाता के हृदय के विस्तार अथवा प्रज्वलनस्वभाव अवस्थाविशेष का नाम 'दीप्ति' है। वही प्रधानरूप से ओजःशब्दवाच्य है। उसके सम्बन्ध से तदास्वादमय रौद्र आदि रस भी लक्षणा से दीप्ति शब्द द्वारा गृहीत होते हैं। उसके प्रकाशक दीर्घसमासरचना से अलङ्कृत शब्द भी लक्षितलक्षणा से दीप्ति शब्द से गृहीत होते हैं।)

उस ओज गुण के प्रकाशक शब्द दीर्घसमासरचना से अलङ्कृत वाक्य हैं। अथवा उस ओजगुण को बहुत बड़ा समासात्मक संघटित वाक्य अभिव्यक्त किया करता है।

यथा—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात–
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावबद्धघनशोणितशोणपाणि–
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।।

जैसे—

ओजगुण के आश्रय (शब्द) का उदाहरण–क्रोधित भीम द्रौपदी से कह रहे हैं—हे देवि! फड़कती हुई दोनों भुजाओं से घुमाई जाती हुई प्रचण्ड गदा के अभिघात से भलीभाँति चूर्णित अतएव विदीर्ण जंघाओं वाले सुयोधन के जमे हुये गाढ़े (स्त्यान) रक्त से रञ्जित हाथों वाला भीम तुम्हारे बालों को सँवारेगा।

इस श्लोक में दीर्घतर ऊर्जस्वल शब्दसंघटित समासों से युक्त वाक्य उस चित्तविस्ताररूप दीप्ति का अभिव्यञ्जक है। इसलिये यह ओज-गुण का उदाहरण है।

ओजगुण के आश्रय (अर्थ) का उदाहरण–"तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासश्चनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः," यथा—अर्थात् उस (ओजगुण) का प्रकाशक 'अर्थ' दीर्घसमास की रचना से रहित प्रसादगुणयुक्त पदों से बोधित अर्थ (भी) होता है, जैसे—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी, चलतिमयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः,
क्रोधान्धस्तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्।।

इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम्।

अर्थात् क्रोधान्ध अश्वत्थामा कह रहा है—पाण्डवों की सेनाओं में अपनी भुजाओं पर अधिक गर्व करने वाला जो भी शस्त्रधारी है अथवा पाञ्चाल के गोत्र में जो जो बड़ा-छोटा अथवा अभी गर्भ में स्थित है और (कर्ण आदि) जो जो उस कर्म (द्रोण के वध) का साक्षी है तथा जो जो मेरे युद्धभूमि में विचरण करते समय विरोधी होगा, उस उस का क्रोध से अन्धा हुआ मैं (अश्वत्थामा) अन्त कर डालूँगा, फिर चाहे वह सब जगत् का अन्त कर देने वाला अन्तक (यमराज) ही क्यों न हो।।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में (क्रमशः शब्द और अर्थ) दोनों ओजःस्वरूप हैं अर्थात् ओजस् गुण से युक्त हैं।

लोचनम्

रौद्रेत्यादि। आदिशब्दः प्रकारे। तेन वीराद्भुतयोरपि ग्रहणम्। दीप्ति प्रतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तारप्रज्वलनस्वभावा। सा च मुख्यतया ओजश्शब्दवाच्या। तदास्वादमया रौद्राद्याः, तया दीप्त्या आस्वादविशेषात्मिकया कार्यरूपया लक्ष्यन्ते रसान्तरा-

त्पृथक्तया। तेन कारणे कार्योपचाराद्रौद्रादिरेवौजःशब्दवाच्यः। ततो लक्षितलक्षणया तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनवाक्यरूपोऽपि दीप्तिरित्युच्यते। यथा—'चञ्चदि' त्यादि। तत्प्रकाशनपरश्चार्थः प्रसन्नैर्गमकैर्वाचकैरभिधीयमानः समासानपेक्ष्यपि दीप्तिरित्युच्यते। यथा—'यो यः' इत्यादि। चञ्चदिति। चञ्चद्भ्यां वेगादावर्तमानाभ्यां भुजाभ्यां भ्रमिता येयं चण्डा दारुणा गदा तया योऽभितः सर्वत ऊर्वोर्घातस्तेन सम्यक् चूर्णितं पुनरनुत्थानोपहतं कृतमूरुयुगलं युगपदेवोरुद्वयं यस्य तं सुयोधनमनादृत्यैव स्त्यानेनाश्यानतया न तु कालान्तरशुष्कतयावबद्धं हस्ताभ्यामविगलद्रूपमत्यन्तमाभ्यन्तरतया घनं न तु रसमात्रस्वभावं यच्छोणितं रुधिरं तेन शोणौ लोहितौ पाणी यस्य सः। अतएव स भीमः कातरत्रासदायी। तवेति। यस्यास्तत्तदपमानजातं कृतं देव्यनुचितमपि तस्यास्तव कचानुत्तंसयिष्यत्युत्तंसवतः करिष्यति, वेणीत्वमपहरन् करविच्युतशोणितशकलैर्लोहितकुसुमापीडेनेव योजयिष्यतीत्युत्प्रेक्षा। देवीत्यनेन कुलकलत्रखिलीकारस्मरणकारिणा क्रोधस्यैवोद्दीपनविभावत्वं कृतमिति नात्र शृङ्गारशङ्का कर्तव्या। सुयोधनस्य चानादरणं द्वितीयगदाघातदानाद्यनुद्यमः। स च सञ्चूर्णितोरुत्वादेव। स्त्यानग्रहणेन द्रौपदीमन्युप्रक्षालने त्वरा सूचिता। समासेन च सन्ततवेगवहनस्वभावात् तावत्येव मध्ये विश्रान्तिमलभमाना चूर्णितोरुद्वयसुयोधनानादरणपर्यन्ता प्रतीतिरेकत्वेनैव भवतीत्यौद्धत्यस्य परं परिपोषिका। अन्ये तु सुयोधनस्य सम्बन्धि यत्स्त्यानावबद्धं घनं शोणितं तेन शोणपाणिरिति व्याचक्षते।

य इति। स्वभुजयोर्गुरुर्मदो यस्य चमूनां मध्येऽर्जुनादिरित्यर्थः। पाञ्चालराजपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन द्रोणस्य व्यापादनात्तत्कुलं प्रत्यधिकः क्रोधावेशोऽश्वत्थाम्नः। तत्कर्मसाक्षीति कर्णप्रभृतिः। रणे सङ्ग्रामे कर्तव्ये यो मयि मद्विषये प्रतीपं चरति समरविघ्नमाचरति। यद्वा मयि चरति सति सङ्ग्रामे यः प्रतीपं प्रतिकूलं कृत्वास्ते स एवंविधो यदि सकलजगदन्त को भवति। तस्याप्यहमन्तकः किमुतान्यस्य मनुष्यस्य देवस्य वा। अत्र पृथग्भूतैरेव क्रमाद्विमृश्यमानैरर्थैः पदात्पदं क्रोधः परां धारामाश्रित इत्यसमस्ततैव दीप्तिनिबन्धनम्। एवं माधुर्यदीप्ती परस्परप्रतिद्वन्द्वितया स्थिते शृङ्गारादिरौद्रादिगते इति प्रदर्शयता तत्समावेशवैचित्र्यं हास्यभयानकवीभत्सशान्तेषु दर्शितम्। हास्यस्य शृङ्गाराङ्गतया माधुर्यं प्रकृष्टं विकासधर्मतया चौजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्यं द्वयोः। भयानकस्य भग्नचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्ततया ओजः प्रकृष्टं माधुर्यमल्पम्। बीभत्सेऽप्येवम्। शान्ते तु विभाववैचित्र्यात्कदाचिदोजः प्रकृष्टं कदाचिन्माधुर्यमिति विभागः।।९।।

रौद्रैत्यादि = रौद्र (रस) + आदि—यहाँ पर आदि शब्द 'प्रकार' (सादृश्य) के अर्थ में हैं। इससे वीर और अद्‌भुत (रसों) का भी ग्रहण है। दीप्ति प्रतिपत्ता अथवा सहृदय के हृदय में विकास, विस्तार और प्रज्वलन की अवस्था को आहित करती है। वह मुख्यरूप से 'ओजस्' शब्द से कही जाती है। 'रौद्र' आदि उस दीप्ति के आस्वाद से युक्त हैं। आस्वाद विशेष एवं

कार्यरूप उस दीप्ति से (वे रौद्र आदि रस) अन्य रसों से पृथक्‌रूप में लक्षित होते हैं। अतएव कारण में कार्य के उपचार से "रौद्र" आदि ही 'ओजस्' शब्द के वाच्य हैं। अतएव लक्षितलक्षणा के द्वारा रौद्र आदि का प्रकाशक शब्द दीर्घसमास की रचना का वाक्यरूप होकर भी 'दीप्ति' कहलाता है। जैसे—चञ्चत्० इत्यादि। रौद्र आदि का प्रकाशक अर्थ प्रसन्न एवं बोधक वाचकों द्वारा अभिहित होता हुआ, समास की अपेक्षा न करके भी 'दीप्ति' कहलाता है। जैसे—'यो यः शस्त्रम्०' इत्यादि। वेग से आवर्त्तन करती हुई भुजाओं द्वारा घुमाई गई जो यह चण्ड गदा, उसके द्वारा सबओर जो जाँघों पर प्रहार है उसके कारण सम्यक् चूर्णित अर्थात् पुनः उठने के अयोग्य बना दिया गया एक ही समय उरुयुगल है जिसका, उस सुयोधन को अनादृत करके ही घनीभूत हो जाने से, न कि कालान्तर में सूख जाने से, बाँधा हुआ अर्थात् हाथों के द्वारा छुड़ाया न जाता हुआ, पकड़ लेने के कारण घना, न कि रस (द्रव) रूप जो शोणित अथवा रुधिर (रक्त) उससे लाल हाथ हैं जिसके ऐसा वह। अतएव वह कातर (भयभीत) लोगों को त्रस्त करने वाला भीम। तेरा—। जिस देवी के लिये अनुचित होने पर भी उन उन अपमानों को किया, उस तेरे बालों को उत्तंसित करेगा–उत्तंसयुक्त करेगा। उत्प्रेक्षा यह है कि एकलट बने हुये बालों को पृथक्-पृथक् करके हाथ से टपकते हुये रक्त के बूँदों के रूप में लाल फूलों से निर्मित आभूषण से मानों युक्त करेगा। कुलांगना के अपकार की याद दिलाने वाले 'देवि'—इस सम्बोधन से क्रोध का ही उद्दीपन–विभाव रूप का सम्पादन किया है, ऐसी स्थिति में यहाँ 'शृङ्गार' की शङ्का नहीं करना चाहिये।

दूसरी वार गदा का आघात देने का उद्योग न करना, यह सुयोधन का अनादर है। वह अनुद्योग उसके ऊरुयुगल के सञ्चूर्णित हो जाने से ही स्पष्ट हो जाता है। 'स्त्यान' (घनीभूत) कहने से द्रौपदी के क्रोध के प्रक्षालन में त्वरा सूचित की है। और समास के द्वारा निरन्तर वेग से बहने के स्वभाव के कारण तब तक मध्य में विश्राम न प्राप्त करती हुई, चूर्णित ऊरुयुगल वाले सुयोधन के अनादरण तक पर्यवसित प्रतीति एकरूप से होती है, इस प्रकार वह (भीम के) औद्धत्य का पूर्णरूप से परिपोष करती है। दूसरे लोग व्याख्या करते हैं कि "सुयोधन का जो स्त्यानावबद्ध (जोर से निकलकर घनीभूत), घन अर्थात् गाढ़ा जो शोणित (रक्त), उससे लाल हाथ वाला"।

पाण्डवी सेनाओं में—सेनाओं के मध्य अपनी भुजाओं पर अधिक मद है जिसका, अर्थात् अर्जुन आदि। पाञ्चाल–नरेश के पुत्र धृष्टद्युम्न ने द्रोण का वध किया, अतः उसके कुल के प्रति अश्वत्थामा का क्रोधावेश अधिक है। उस द्रोणवध-रूप कर्म के साक्षी, (आँखों के समक्ष द्रोण का वध देखने वाले) कर्ण इत्यादि। मेरे द्वारा कर्तव्य संग्राम में जो मेरे प्रति प्रतीप (उलटा) आचरण करेगा अर्थात् नगर में विघ्न डालेगा। अथवा मेरे संग्राम में विचरण करते समय जो प्रतीप अथवा प्रतिकूल करके रहेगा, ऐसा वह यदि सारे संसार का अन्तक है तो उसका भी मैं अन्तक हूँ, फिर अन्य पुरुष अथवा देवता की बात क्या? यहाँ पृथक् पृथक् हुये ही एवं क्रम से विमृश्यमान अर्थों के द्वारा क्रोध एक पद से दूसरे पद में उत्कृष्ट धारा पर आश्रित है (उत्कर्ष पर चढ़ता जाता है), इस भाँति असमस्त (समासरहित) होना ही दीप्ति का कारण (निबन्धन) है। इस भाँति माधुर्य तथा दीप्ति दोनों एक दूसरे के विरोधी-रूप में हो

शृङ्गार आदि तथा रौद्र आदि रसों में होते हैं, यह दिखलाते हुये (ग्रन्थकार द्वारा) उनके समावेश का वैचित्र्य हास्य, भयानक, वीभत्स और शान्त रसों में दिखलाया गया है। विभाग यह है कि हास्य शृङ्गार का अङ्ग है, अतएव उसमें माधुर्य प्रकृष्ट हुआ करता है, एवं विकास-धर्मी होने के कारण ओज भी उसमें प्रकृष्ट हुआ करता है, इस भाँति दोनों का साम्य है। भयानक में चित्तवृत्ति भग्न हो जाया करती है, फिर भी उसका विभाव दीप्त (ओजस्वी) हुआ करता है। अतः ओज प्रकृष्ट है और माधुर्य अल्प। इसी भाँति 'वीभत्स' में भी शान्त में विभाव के वैचित्र्य से कभी ओज प्रकृष्ट हो जाया करता है तो कभी माधुर्य।।९।।

मंजूआशुबोधिनी

अब इस नवम कारिका में गुणों के प्रसङ्ग से ''ओज'' गुण का वर्णन करते हैं:—

शब्द और अर्थ युक्त काव्य में 'रौद्र' आदि (आदि पद से वीर तथा अद्भुत) रस अत्यन्त उज्ज्वलता रूप (चित्त की अवस्था-विशेष) दीप्ति को पैदा किया करते हैं, इस कारण लक्षणा से वे ही दीप्तिरूप कहे जाया करते हैं। (ज्ञाता के हृदय के विस्तार अथवा प्रज्ज्वलनस्वभाव अवस्था विशेष का ही नाम 'दीप्ति' है। वही मुख्यरूप से ओजःशब्द वाच्य है। इसी के सम्बन्ध से तदास्वादमय रौद्र आदि रस भी लक्षणा द्वारा दीप्ति शब्द से गृहीत हुआ करते हैं। और उसके प्रकाशक दीर्घसमास-रचना से अलङ्कृत शब्द भी लक्षित-लक्षणा से दीप्ति शब्द से गृहीत हुआ करते हैं।) उसको प्रकाशित करने वाले शब्द दीर्घ-समास रचना से अलङ्कृत हुआ करते हैं।

तात्पर्य यह है कि रौद्र-वीर तथा अद्भुत नामक रस शब्द और अर्थ से युक्त काव्य में व्यङ्ग्य होते हुये 'दीप्ति' नामक चित्त की समुज्वलता से अधिक चमत्कृत हुआ करते हैं। अतएव उज्ज्वलता अथवा रौद्र आदि रसो की अभिव्यक्ति में निमित्त-भूत शब्द और अर्थ को भी आश्रय करके 'ओज' गुण व्यवस्थित हुआ करता है।

उज्ज्वलता नाम से कथित दीप्ति नामक चित्तविस्तारात्मक वृत्तिविशेष का उत्पादक ओजगुणयुक्त रौद्र आदि रस ही उपचार द्वारा दीप्ति पद से व्यवहृत हुआ करता है।

उस ओज गुण को दीर्घ समास युक्त रचना से अलङ्कृत वाक्य ही प्रकट किया करता है।

ओज-गुण के आश्रय (अ – शब्द) का उदाहरण–क्रोधित भीमसेन द्रौपदी से कहता है—''चञ्चद्भुजभ्रमित...'' इत्यादि। ''हे देवि! फड़कती हुई भुजाओं से घुमायी जाती हुई गदा के भीषण प्रहार से जिस (सुयोधन) की दोनों जांघाओं को चूर-चूर कर दिया गया है इस प्रकार के सुयोधन के जमे हुये गाढ़े रक्त से रँगे हुये हाथों वाला यह भीम ही तुम्हारे बालों को सँवारेगा (बाँधेगा)।''

इस श्लोक में दीर्घ-समास रचना से अलङ्कृत वाक्य उस चित्तविस्तार रूप दीप्ति का अभिव्यजंक है। अतएव यह ओज-गुण का उदाहरण है।

ओज-गुण के आश्रय (ब – अर्थ का) उदाहरण–उस ओज गुण का प्रकाशक ''अर्थ'' दीर्घसमास रचना से रहित प्रसादगुणयुक्त पदों से बोधित 'अर्थ' भी हुआ करता है।

जैसे—क्रुद्ध अश्वत्थामा कहता है:—

"पाण्डवों की सेनाओं में जो भी अपनी भुजाओं के बल का अभिमान करने वाला शस्त्रधारी है अथवा पाञ्चालवंश में छोटा, बड़ा, नौजवान अथवा गर्भस्थ बच्चा भी विद्यमान है, और जो जो मेरे पिता (द्रोण) के घृणित हत्याकाण्ड के दर्शक हैं (अर्थात् जो जो खड़ा हुआ उस द्रोण के वध को देखता रहा है।) और संग्राम के लिये मेरे द्वारा उद्यत हो जाने पर जो-जो मेरे प्रतिपक्षी होकर उपस्थित होते हैं, उन उनको क्रोधान्ध मैं (अश्वत्थामा) नाश कर दूँगा फिर चाहे वह सम्पूर्ण संसारका अन्तक स्वयं यमराज ही क्यों न हो।"

इस स्थल पर दीर्घसमास के न रहने पर भी उक्त उद्धत अर्थ ही ओज-गुण को अभिव्यक्त करने वाला है।

इत्यादि उदाहरणों में दोनों (अर्थ तथा शब्द) ओजस् गुण से युक्त हैं।

विशेष–१. यहाँ वृत्ति में "त एव दीप्तिरित्युच्यते" में विशेष्यवाचक तत्शब्द के 'ते' इस बहुवचनान्तरूप के सदृश आख्यात 'उच्यते' का भी बहुवचनान्त प्रयोग होना चाहिये था, फिर एकवचन का प्रयोग कैसे ठीक होगा? इसका समाधान कथञ्चित् यह किया जाना ही उचित होगा कि इति शब्द से उपस्थाप्यमान वाक्यार्थ ही यहाँ 'वच' धात्वर्थ–निरूपित कर्मता का आश्रय है। तथा उस सामान्य में संख्या-विशेष का कथन न किये जाने से एकवचन का प्रयोग भी अभीष्ट रहा होगा। इस बात को महाभाष्य में वचनविधायक (द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने, बहुषुबहुवचनम्) सूत्रों का 'एकवचनम्' 'द्विबहोर्द्विवचनैकवचने" इस प्रकार का न्यास करते हुये भाष्यकार ने सूचित किया है। तदनुसार सामान्य में एकवचन का प्रयोग है।

२. कारिका में विद्यमान "रौद्रादयो" पद में 'आदि' पद से "वीराद्भुतयोरपिग्रहणम्" ऐसा लोचनकार द्वारा लिखा गया है। उन्होंने इस स्थल पर 'आदि' पद को 'प्रारम्भ' अर्थ वाला न मानकर 'प्रकार' अथवा 'सादृश्यवाचक' माना है। इसी दृष्टि से उन्होंने रौद्ररस के समान 'वीर' आदि का ग्रहण भी किया है। उसमें वीर रस के विभावों से उत्पन्न 'अद्भुत' रस का ग्रहण करना भी उचित माना है।

ध्वन्यालोकः

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारण क्रियः।।१०।।

सभी रसों के प्रति कावय का जो समर्पकत्व अर्थात् सम्यक् प्रकार से अर्पण-कर्तृव्य है, सभी रसों और रचनाओं में साधारण (सामान्य) रूप से अवस्थित रहने वाला है, उसे प्रसाद गुण समझना चाहिये।

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वरससाधारणो गुणः सर्वरचनासाधारणश्च व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।

प्रसाद शब्द तथा अर्थ की स्वच्छता है, और वह सभी रसों तथा रचनाओं में सामान्यरूप से रहने वाला एवं प्रधानरूप से व्यङ्ग्य-अर्थ की अपेक्षा से ही (उसके ही समर्पकरूप में) व्यवस्थित मानना चाहिये।

लोचनम्

समर्पकत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तॄन् प्रति स्वात्मावेशेन व्यापारकत्वं झटिति शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेन। अकलुषोदकदृष्टान्तेन च तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः। उपचारात्तु तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः। तमेव व्याचष्टे–प्रसादेति। ननु रसगतो गुणस्तत्कथं शब्दार्थयोः स्वच्छतेत्याशङ्क्याह–स चेति। च शब्दोऽवधारणे। सर्वरससाधारण एव गुणः। स एव च गुण एवंविधः। सर्वा येयं रचना शब्दगता चार्थगता च समस्ता चासमस्ता च तत्र साधारणः। मुख्यतयेति। अर्थस्य तावत्समर्पकत्वं व्यङ्ग्यं प्रत्येव सम्भवति नान्यथा। शब्द स्यापि स्ववाच्यार्पकत्वं नाम कियदलौकिकं येन गुणः स्यादिति भावः। एवं माधुर्यौजः प्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण। ते च प्रतिपत्त्रास्वादमया मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे ततस्तद्व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम्।।१०।।

समर्पकत्व अर्थात् सम्यक् प्रकार से अर्पणकर्तृत्व; जिस प्रकार सूखे काठ में आग झट से व्याप्त हो जाया करती है उसी प्रकार हृदय के एकरूप होने (हृदय-संवाद) के कारण प्रतिपत्ताओं (जानकारों) के प्रति (अर्थात् उनके हृदयों के।) स्वस्वरूप से व्याप्तकर लेना अथवा जिस प्रकार कालुष्यरहित (स्वच्छ) वस्त्र को झट से व्याप्त कर लेता है, इस ढंग से वह अकालुष्य प्रसन्नत्व (प्रसाद) सभी रसों का गुण है। उपचार (लक्षणा) से, उसप्रकार के (रसरूप) व्यङ्ग्य अर्थ के सम्बन्ध में भी जो शब्द और अर्थ का 'समर्पकत्व' है, वही भी 'प्रसाद' है। उसी की व्याख्या करते हैं—प्रसाद—। जब कि गुण रसगतधर्म है तब शब्द और अर्थ की स्वच्छता कैसे? इस प्रकार की आशङ्का करके कहते हैं—और वह—। और शब्द अवधारणार्थक है; सभी रसों में साधारण रूप से ही रहने वाला गुण है और वही गुण इस प्रकार का है। शब्दगत और अर्थगत तथा समस्त और असमस्त इन सब प्रकार की रचनाओं में साधारणरूप से रहने वाला है। मुख्यरूप से—भाव यह है कि अर्थ का समर्पकत्व व्यंग्य के प्रति ही सम्भव होगा, अन्यथा नहीं; शब्द का भी अपने वाच्य का अर्पकत्व कितना अलौकिक है जिससे गुण माना जाय? इस प्रकार भामह के अभिप्राय से माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन ही गुण हैं। वे मुख्यरूप से प्रतिपत्ता (ज्ञाता अथवा जानकार अर्थात् सहृदय) के आस्वादस्वरूप हैं तब लक्षण से आस्वाद्य रस में उपचरित हैं, तब उस (रस) के व्यंजक शब्द और अर्थ में उपचरित हैं, यह तात्पर्य है।।१०।।

मंजूआशुबोधिनी

प्रसाद गुण का आश्रय–(सूखे हुये ईंधन में अग्नि के सदृश अथवा स्वच्छ अथवा निर्मल जल में वस्त्र के समान) काव्य का सम्पूर्ण रसों के प्रति जो समर्पकत्व (बोद्धा के हृदय में झटितिव्यापनकर्तृत्व) है और सम्पूर्ण रसों में और रचनाओं में (सर्वसाधारणी क्रिया वृत्तिः, स्थितिर्यस्य सः) रहने वाला है उसे 'प्रसाद' गुण समझना चाहिये।।१०।।

'प्रसाद' का अर्थ शब्द और अर्थ की स्वच्छता है। वह सभी रसों का साधारण गुण है तथा सभी रचनाओं में समानरूप से रहा करता है (फिर चाहे वह रचना शब्दगत हो अथवा अर्थगत, समस्त ही अथवा असमस्त) मुख्य रूप से व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही उसे स्थित समझना चाहिये।

ये गुण मुख्यरूप से प्रतिपत्ता या ज्ञाता के आस्वादमय होते हैं, फिर रस में उपचरित हुआ करते हैं और फिर लक्षणा द्वारा शब्द एवं अर्थ में भी उनका व्यवहार हुआ करता है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने इसी प्रसाद का लक्षण इस प्रकार से किया है:—

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचना सु च।।

इस भाँति ग्रन्थकार ने यह सिद्ध किया कि जहाँ रसादि का असंदिग्ध प्राधान्य है वहाँ रसध्वनि, जहाँ वह किसी अन्य का अङ्ग है वहाँ रसवदलङ्कार तथा जहाँ रस अलङ्कार्य है और अन्य कोई रसान्तर अङ्गभूत नहीं है वहाँ 'उपमा' आदि अलङ्कार हुआ करते हैं। यह इनको अभिमत विषय-विभाग है। इसी भाँति अङ्गीभूत रस आदि के आश्रित धर्म गुण, शब्द अथवा अर्थ के चारुत्वहेतु अलङ्कार होते हैं।।१०।।

गुण और अलङ्कार का भेद, तथा गुण के भेद के सम्बन्ध में विचार साहित्यशास्त्र का मुख्य विषय है। ध्वन्यालोक तथा लोचन के अनुसार इन तीनों के सम्बन्ध में विचार यही है। काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि परवर्ती ग्रन्थों में ध्वन्यालोक और लोचन के ही विचारों का उल्लेख हुआ है।

किन्तु आचार्य वामन ने गुण तथा अलङ्कार का अन्तर करते हुये कहा है:—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।।

अर्थात् काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म 'गुण' कहलाते हैं तथा शोभा की वृद्धि करने वाले धर्म 'अलङ्कार' कहलाते हैं। काव्यप्रकाशकार ने तो इसका खण्डन किया है। और भट्ट उद्भट ने तो गुण और अलङ्कार में कोई भेद ही स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार 'ओजस्' आदि गुण और अनुप्रास आदि अलङ्कार दोनों ही समवाय सम्बन्ध से रहा करते हैं। लौकिक गुण और अलङ्कार में भेद अवश्य होता है, किन्तु काव्य के गुण और अलङ्कार भेद का कल्पना भेड़चाल ही है। आलोक तथा लोचन में गुण को रस-निष्ठ धर्म और अलङ्कार को शब्द एवं अर्थ-निष्ठ धर्म माना है। इस भाँति आश्रय-भेद से भेद है।

ध्वन्यालोक में माधुर्य ओजस् और प्रसाद ये तीन गुण माने हैं। प्राचीन ग्रन्थों में तो दस शब्दगुण तथा दस अर्थ-गुणों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका अन्तर्भाव काव्यप्रकाश के अनुसार उपर्युक्त तीन गुणों में ही हो जाता है। देखिये—काव्यप्रकाश–अष्टम उल्लास।

ध्वन्यालोकः

अनित्यदोषों की व्यवस्था–हमारे द्वारा जो रसध्वनि आदि का क्षेत्र निर्धारित किया गया है, उसको मानने पर ही नित्य तथा अनित्य दोषों की व्यवस्था भी बन सकती है:—

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः।।११।।

श्रुतिदुष्टत्व आदि जिन अनित्य दोषों को सूचित किया गया है, उनको मुख्य रूप से व्यङ्ग्यशृङ्गार रसात्मक ध्वनि काव्य में ही त्याज्य समझना चाहिये। (रौद्र आदि रसों में तो वे दोष, दोषरूप में न गिने जाने से त्याग देने योग्य नहीं हुआ करते हैं, ऐसा अभियुक्तों ने कहा है।)।

अन्तिया दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचितास्तेऽपि न वाच्ये अर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये शृङ्गारव्यतिरेकिणि, शृंगारे वा ध्वनेरात्मभूते। किं तर्हि ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारेऽङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात्।।११।।

उपर्युक्त कारिका के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हुये कहते हैं:—श्रुतिदुष्ट आदि जिन दोषों को अनित्य कहा गया है, वे दोष भी वाच्यर्थमात्र में अथवा शृङ्गारव्यतिरिक्त व्यङ्ग्य में अथवा ध्वनिभिन्नगुणीभूत व्यंगात्मक शृङ्गार में भी त्याज्य नहीं हुआ करते हैं, अपितु प्रमुखरूप से ध्वनिभूत शृंगारात्मक व्यङ्ग्य रस में ही त्याज्य हुआ करते हैं। अर्थात् शृङ्गार ध्वनि में ही ये दोष त्याज्य हुआ करते हैं, अन्यथत्र नहीं। यदि इनकी क्वाचित्कता (कहीं कहीं पर होना) न मानी जाय तो इनकी अनित्यता ही नहीं होगी क्योंकि उन दोषों की ही गणना अनित्य दोषों में की जाया करती है जो कहीं तो दोषरूप में स्वीकार किये जाते हों और कहीं दोषरूप में स्वीकार न किये जाते हों।

एवमयमसंलक्ष्यक्रमद्योतो ध्वनेरात्मा प्रदर्शितः सामान्येन।

इस प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का स्वरूप सामान्यतः प्रदर्शित किया गया।

लोचनम्

एवमस्मत्पक्ष एव गुणालङ्कारव्यवहारो विभागेनोपपद्यत इति प्रदर्श्य नित्यानित्यदोषविभागोऽप्यस्मत्पक्ष एव संगच्छत इति दर्शयितुमाह–श्रुतिदुष्टादय इत्यादि। वान्तादयोऽसभ्यस्मृतिहेतवः। श्रुतिदुष्टा अर्थ दुष्टा वाक्यार्थ बलादश्लीलार्थप्रतिपत्तिकारिणः। यथा–'छिन्द्रान्वेषी महांस्तब्धो घातायैवोपसर्पति' इति। कल्पनादुष्टास्तु द्वयोः पदयोः कल्पनया। यथा 'कुरु रुचिम्' इत्यत्र क्रमव्यत्यासे। श्रुतिकष्टस्तु अधाक्षीत् अक्षोत्सीत् तृणेढि इत्यादि। शृंगार इत्युचितरसोपलक्षणार्थम्। वीरशान्ताद्भुतादावपि तेषां वर्जनात्। सूचिता इति। न त्वेषां विषयविभागप्रदर्शनेनानित्यत्वं भिन्नवृत्तादिदोषेभ्यो विविक्तं प्रदर्शितम्। नापि गुणेभ्यो व्यतिरिक्तत्वम्। बीभत्सहास्यरौद्रादौ त्वेषामस्माभिरुपगमात् शृंगारादौ च वर्जनादनित्यत्वं च दोषत्वं च समर्थितमेवेति भावः।।११।।

इस भाँति हमारे पक्ष में ही गुण तथा अलङ्कार का व्यवहार विभागपूर्वक बनता है यह बतलाकर दोषों का नित्यानित्यविभाग भी हमारे पक्ष में ही सङ्गत होता है, यह दिखलाने के लिये कहते हैं:—जो श्रुतिदुष्ट आदि इत्यादि। वान्त (उगला हुआ) आदि असभ्यस्मृति को

उत्पन्न करने वाले। श्रुतिदुष्ट और वाक्यार्थ के बल से अश्लील अर्थ की प्रतीति कराने वाले अर्थदुष्ट; जैसे—'बड़ा स्तब्ध और छिद्र का अन्वेषण करने वाला, घात ही के लिए पहुँचता जाता है।' दो पदों की कल्पना से कल्पना दुष्ट होते हैं। जैसे—'कुरु रुचिम्' इस क्रम को बदल देने पर। 'श्रुतिकष्ट' है, 'अधाक्षीत्' 'अक्षोत्सीत्', 'तृणेढि' इत्यादि। उचित रस के उपलक्षण के लिये 'शृंगार' का प्रयोग किया है। वीर, शान्त, अद्भुत आदि रसों में भी उन दोषों का वर्जन है। सूचित—। न कि विषय-विभाग दिखाने से इनके अनित्यत्व को भिन्नवृत्त आदि दोषों से अलग दिखलाया गया है, और न कि इनका गुणों से व्यतिरिक्तत्व भी बतलाया है। वीभत्स, हास्य और रौद्र आदि में इन दोषों को हमने स्वीकार किया है और शृंगार आदि में इनका वर्जन किया है, अतः इनके अनित्यत्व और दोषत्व का समर्थन ही किया है॥११॥

मंजूआशुबोधिनी

हमने जो रसध्वनि आदि का क्षेत्र निर्धारित किया है उसको मानने पर ही नित्य और अनित्य दोषों की व्यवस्था भी बन सकती है।

श्रुतिदुष्ट आदि (श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट और कल्पनादुष्ट)—जो यह अनित्यदोष कहे गये हैं वह ध्वन्यात्मक—शृङ्गार (अर्थात् रसध्वनिरूप प्रधानभूत शृङ्गार) में ही त्याज्य कहे गये हैं। भामह के अनुसार ये दोष हैं—

श्रुतिदुष्टार्थदुःष्टत्वे कल्पनादुष्टमित्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्।।

जो श्रुतिदुष्ट आदि अनित्य दोष सूचित किये गये हैं वे न तो वाच्यार्थ मात्र में, न शृङ्गार से भिन्न व्यङ्ग्य (रसादि) में तथा न ध्वनि के अनात्मभूत शृङ्गार (गुणीभूत शृङ्गार) में त्याज्य कहे गये हैं किन्तु प्रधानरूप से व्यङ्ग्य ध्वन्यात्मक शृङ्गार में ही त्याज्य कहे गये हैं। अन्यथा उनकी अनित्य दोषता ही न बनेगी।

उन्हीं को अनित्य दोष कहा जाया करता है जो कहीं दोषरूप में माने जाते हों और कहीं दोषरूप में न माने जाते हों।

इस भाँति असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का स्वरूप सामान्यरूप से प्रदर्शित किया गया।

उस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के स्वरूप का विशेषरूप कथन न किये जाने में युक्ति देते हैं:—

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदाः स्वगताश्च ये।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने।।१२।।

उस (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि) के अङ्गों (अलङ्कार आदि) के जो अनेक भेद हैं तथा (स्वयं रस आदि के) जो स्वगत भेद हैं उनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध (संसृष्टि, संकर आदि, प्रात्तारविधि से विस्तार आदि। कल्पना करने पर उनकी गणना अनन्त हो जायगी॥१२॥

अङ्गितया व्यङ्ग्यो रसादिर्विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरेक आत्मा य उक्तस्तस्याङ्गानां वाच्यवाचकानुपातिनामलङ्काराणां ये प्रभेदा निरवधयो ये च स्वगतास्तस्याङ्गिनोऽर्थस्य रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणा विभावानुभावव्यभिचारि-

प्रतिपादनसहिता अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया निःसीमानो विशेषास्तेषामन्योन्यसम्बन्ध-परिकल्पने क्रियमाणे कस्यचिदन्यतमस्यापि रसस्य प्रकाराः परिसंख्यातुं न शक्यन्ते किमुत सर्वेषाम्।

तथा हि–शृँगारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ। सम्भोगो विप्रलम्भश्च। सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शनसुरतविहरणादिलक्षणाः प्रकाराः। विप्रलम्भस्याप्यभिलाषेर्ष्याविरह-प्रवासविप्रलम्भादयः। तेषां च प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिभेदः। तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद इति स्वगतभेदापेक्षयैकस्य तस्यापरिमेयत्वम्, किं पुनरङ्ग-प्रभेदकल्पनायाम्। ते ह्यङ्गप्रभेदाः प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति।।१२।।

उस अङ्गीभूत (प्रधानभूत) रस आदि के उपकारक अलङ्कार आदिकों के जो उपमा आदि प्रभेद हैं तथा जो स्वगत रसभाव आदि और संभोगविप्रलम्भ आदि प्रभेद हैं—उन सबके परस्पर संकर संसृष्टि के प्रतिपादन करने पर संख्या अनन्त हो जायगी, इसीकारण विशेषरूप से उसका वर्णन नहीं किया गया है।

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का प्रधानरूप से जो व्यङ्ग्यरसादिरूप एक प्रकार कहा है, उसके उपकारक वाच्यगत (अर्थगत) उपमा आदि और वाचकगत (शब्द–गत) अनुप्रासादि अलङ्कारों के जो निःसीय प्रभेद हैं, तथा अङ्गीभूत (प्रधानभूत) उस व्यङ्ग्यरसादि के जो विभाव, अनुभाव, संचारीभावों के प्रतिपादन सहित स्वगत रस-भाव-तदाभास-तत्प्रशम तदुदय आदि स्वरूपों के अनन्त प्रभेद हैं, उन सभी के परस्पर संकर और संसृष्टि के संकलन करने पर उनमें भी किसी एक के भी दूसरे रसभाव आदि एवं विभाव आदि तथा अलङ्कारों के अत्यधिक प्रकारों से संकर तथा संसृष्टि के प्रतिपादन करने पर असंख्य प्रकार हो जाते हैं, जिनकी गणना किया जाना भी संभव नहीं है, सबकी तो बात दूर रही।

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का प्रधानरूप से जो व्यङ्ग्य रसादिरूप एक प्रकार बतलाया है, उसके वाच्यगत (अर्थगत) उपमाआदि और वाचकगत (शब्दगत) अनुप्रास आदि अलङ्कारों के जो अपरिमित भेद हैं और उस प्रधानभूत (रसादिध्वनिरूप) अर्थ के जो विभाव, अनुभाव, संचारीभावों के प्रतिपादन सहित स्वगत रस-भाव-तदाभास-तत्प्रशमरूप-तदुदयादि स्वरूपों के अनन्त प्रभेद (भेदो-पभेद) हैं उन सभी के परस्पर संकर और संसृष्टि के संकलन करने पर उनमें भी किसी एक के भी दूसरे रसभाव आदि एवं विभाव आदि तथा अलङ्कारों के अत्यधिक प्रकारों से संकर और संसृष्टि के प्रतिपादन करने पर अपरिगणित प्रकार हो जाते हैं जिनकी गणना का किया जाना भी संभव नहीं है, फिर सबकी तो बात ही क्या है।

जैसे (उदाहरण के लिये) प्रधानभूत शृंगार रस के प्रारम्भ में दो भेद होते हैं (१) सम्भोग शृंगार (२) विप्रलम्भ शृंगार। उनमें भी सम्भोग के परस्पर प्रेमदर्शन (दर्शन, सम्भाषण आदि का भी उपलक्षण है), ६४ प्रकार का आलिङ्गन आदि सुरत और (उद्यान) विहार आदि रूप अनेक प्रभेद हैं। (इसी भाँति) विप्रलम्भ के भी अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास तथा करुण विप्रलम्भ आदि (शापादि निमित्तक वियोगादि) प्रभेद हैं। उनमें से प्रत्येक (भेद) के विभाव,

अनुभाव, संचारीभाव के भेद से प्रभेद हैं। और उन (विभावादि) के भी देश, काल, आश्रय, अवस्थात्मक प्रभेद हैं। इस भाँति स्वगत-प्रभेदों की अपेक्षा से ही उस एक शृंगार की ही अपरिमेय संख्या हो जाती है, फिर उनके अङ्गों के भेदोपभेदकल्पना की तो बात ही क्या है। उन सब प्रभेदों के प्रत्येक अङ्गी (प्रधान) रसादि के प्रभेदों के साथ संकर और संसृष्टि की कल्पना करने पर आनन्त्य हो जाता है अर्थात् जब एक शृंगार रस का भी स्वकीय शुद्ध उक्त प्रकारों से सम्बन्ध करने पर विशेषरूप से परिगणन नहीं किया जा सकता है, तब उसका दूसरों से सम्बद्ध होने पर अथवा अन्य रसों का परिगणन करना तो सर्वथा असंभव ही है।

ध्वन्यालोक

दिङ्मात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम्।
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति।।१३।।

फिर भी उस (रसादिध्वनि) के अनन्त भेदों के होने से असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनि के भेदों का दिङ्मात्र (कुछ थोड़ा सा) कथन करते हैं जिससे व्युत्पन्न सहृदयों की बुद्धि सर्वत्र प्रकाश प्राप्त कर सकेगी।।१३।।

दिङ्मात्रकथनेन हि व्युत्पन्नानां सहृदयानामेकत्रापि रसभेदे सहालङ्कारैरङ्गाङ्गिभावपरिज्ञानादासादितालोका बुद्धिः सर्वत्रैव भविष्यति।।१३।।

दिङ्मात्र के कथन से अलङ्कार आदि के साथ रस के एक ही भेद के अङ्गाङ्गिभाव के परिज्ञान से व्युत्पन्न सहृदयों की बुद्धि को अन्य सभी स्थानों पर (स्वयं) ही प्रकाश प्राप्त हो जायगा।।१३।।

लोचनम्

येनेति। दिङ्मात्रोक्तेनेत्यर्थः। सचेतसामिति। महाकवित्वं सहृदयत्वं च प्रेप्सूनामिति भावः। सर्वत्रेति। सर्वेषु रसादिष्वासादित आलोकोऽवगमः। सम्यग्व्युत्पत्तिर्ययेति सम्बन्धः।।१३।।

जिससे—अर्थात् दिङ्मात्र का कथन करने से। सचेतस जनों की—भाव यह है कि महाकवित्व और सहृदयत्व प्राप्त करने की इच्छा वालों की। सर्वत्र—। सभी रसों में प्राप्त किया आलोक अथवा अवगम अर्थात् सम्यक् व्युत्पत्ति को जिन्होंने।।१३।।

मंजूआशुबोधिनी

ऊपर कथित रसादिध्वनि के अनन्त भेदों के होने से असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य-ध्वनिभेदों का मार्ग-प्रदर्शनमात्र किया जा रहा है जिससे कि विशेषज्ञ सहृदयों की बुद्धि रसादिध्वनि के अनिर्दिष्ट प्रकारों में भी प्रकाश प्राप्त कर सकेगी। कहने का अभिप्राय यह है कि वृहद्रूप से प्रतिपादन न किये जाने पर भी दिग्दर्शन मात्र से ही प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों को भी सभी तत्वों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अतएव असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य-ध्वनि का संक्षेपरूप में ही वर्णन किया जा रहा है।

दिग्दर्शन मात्र से ही सरस एवं चतुर प्रतिभाशाली व्यक्तियों को किसी एक रस के भी विशेषरूप से अलङ्कारों के साथ अङ्गाङ्गिभाव का सम्यक्-ज्ञान प्राप्त हो जाने से सभी रसादि

के प्रकारों का ज्ञान प्राप्त करना सरल हो जायगा।

ध्वन्यालोक

शृंगार-रस में शब्दालङ्कारों का अधिक प्रयोग अनुचित—

तत्र—

शृंगारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः।।१४।।

वहाँ (उसमें—)

प्रधानभूत (अङ्गी) शृंगार के सभी प्रभेदों में यत्नपूर्वक समानरूप से (निरन्तर) उपनिबद्ध, अनुप्रास, (रस का) अभिव्यंजक नहीं हुआ करता है।।१४।।

अङ्गिनो हि शृङ्गारस्य ये उक्ताः प्रभेदास्तेषु सर्वेष्वेकप्रकारानुबन्धितया प्रबन्धेन प्रवृत्तोऽनुप्रासो न व्यञ्जकः। अङ्गिन इत्यनेनाङ्गभूतस्य शृंगारस्यैकरूपानुबन्ध्यनुप्रासनिबन्धने कामचारमाह।।१४।।

(अङ्गीभूत) प्रधानभूत शृंगाररस के जो प्रभेद कहे गये हैं, उन सभी में एकाकाररूप से निरन्तर निबद्ध अनुप्रास, रस का अभिव्यंजक नहीं हुआ करता है। "अङ्गिन" इस पद से अङ्गभूत (गुणीभूत) शृंगाररस में समानरूप से निरन्तर अनुप्रास की रचना का इच्छानुसार उपयोग किया जा सकता है, यह सूचित किया है।।१४।।

लोचनम्

वक्तव्ये दिङ्मात्रे सतीत्यर्थः। यत्नादिति। यत्नतः क्रियमाणत्वादिति हेत्वर्थो अभिप्रेतः। एकरूपं त्वनुबन्धं त्यक्त्वा विचित्रोऽनुप्रासो निबध्यमानो न दोषायेत्येकरूपग्रहणम्।।१४।।

अर्थात् दिङ्मात्र वक्तव्य के होने पर। अर्थात् यत्नपूर्वक किये जाने होने के कारण, यह हेत्वर्थ अभिप्रेत है। एक प्रकार का अनुबन्ध छोड़कर निबध्यमान विचित्र अनुप्रास दोषावह नहीं हुआ करता, इस कारण 'एक-प्रकार' का ग्रहण किया है।।१४।।

मंजूआशुबोधिनी

दिग्दर्शन मात्र करते समय विशेषज्ञों द्वारा निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान का दिया जाना आवश्यक है—प्रधानरूप से प्रतीयमान शृंगाररस के साङ्गोपाङ्ग सभी प्रभेदों में अनुप्रास अलंकार की विशेषयत्न से समानरूपता के सम्पादन करने की तथा कवि का ध्यान विशेषरुप से आकृष्ट हो जाने के कारण, उन (शृंगार भेदों) के प्रति उस (अनुप्रास) में व्यंजकता नहीं है।

इसी कथित बात को विशेषरूप से स्पष्ट करते हुये कहते हैं—अङ्गिनो हि। प्रधानभूत अत्यधिक सुकुमार शृंगार ध्वनि के प्रभेदों को वे ही अलङ्कार उपस्कृत (परिपुष्ट) किया करते हैं जिनकी रचना करने में विशेष प्रयास करने की आवश्यकता नहीं हुआ करती है। अनुप्रास की रचना में तो समानरूप शब्दों के अनुसन्धान करने में अधिक-प्रयास का किया जाना स्वाभाविक है। अतएव शब्दों के विन्यास करने में ही कवि का सम्पूर्ण ध्यान आकृष्ट हो जाने के कारण यह अनुप्रास उस शृंगार-ध्वनि को परिपुष्ट करने में समर्थ नहीं हुआ करता है।

उक्त प्रधानभूत श्रृंगार-ध्वनि का ही अनुप्रास उवरञ्जक नहीं हुआ करता है, किन्तु दूसरी रस सम्बन्धी ध्वनि के प्रति प्रधानभूत श्रृंगार में तो समानरूप (एककाररूप) का अनुसरण करने वाला अनुप्रास इच्छानुसार व्यंजक हो सकता है।।१४।।

ध्वन्यालोकः

ध्वन्यात्मभूते श्रृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।।१५।।

शक्ति के होने पर भी, ध्वनि के आत्मभूत श्रृंगार में विशेषरूप से विप्रलम्भ श्रृंगार में यमक आदि का निबन्धन (कवि के) प्रमादी होने का ही (सूचक) है।।१५।।

ध्वनेरात्मभूतः श्रृंगारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकाभ्यां प्रकाश्यमानस्तस्मिन्यमकादीनां यमकप्रकाराणां निबन्धनं दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां शक्तावपि प्रमादित्वम्।

ध्वन्यात्मक श्रृंगार (रस) में तथा उसमें भी विशेषकर विप्रलम्भात्मक श्रृंगार-ध्वनि में यमक, सभङ्गश्लेष आदि का प्रयोग करने से दोषों के ढाकने वाली प्रतिभा के होने पर भी कवि का स्खलन (विशेष दोष) समझा जाया करता है।

प्रमादित्वमित्यनेन एतद्दर्श्यते काकतालीयेन कदाचित्कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भूम्नालङ्कारान्तरवद्रसाङ्गत्वेन निबन्धो न कर्त्तव्य इति।

प्रमादित्वकथन से यह अभिप्राय सूचित होता है कि काकतालीय न्याय से कदाचित् कहीं किसी एक यमक आदि अलंकार के निवेश करने से दोष नहीं होता है, अपितु अन्य अलङ्कारों की भाँति रस का उपकारक होने से इसका बहुत अधिक प्रयोग करना ही दोषाधायक हुआ करता है, अर्थात् अधिकतर प्रयुक्त ही यमक आदि अलङ्कार प्रधानीभूत श्रृंगार का उपकारक नहीं हुआ करता है।

''विप्रलम्भे विशेषतः'' इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशयः ख्याप्यते। तस्मिन्द्योत्ये यमकादेरङ्गस्य निबन्धो नियमान्न कर्त्तव्य इति।१५।।

विप्रलम्भ श्रृंगार, अत्यन्त सुकुमार होने से तनिकमात्र भी अन्य व्यासङ्ग को सहन नहीं किया करता है। अतएव उसके द्योतनार्थ यमक आदि अलङ्कारों का कभी भी प्रयोग नहीं करना चाहिये।।१५।।

लोचनम्

यमकादीत्यादिशब्दः प्रकारवाची। दुष्करं मुरजचक्रबन्धादि। शब्दभङ्गश्लेष इति। अर्थश्लेषो न दोषाय। ''रक्तस्त्वम्'' इत्यादौ शब्दभङ्गोऽपि क्लिष्ट एव दुष्टः न त्वशोकादौ।।१५।।

'यमकादि' में आदि शब्द प्रकार (सादृश्य) अर्थ में है। दुष्कर अर्थात् मुरजबन्ध, चक्रबन्ध आदि। शब्दभङ्गश्लेष—। अर्थश्लेष दोषावह नहीं हुआ करता है। 'रक्तस्त्वय' इत्यादि में। शब्दभङ्ग भी क्लिष्ट होकर ही दोषयुक्त हुआ करता है, न कि 'अशोक' इत्यादि में।।१५।।

मंजूआशुबोधिनी

शक्ति के होने पर भी ध्वनि के आत्मभूतश्रृंगार रस में और विशेष रूप से विप्रलम्भ श्रृंगार में यमक आदि का निबन्धन (कवि के प्रमादित्व) का ही सूचक है॥१५॥

रसादि ध्वनि का आत्मभूत श्रृंगार रस शब्द एवं अर्थ द्वारा तात्पर्य (तात्पर्य विषयीभूत, प्रधानतया) रूप से प्रकाशित हुआ करता है। उसमें यमकादि (इस स्थल पर आदि शब्द प्रकारार्थक अर्थात् सादृश्यार्थक है), यमक सदृश दुष्कर शब्दश्लेष अथवा सभङ्गश्लेष आदि (और मुरजबन्धादि क्लिष्ट अलङ्कारों) का शक्ति होने पर भी प्रयोग करना कवि के प्रमादी होने का सूचक है।

प्रमादित्व अथवा प्रमादी होने के द्वारा यह सूचित होता है कि काकतालीन्याय से कभी किसी एक यमक आदि की रचना हो जाने पर भी, अन्य अलङ्कारों के सदृश बाहुल्येन रसाङ्गरूप में उनकी रचना नहीं करनी चाहिये। "विप्रलम्भे विशेषतः" इन पदों से प्रतीत होता है कि विप्रलम्भ अथवा वियोग (श्रृंगार रस) में सुकुमारता का आधिक्य है। उस (विप्रलम्भश्रृंगार) की सुकुमारता का द्योत्य (प्रकाशन) होने पर यमक आदि अलङ्कारों का प्रयोग नियमतः नहीं किया जाना चाहिये॥१५॥

आदिशब्दन्तु मेधावी चतुष्वर्थेषु भाषते।
प्रकारे च व्यवस्थायां सामीप्येऽवयवे तथा।।

'यमकादि' में प्रयुक्त आदि शब्द प्रकार अर्थात् सादृश्यपरक हैं। यमकादि का अर्थ है— "यमकसदृश दुष्कर"। यमक के समान दुष्कर अलङ्कारों में मुरजबन्धादि तथा सभङ्गश्लेष अथवा शब्दश्लेष भी सम्मिलित हैं। "क्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते"—श्लिष्टपदों द्वारा अनेक अर्थों का बोधन करना अथवा कराना "श्लेष" अलङ्कार कहा जाता है। "पुनस्त्रिधा सभङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः" वह (श्लेष) सभङ्गश्लेष, अभङ्गश्लेष तथा उभयात्मकश्लेष नामक भेदों से तीन प्रकार का हुआ करता है। "शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष" नामक भेदों के द्वारा श्लेष के दो भेद हैं। प्राचीन आचार्यों ने सभङ्गश्लेष और शब्दश्लेष को तथा अभङ्गश्लेष और अर्थश्लेष को एक ही माना है।"

"पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदो माधवः।" इस पद्यांश द्वारा शिव तथा विष्णु दोनों की स्तुति की गई है। 'सर्वदः' अर्थात् सबकुछ देने वाले तथा 'अन्धकक्षयकरः' अन्धक अर्थात् यादवों के क्षयकर विनाशहेतु अथवा क्षय माने गृह को बनाने वाले यादवों को बसानेवाले माधव श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें। तथा 'सर्वदा उमाधवः' अर्थात् शिव, जो अन्धक नामक असुर के हन्ता हैं, सदैव तुम्हारी रक्षा करें। यह दो अर्थ होते हैं।

'सर्वदः माधवः' पद के दोनों पक्षों में पृथक्-पृथक् पदच्छेद होते हैं। विष्णु पक्ष में 'सर्वदो माधवः' पदच्छेद होता है तथा शिव पक्ष में 'सर्वदा उमाधवः' पदच्छेद होता है। इसी को सभङ्गश्लेष कहा जाता है। किन्तु 'अन्धकक्षयकरः' का पदच्छेद दोनों पक्षों में एक समान रहता है। अतएव इसे अभङ्गश्लेष कहा जाया करता है। यह अभङ्गश्लेष 'अर्थश्लेष' कहा जाता है किन्तु जहाँ दो पृथक्-पृथक् शब्द एक साथ जुड़ जाया करते हैं वहाँ सभङ्गश्लेष हुआ करता है, इसी को 'शब्दश्लेष' कहा जाया करता है जैसे—'सर्वदो माधवः' में।

प्राचीन आचार्य सभङ्गश्लेष को शब्दश्लेष तथा अभङ्गश्लेष को अर्थश्लेष मानते हैं। अतएव यहां मूलग्रन्थ में 'यमकादीनां यमकप्रकाराणां, दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां' यह शब्दश्लेष और सभङ्गश्लेष को एक ही मानकर लिखा गया है।

नवीन लोग सभङ्ग तथा अभङ्ग दोनों को ही शब्दश्लेष मानते हैं। उनके मतानुसार गुण, दोष तथा अलङ्कार आदि में उनकी शब्दनिष्ठता अथवा अर्थनिष्ठता का निर्णायक 'अन्वयव्यतिरेकि' ही है। ''तत्सत्वे तत्सत्ता अन्वयः'', ''तदभावे तदभावो व्यतिरेकः''—जहाँ किसी विशेष शब्द के रहने पर ही कोई गुण, दोष अथवा अलङ्कार रहता है और उस शब्द को बदलकर उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने पर वह गुण, दोष अथवा अलङ्कार नहीं रहा करता है वहाँ यही समझना चाहिए कि उस गुण, दोष अथवा अलङ्कार का सम्बन्ध विशेषरूप से उस शब्दविशेष से ही है। इसी दृष्टि से उसे शब्दनिष्ठ माना जाया करता है।

इसी भाँति जहाँ किसी शब्द के होने पर जो अलङ्कार आदि हैं, उस शब्द को बदलकर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी सम्बन्धित अलङ्कार आदि ज्यों का त्यों बना रहे तो वह गुण, दोष अथवा अलङ्कार शब्द से नहीं अपितु अर्थ से सम्बद्ध अथवा अर्थनिष्ठ माना जायगा। इस कसौटी के आधार पर यदि सभङ्गश्लेष तथा अभङ्गश्लेष की परीक्षा की जाय तो अभङ्गश्लेष भी शब्दनिष्ठ ही निकलेगा, अर्थनिष्ठ नहीं। ऊपर अभङ्गश्लेष का उदाहरण ''अन्धकक्षयकरः'' दिया गया है। इस शब्द से एक पक्ष में यादवों का नाश कराने वाला अथवा बसानेवाला तथा दूसरी ओर अन्धकासुर का हन्ता—ये दो अर्थ निकलते हैं। किन्तु यदि 'अन्धक' पद को हटाकर 'यादवक्षयकरः' आदि पद रखे जायँ तो दो अर्थ निकल सकना संभव ही न हो सकेगा तथा श्लेष अलङ्कार भी नहीं रह सकेगा। अतएव अन्वयव्यतिरेकि के आधार पर 'सभङ्गश्लेष' की भाँति अभङ्गश्लेष भी शब्दनिष्ठ ही मानना होगा। इस दृष्टि से नवीनों के मत में सभङ्ग तथा अभङ्ग दोनों श्लेष शब्दनिष्ठ ही हैं।

अर्थश्लेष इन दोनों (सभङ्ग और अभङ्ग) से भिन्न है तथा वह वहीं होता है जहाँ शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी दोनों अर्थ निकलते रहा करते हैं। जैसे—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुखदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च।।

तराजू की डण्डी तथा दुष्टपुरुष की वृत्ति एक सी हुआ करती है। तनिक से तोला, माशा, रत्ती में नीचे झुक जाया करती है तथा तनिक में ही ऊपर चढ़ जाया करती है। इस उद्धरण के अंश 'उन्नतिमायाति' आदि के स्थान पर उसका पर्यायवाची 'ऊर्ध्वं प्रयाति' आदि कोई अन्य शब्द रख दिया जाय तो दोनों अर्थों की प्रतीति होती रहा करती है। अतएव यहाँ अर्थश्लेष होता है। अर्थश्लेष तो शृंगार रस में भी प्रयुक्त हो सकता है। किन्तु मूल ग्रन्थ में तो दुष्कर शब्दभङ्गश्लेष का ग्रहण किया गया है जिससे यह ही सूचित होता है कि क्लिष्ट सभङ्गश्लेष का प्रयोग ही वर्जित है। सरल सभङ्गश्लेष तथा अभङ्गश्लेष का प्रयोग भी शृङ्गार में वर्जित नहीं है। जैसे—आगे उद्धृत होने वाले—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाध्यैः प्रियायाः गुणैः।

सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः।।

इत्यादि श्लोक में 'अशोक' पद को एक पक्ष में रूढ़ वृक्षविशेष का वाचक तथा दूसरे पक्ष में 'नास्ति शोको यस्य' इस व्युत्पत्ति से यौगिक स्वीकारकर और 'रक्तः' पद में सरल श्लेष का प्रयोग किया गया है।

''शक्तावपि प्रमादित्वम्'' इस अंश का तात्पर्य तो यह है कि ''अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः'' के अनुसार प्रतिभासंपन्न कवियों से कभी-कभी अव्युत्पत्तिमूलक दोष हो जाने पर भी वह उनकी प्रतिभा के प्रभाव से नगण्य हो जाता है। इसी भाँति यमक आदि का प्रयोग भी शक्ति के प्रभाव से दब सकता है किन्तु फिर भी वह कवि के प्रमादित्व का सूचक तो होगा ही। इस प्रकार के रस के आस्वाद में विघ्नकारक यमक आदि का प्रयोग न किया जाना ही श्रेयस्कर हुआ करता है।।१५।।

ध्वन्यालोक

अलङ्कार के प्रयोग की कसौटी–इस सम्बन्ध में युक्ति (व्यापक-नियम) को भी कहते हैं—

अत्र युक्तिरभिधीयते–

रसक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः।।१६।।

रसादि-ध्वनि में जिस (अलङ्कार) की रचना रस के द्वारा आक्षिप्त (रस के ध्यान से विभावादि की रचना करते हुये स्वयं निष्पन्न) रूप में बिना किसी अन्य प्रयत्न के हो सके (ध्वनि में) वही अलङ्कार मान्य है।।१६।।

निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि यस्यालङ्कारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शक्य क्रियो भवेत् सोऽस्मिन् अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये ध्वनावलङ्कारो मतः। तस्यैव रसाङ्गत्वं मुख्यमित्यर्थः।

यमक आदि की निष्पत्ति (रचना) हो जाने पर आश्चर्योत्पादक होने पर भी (बिना प्रयास के इतना मनोहर यमक आदि कैसे बन गया, इस भाँति का आश्चर्य का विषय होने पर भी) जिस अलङ्कार की रचना रस से आक्षिप्त (बिना प्रयास के स्वयं अनायाससैसाध्य) रूप से हो सके वह ही इस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (रसादि) ध्वनि में अलङ्कार माना जाया करता है तथा वह ही प्रधानरूप से रस का अङ्ग हुआ करता है।

यथा—

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पःस्तनतटीं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्।।

जैसे—मानिनी नायिका से अनुनय—विनय करता हुआ नायक कहता है—तुम्हारे गाल (कपोल) पर बनी हुई पत्रावली को हाथ की रगड़ ने मसल डाला, तुम्हारे अमृत के सदृश मधुर अधररस का पान (यह उष्ण) निश्वास कर रहे हैं। ये आँसुओं के बूँद बार-बार तुम्हारे

कण्ठ का आलिङ्गन कर स्तनों को हिला रहे हैं, अयिनिर्दये! यह क्रोध ही तुमको इतना प्रिय हो गया और हम नहीं। अर्थात् (तुम्हारे क्रोध के कारण) हमारी कहीं कोई पूछ ही नहीं।

रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वमिति। यो रसं बन्धुमध्यवसितस्य कवेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसाङ्गमिति। यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं च क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्द-विशेषान्वेषणरूपः।

उस अलङ्कार के रस का अङ्ग होने पर अपृथग्यत्ननिवर्त्यत्व ही उसका लक्षण है। जो अलङ्कार, रसबन्धन में तत्पर कवि की उस (रसबन्धनाध्यवसाय) वासना का अतिक्रमण करके (अलङ्कार का निष्पादन करने के लिये) दूसरे प्रयत्न का आश्रय लेने पर ही बनता है, वह रस का अङ्ग नहीं बना करता है और जान-बूझकर यमक का निरन्तर प्रयोग करने पर तो (उसके लिये, उपयुक्त) विशेष शब्दों की खोजरूप नया प्रयास अवश्य ही करना पड़ा करता है।

अलङ्कारान्तरेष्वपि तत्तुल्यमिति चेत् नैवम्। अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाण-दुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे। यथा च मायारामशिरोदर्शनेन विह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ।

यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि आप जो कुछ कह रहे हैं वह यमक-अलङ्कार के ही सम्बन्ध में क्यों कह रहे हैं क्योंकि उचित शब्दों की खोज का प्रयास तो अन्य अलङ्कार में भी करना होता है अतएव आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि अन्य अलङ्कार, रचना में कठिन दिखलाई पड़ने पर भी रस में दत्तचित्त प्रतिभाशाली कवि के समक्ष होड़ लगाकर स्वयं ही दौड़े चले आया करते हैं। जैसे—'कादम्बरी' गद्यग्रन्थ में कादम्बरी (नायिका) के दर्शन के अवसर पर। अथवा 'सेतुबन्ध' नामक काव्य में राम के कटे हुये सिर को देखकर सीतादेवी के विह्वल होने के अवसर पर।

युक्तंचैतत्। यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः। तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्र-काशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभि-व्यक्तौ। यमकदुष्करमार्गेषु तु तत् स्थितमेव।

रसध्वनि में अर्थालङ्कारों का अहंपूर्विकापूर्वक एक बार ही टूट पड़ना उचित ही प्रतीत होता है क्योंकि वाच्यविशेषों एवं तत्प्रतिपादक शब्दविशेषों से ही रस अभिव्यङ्ग्य हुआ करते हैं और रूपक आदि अर्थालङ्कार वाच्यविशेषरूप होने से रसाभिव्यक्तिजनक हैं। अतएव रसव्यञ्जन में उनकी बहिरङ्गता अथवा अनुपयोगिता प्रतीत नहीं हुआ करती है। किन्तु प्रयत्नविशेष—साध्य होने से अतिदुष्कर वाच्यभिन्न यमक आदि अलङ्कार में रसानुपयोगिता स्पष्ट ही प्रतीत हुआ करती है।

यत्तु रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते तत्र रसादीनामङ्गता यमकादीना-न्त्वङ्गितैव। रसाभासे चाङ्गत्वमप्यविरुद्धम्। अङ्गितया तु व्यङ्ग्ये रसे नाङ्गत्वं पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यत्वाद्यमकादेः।

जहाँ भी कहीं माघ आदि काव्य में यमक आदि अलङ्कार सरस दृष्टिगोचर हुआ करते हैं वहाँ पर भी रसादिध्वनि नहीं है अपितु रस आदि की अप्रधानता ही है। चमत्कारोंत्पादक प्रधानता तो यमक आदि अलङ्कारों की ही प्रतीत होती है। अत: वहाँ उपकार्य-उपकारकभाव की बात नहीं है। रसाभास में तो रस के ही समान अत्यधिक सुकुमारता नहीं हुआ करती है। अत: उस (रसाभास) में यमक आदि को अङ्ग मानने में भी कोई हानि नहीं है। मुख्यरूप से भासयान व्यङ्ग्य रसध्वनि में भिन्न प्रयत्नसाध्य होने से यमक आदि को अङ्ग नहीं माना गया है। गुणीभूत व्यङ्ग्य रसादि में तो यमक आदि अलङ्कार ही मुख्यरूप से व्यवहृत हुआ करता है।

अस्यैवार्थस्य संग्रहश्लोकाः–

रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः।।
यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते।।
रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते।
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते।।

इस उपर्युक्त गद्यस्थ विषय के संग्रह (ये) श्लोक है:—

कोई कोई (रसवन्ति वस्तुनि) रस से युक्त वस्तुएँ महाकवि के (रसनिबन्धनानुकूल) एक ही व्यापार से सालङ्कार भी बन जाया करते हैं (कहने का भाव यह है कि उनमें अलङ्कार-निष्पादन के निमित्त पृथक् से व्यापार नहीं करना होता है।)। अत्यन्त प्रतिभावान् कवि को भी यमक आदि की रचना करने में विशेष यत्न करना होता है। किन्तु यमक आदि के निर्माण में कवि का ध्यान उस ओर चले जाने से कवि को पृथक् से प्रयत्न करना होता है। अतएव यमक आदि रस के अङ्ग नहीं होते हैं। रसाभासों में उन यमक आदि को अङ्ग मानने का कोई निषेध नहीं है, केवल अङ्गी (प्रधान) भूतध्वनिरूप शृंगार आदि रसों में ही वह अङ्ग नहीं हो सकते हैं।।१६।।

लोचनम्

युक्तिरिति। सर्वव्यापकं वस्तु-इत्यर्थः। रसेति। रससमवधानेन विभावादि घटनामेव कुर्वंस्तन्नान्तरीयकतया यमासादयति स एवात्रालङ्कारो रसमार्गे, नान्यः। तेन वीराद्भुतादिरसेष्वपि यमकादि कवेः प्रतिपत्तुश्च रसविघ्नकार्येव सर्वत्र। गडडुरिका-प्रवाहोपहतसहृदयधुराधिरोहणविहीनलोकावर्जनाभिप्रायेण तु मया शृङ्गारे विप्रलम्भे च विशेषत इत्युक्तमिति भावः। तथा च रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते इति सामान्येन वक्ष्यति। निष्पत्ताविति। प्रतिभानुग्रहात्स्वयमेव सम्पत्तौ निष्पादनानपेक्षायामित्यर्थः। आश्चर्यभूत इति। कथमेष निबद्ध इत्यद्भुतस्थानम्। करकिसलयन्यस्तवदना श्वास तान्ताधरा प्रवर्त्तमानवाष्पभरनिरुद्धकण्ठी अविच्छिन्नरुदितचञ्चत्कुचतटा रोषमपरित्य-जन्ती चाटूक्त्या यावत्प्रसाद्यते तावदीर्ष्याविप्रलम्भगतानुभाव चर्वणावहितचेतस एव वक्तुः श्लेषरूपकव्यतिरेकाद्या अयन्तनिष्पन्नाश्चर्वयितुरपि न रसचर्वणाविघ्नमादध-

तीति। लक्षणमिति। व्यापकमित्यर्थः। 'प्रबन्धेन क्रियमाण' इति सम्बन्धः। अतएव बुद्धिपूर्वकत्वमवश्यम्भावीति बुद्धिपूर्वकशब्द उपात्तः। रससमवधानादन्यो यत्नो यत्नान्तरम्। निरूप्यमाणानि सन्ति दुर्घटनानि। बुद्धिपूर्वं चिकीर्षितान्यपि कर्तुमशक्यानीत्यर्थः। तथा निरूप्यमाणे दुर्घटनानि कथमेतानि रचितानीत्येवं विस्मयावहानीत्यर्थः। अहम्पूर्वः अग्रथ् इत्यर्थः। अहमादावहमादौ प्रवर्त इत्यर्थः। अहम्पूर्व इत्यस्य भावोऽहम्पूर्विका। अहमिति निपातो विभक्तिप्रतिरूपकोऽस्मदर्थ-वृत्तिः। एतदिति। अहम्पूर्विकया परापतनमित्यर्थः। कानिचिदिति। कालिदासादिकृता-नीत्यर्थः। शक्तस्यापि पृथग्यत्नो जायत इति सम्बन्धः। एषामिति। यमकादीनाम्। 'ध्वन्यात्मभूते शृंगारे' इति यदुक्तं तत् प्राधान्येनार्धश्लोकेन सङ्गृहीते ध्वन्यात्मभूत इति।।१६।।

युक्तिरिति। अर्थात् सर्वव्यापक वस्तु। रस—। रस में सम्यक् अवधानपूर्वक विभाव आदि की घटना ही करता हुआ उस (विभावादि की घटना) के नान्तरीयक (अर्थात् व्याप्त) रूप से जिसको प्राप्त करता है वही इस रस के मार्ग में अलङ्कार होता है, अन्य नहीं। अतएव वीर, अद्भुत आदि रसों में ही सर्वत्र यमक आदि कवि के और प्रतिपत्ता (जानकार) सहृदय के रसविघ्न करनेवाला ही है। भाव यह है कि मैंने भेड़ के पीछे गमनकरने वाली भेड़ों की पंक्ति के प्रवाह (परम्परा) के शिकार और सहृदय की मर्यादा तक न पहुँचे हुये लोगों के आवर्जन के अभिप्राय से 'शृङ्गार में और विशेषरूप से विप्रलम्भ में' यह कहा है। और इसलिये 'रस में अङ्गत्व इस कारण इनका नहीं सम्भव है' यह सामान्यरूप से कहेंगे। निष्पत्ति में—। प्रतिभा के अनुग्रह से स्वयमेव (बिना किसी यत्न के) संपन्न होने में, अर्थात् निष्पन्न करने की अपेक्षा के न होने पर। आश्चर्यभूत—। कैसे यह निबद्ध हो गया, इस प्रकार अद्भुत का स्थान। अपने करकिसलय पर मुख रखे श्वास के कारण मुरझाये हुये अधर वाली, उत्पन्न वाष्पसमूह से रूँधे हुये गले वाली, निरन्तर रोते रहने के कारण कम्पन करते हुये स्तनों वाली, क्रोध का त्याग न करती हुई नायिका को चाटुवचन से जब तक प्रसन्न करते हैं, तब तक ईर्ष्याविप्रलम्भ के अनुभावों की चर्वणा (पुनः पुनः अनुसन्धान) में अवहित चित्त वाले वक्ता के श्लेष, रूपक, व्यतिरेक आदि बिना किसी प्रयत्न के निष्पन्न अलङ्कारचर्वणा करने वाले के भी रसचर्वणा में विघ्न आधान नहीं करते। लक्षण—। अर्थात् व्यापक। सम्बन्ध यह कि प्रबन्ध से (जमकर) करने पर। इसीलिये ही बुद्धिपूर्वक होना अवश्यम्भावी हो जाया करता है, अतः 'बुद्धिपूर्वक' शब्द का उपादान किया गया है। रस में समवधान से अतिरिक्त यत्न यत्नान्तर है। निरूप्यमाण होते हुये दुर्घटन अर्थात् बुद्धिपूर्वक करने के लिये इच्छा होने पर भी न किये जा सकने वाले। उस प्रकार, निरूप्यमाण होने पर दुर्घटन, अर्थात् ये किस प्रकार बन गये, ऐसा आश्चर्य उत्पन्न करने वाले। अहम्पूर्व अर्थात् आगे। तात्पर्य यह है कि मैं पहले, मैं पहले होऊँगा। अहम्पूर्व का भाव है 'अहम्पूर्विका'। 'अहम्' यह 'अस्मत्' अर्थ में विभक्तिप्रतिरूपक निपात है। यह—। अर्थात् अहम्पूर्वभाव से परापतन। कुछ—। अर्थात् कालिदास आदि के द्वारा कृत। सम्बन्ध यह है कि समर्थ होने पर भी पृथक् से यत्न होता है।

इनका—। यमक आदि का। 'ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार में' यह जो कहा है, वह मुख्यरूप से आधे श्लोक से संगृहीत 'ध्वनि के आत्मभूत' (शृङ्गार में)॥१६॥

मंजूआशुबोधिनी

अलङ्कार-प्रयोग सम्बन्धी व्यापक-नियमः–अत्र युक्तिरभिधीयते:—

शृङ्गार इत्यादि रसादि-ध्वनि में उपादेय अलङ्कारों के योजनाक्रम का नियम बतलाते हैं:—

रसादि-ध्वनि में उसी अलङ्कार को उपकारक माना गया है कि जो रस-निबन्धन के अनुकूल प्रयत्न से ही निष्पन्न होने वाला हो तथा जिसका सन्निवेश रसैकलीनता से ही करने योग्य हो।

रस-निष्पादन की तल्लीनता से ही अबुद्धिपूर्वक (विशेष प्रयास के बिना ही) आपसे आप स्वयं निष्पन्न होकर, जो अलङ्कार, मनन करने पर आश्चर्योत्पादक प्रतीत हो, वही इस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरसादिध्वनि में मुख्य उपकारक समझा जाता है, अन्य नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि रस-निर्माण के अनुकूल व्यापार से ही अनायास रूप से निष्पन्न होने वाले अलङ्कारों में ही उक्त रस आदि के प्रति प्रधान अङ्गत्व हुआ करता है।

अनायास निष्पन्न (बन गये हुये) अलङ्कार का उदाहरण कहते हैं—। मानिनी (नायिका) से अनुनय विनय करता हुआ नायक कहता है!—हे पराङ्मुखि! तुम्हारे गाल पर चित्रित (मकराकृति) की रचना भी विषाद के कारण बायें हाथ की हथेली पर उस गाल को रखने से धुल रही है तथा अमृतरस से लिप्त अत्यन्त मधुर यह तुम्हारा अधर (ओष्ठ) का रस विश्वास वायु से सूख रहा है तथा गले तक बहती हुयी अश्रुधारा बार-बार स्तन-तट को तरलित कर रही हैं। अतएव ऐसा प्रतीत हो रहा है कि क्रोध ही तुम्हारा प्रिय है, मैं तुम्हारा प्रिय नहीं हूँ अर्थात् क्रोध के वशीभूत होकर तू मेरा त्याग कर रही है किन्तु मेरे द्वारा अनुनय-विनय किये जाने पर भी तुम क्रोध का त्याग नहीं कर रही हो।

इस उद्धरण से ज्ञात हो रहा है कि नायक की अपेक्षा मान ही नायिका को अधिक प्रिय है। अत: अनायास (अचानक) ही निष्पद्यमान व्यतिरेकालङ्कार विप्रलम्भ-शृंगारध्वनि को उपस्कृत करता हुआ उसका अङ्ग बन गया है।

(अतएव केवल शृङ्गार अथवा विप्रलम्भ शृङ्गार में ही नहीं, अपितु वीर तथा अद्‌भुत आदि रसों में भी प्रयत्नपूर्वक गढ़कर रखे गये यमक आदि रसविघ्नकारी हुआ करते हैं। ग्रन्थकार ने तो मात्र शृङ्गार रस का ही नाम दिया है, वह इस दृष्टि से लिखा है कि शृङ्गार अथवा विप्रलम्भ शृङ्गार में वे रस के विघ्नकारी हैं। यह बात जो विशेषरूप से सहृदय नहीं है वे साधारण जन भी समझ सकते हैं। उनकी दृष्टि में शृङ्गार का नाम विशेषरूप से लिख दिया गया है। वस्तुत: तो करुण आदि अन्य रसों में भी कृत्रिम यमक आदि प्रतिबन्धक हुआ करते हैं। अतएव आगे "रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते" लिखकर साधारणतया सभी रसों में उनकी रसाङ्गता का निषेध किया गया है।)

विशेष प्रयत्न के बिना ही जो अलङ्कार निष्पन्न हो जाया करता है उसमें रस का अङ्ग होने सम्बन्धी लक्षण स्पष्ट ही प्रतीत हुआ करता है।

रसनिष्पत्ति में संलग्न कवि की रस सम्बन्धी भावना को अतिक्रमण (लाँघ) कर रस के लिये अनुपयोगी के सदृश शब्दानुसन्धान आदि व्यापार द्वारा जो अलङ्कार निष्पन्न होता हैं वह रस का अङ्ग नहीं हो सकता है क्योंकि रसप्रबन्ध के प्रतिकूल व्यापार द्वारा निष्पन्न हुआ है। अत्यन्त सावधानता के साथ विशेष यत्न से निबध्यमान यमक अलङ्कार में अनिवार्यरूप से समान शब्दविशेषों की खोज करनी ही होती है। अर्थात् पूर्वोक्त व्यतिरेक के समान बिना विशेषप्रयत्न के यमकालङ्कार को कवि निष्पन्न नहीं कर सकता है। इसी कारण इस यमक अलङ्कार को रस का अङ्ग नहीं माना गया है।

इस स्थल पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि आप यमक अलङ्कार के लिये ही विशेष प्रयत्न किये जाने की बात क्यों कहते हैं। उपयुक्त शब्दों के अन्वेषण (खोज) का प्रयत्न तो अन्य अलङ्कारों में भी करना होता है। इस प्रकार की शङ्का का किया जाना उचित नहीं है क्योंकि यमक सदृश उपमा आदि अर्थालङ्कारों में भी अनिवार्यरूप से अर्थानुन्धानरूप प्रयत्नविशेष का सन्देह किया जाना उचित नहीं है क्योंकि रसनिर्माण में ही एकतान से लगे हुये अत्यन्त प्रतिभावान् कवियों के प्रयत्नविशेष के बिना ही अत्यन्त विस्मयजनक चमत्कारपूर्ण अलङ्कारों की सर्वप्रथम आने के लिये आपस में होड़-सी लग जाया करती है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रतिभा से युक्त कवि के प्रयत्न से ही अन्य अलङ्कार भी आपसे आप निष्पन्न हो जाया करते हैं, अत: उनमें यमक की तुलना नहीं की जा सकती है। जैसे 'कादम्बरी' नामग ग्रन्थ में चन्द्रापीड द्वारा कादम्बरी (नायिका) के दर्शन के अवसर पर। अथवा सेतुबन्ध काव्य के ग्यारहवें आश्वास में मेघनाद द्वारा माया (इन्द्रजाल) से कल्पित राम-मत्सक को कटा हुआ देखने से अतिविह्वल सीता के विलाप के वर्णन के प्रसङ्ग पर रसानुसन्धान से ही प्रवृत्त कवि के काव्यप्रबन्ध में रस के उपकारक अलङ्कार आपसे आप निष्पन्न होकर दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

और यह (अहम्पूर्विकया परायतन (एक बार ही टूट पड़ना)) उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि रसों की अभिव्यञ्जना वाच्यविशेष से ही हुआ करती है। तथा उन (वाच्यविशेष) के प्रतिपादक शब्दों उन रसादि के प्रकाशक रूपक आदि अलङ्कार उन शब्दों के द्वारा प्रकाशित वाच्यविशेष ही हैं। अतएव रस की अभिव्यक्ति में उन (रूपक आदि अलङ्कारों) की बहिरङ्गता नही है। यमक आदि दुष्कर (बुद्धिपूर्वक बहुप्रयत्नसाध्य) मार्ग में तो बहिरङ्गत्व (भिन्नप्रयत्ननिष्पाद्यत्व) निश्चित ही है।

जहाँ भी कहीं (माघ आदि काव्य में) कोई कोई यमक आदि अलङ्कार रस सहित दृष्टिगोचर हुआ करते हैं वहाँ यमक आदि (अङ्गी) प्रधान हैं तथा रस आदि उनके अङ्ग हैं (अर्थात् वहाँ पर रसध्वनि नहीं है।))। रसाभास में (यमक आदि को) अङ्गरूप स्वीकार करने में कोई विरोध (हानि) नहीं है। किन्तु जहाँ पर रस प्रधानतया (अङ्गितया) व्यङ्ग्य हो वहाँ पर तो पृथक्प्रयत्नसाध्य होने से यमक आदि अङ्ग नहीं हो सकते हैं।

(मूलग्रन्थ के 'निरूप्यमाणदुर्घटनानि' पद को 'निरूप्यमाणानि सन्ति दुर्घटनानि', 'बुद्धिपूर्वकं चिकीर्षितान्यपि कर्तुयशक्यानि' अर्थात् बुद्धिपूर्वक सोचविचार-कर रचना करना चाहें तो भी जिनकी रचना बन सकना संभव न हो सके इतने कठिन, तथा साथ ही जब

अनायास ही उनकी रचना बन जाय तो 'निरूप्यमाणे दुर्घटनानि' यह देखकर विस्मय हो कि यह इतना सुन्दर अलङ्कार किस भाँति आ गया। इन दो प्रकार के अर्थों का होना संभव है। ये दोनों ही अर्थ प्रकृत विषय को परिपुष्ट कर सकते हैं। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुये लोचनकार द्वारा इस पद की व्याख्या में दोनों ही प्रकार के अर्थों को दिखलाया है। इन दोनों प्रकार के अर्थों का विकल्प टीकाकार को अभीष्ट नहीं है, उनको तो समुच्चय ही अभीष्ट है।)

"अस्यैवार्थस्य संग्रहश्लोकाः" इस उपर्युक्त विषय के ही संग्रह से सम्बन्धित निम्नलिखित श्लोक हैं:—

रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निवर्त्यन्ते महाकवेः।।

अर्थात् कोई कोई रसयुक्त वस्तुयें महाकवि के एक ही व्यापार से सालङ्कार भी बन जाया करते हैं। (कहने का अभिप्राय यह है कि उनमें अलङ्कार के निष्पादन के लिये पृथक् से व्यापार नहीं करना होता है।)

किन्तु यमक आदि की रचना मेंतो प्रतिभासम्पन्न कवि को भी पृथक् से प्रयत्न करना होता है। अतएव वे (यमक आदि) रस के अङ्ग नहीं हुआ करते हैं।

रसाभासों में उन (यमक आदि) को अङ्ग मानने का विरोध नहीं है। केवल प्रधानभूत (ध्वनिरूप) शृङ्गार इत्यादि रसों में ही उनको अङ्ग बनने का निषेध है।।१६।।

इस भाँति शृंगार आदि रसों में यमकादि को हेय मानकर उनका वर्णन कर दिया अब आगे उपादेय अलङ्कारों का वर्णन किया जायगा।

ध्वन्यालोक

इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽलङ्कारवर्ग आख्यायते–
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्।।१७।।

अब ध्वन्यात्म शृङ्गार में अङ्गभूत अलङ्कारों का वर्णन करते हैं:—

ध्वन्यात्मक शृङ्गार में रसोपकारकत्व की भावना से प्रतिभावान् कवि के द्वारा निबद्ध रूपक इत्यादि अलङ्कार वस्तुतः रसोपयोगी होकर सौन्दर्य को बढ़ाने वाले हुआ करते हैं।।१७।।

"अलङ्कारो हि बाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते। वाच्यालङ्कारवर्गश्च रूपकादिर्यावानुक्तो, वक्ष्यते च कैश्चित् अलङ्काराणामनन्तत्वात्। स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरङ्गिनः सर्वस्यैव चारुत्वहेतु-र्निष्पद्यते।।१७।।"

जैसे लौकिक कटक कुण्डल आदि आभूषण उचितरूप से धारण किये जाने पर शरीर को अलङ्कृत किया करते हैं उसी भाँति अलङ्कार भी प्रधानभूत (अङ्गीभूत) रसादि ध्वनि की रमणीयता का बढ़ाने वाला हुआ करता है। जितने भी रूपक आदि वाच्य-अलङ्कार समूह को भामह आदि कवियों द्वारा कहा गया है अथवा आगे भी कहेंगे, वे सभी अलङ्कार यथास्थान में

कवि द्वारा निबद्ध होकर प्रधान असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि की शोभा को बढ़ाने वाले हुआ करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कटक, कुण्डल आदि आभूषण यथास्थान पहने जाने से शरीर की शोभा को बढ़ाने वाले हुआ करते हैं, किन्तु हाथ में नूपुर और पैर में बलय को धारण करने से शोभा नहीं बढ़ा करती है। इसी भाँति आवश्यकतानुसार समीक्षा करके यथास्थान प्रयुक्त अलङ्कार ही रस की शोभा को बढ़ाने वाले हुआ करते हैं॥१७॥

लोचनम्

इदानीमिति। हेयवर्ग उक्तः, उपादेयवर्गस्तु वक्तव्य इति भावः। व्यञ्जक इति। यश्च यथा चेत्यध्याहारः। यथार्थतामिति। चारुत्वहेतुतामित्यर्थः। उक्त इति। भामहादिभिरलङ्कारलक्षणकारैः। वक्ष्यते चेत्यत्र हेतुमाह–अलङ्काराणामनन्तत्वात्–इति। प्रतिभानन्त्यात् अन्यैरपि कैश्चिदित्यर्थः।।

समीक्ष्येति। समीक्ष्येत्यनेन शब्देन कारिकायामुक्तेति भावः। श्लोकपादेषु चतुर्षु श्लोकार्धे चाङ्गत्वसाधनमिदम्; रूपकादिरिति प्रत्येकं सम्बन्धः। यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति नाङ्गित्वेन, यमवसरे गृह्णाति, यमवसरे त्यजति यं नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति, यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते, स एवमुपनिबध्यमानो रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवतीति विततं महावाक्यम्। तन्महावाक्यमध्ये चोदाहरणावकाशमुदाहरणस्वरूपं तद्योजनं तत्समर्थनं च निरूपयितुं ग्रन्थान्तरमिति वृत्तिग्रन्थस्य सम्बन्धः।।१७।।

अब—। त्याज्य (हेय) वर्ग कहा जा चुका, उपादेय वर्ग का कथन करना चाहिये। व्यञ्जित करनेवाला—"जो है और जैसा है" यह अध्याहार है। यथार्थता—। अर्थात् चारुत्वहेतुता। कहा गया है—। भामह आदि अलङ्कारलक्षण-कारों द्वारा। "और आगे भी जो कहे जायेंगे" इसमें कारण बतलाते हैं—क्योंकि अलङ्कार (तो) अनन्त होते हैं—। अर्थात् प्रतिभा के अनन्त होने के कारण अन्य उत्पन्न होने वाले कुछ लोग।

समीक्ष्य—। भाव यह है कि 'समीक्षा करने' ('समीक्ष्य') इस शब्द द्वारा कारिका में कही गई। श्लोक के चारों पादों में और श्लोकार्ध में यह अङ्गत्व (अङ्ग होने) का साधन (निर्दिष्ट) है; रूपक आदि का प्रत्येक प्रत्येक से सम्बन्ध है। विस्तृत महावाक्य यह हुआ कि जिस अलङ्कार को उस (रस) के अङ्ग के रूप में विवक्षा करता है, अङ्गी के रूप में नहीं। जिसको अवसर आने पर ग्रहण करता है, जिसका अवसर आने पर त्याग करता है, जिसको अत्यन्त निर्वाह करने की इच्छा नहीं करता और जिसको यत्नपूर्वक अङ्गरूप में देखता है, वह इस भाँति उपनिबध्यमान होकर रस की अभिव्यक्ति का कारण होता है। उस महावाक्य के मध्य में उदाहरणों के अवकाश का, उनके स्वरूप का, उनकी सङ्गति का और उनके समर्थन का निरूपण करने के लिये शेष ग्रन्थ हैं, यह वृत्तिग्रन्थ का सम्बन्ध है॥१७॥

मंजूआशुबोधिनी

अब ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार (अर्थात् ध्वन्यात्मक शृङ्गार के अभिव्यञ्जक अलङ्कारवर्ग का निरूपण करते हैं:—

ध्वन्यात्मक शृङ्गार में (आगामी कारिकाओं में प्रतिपादित पद्धति से) सोचसमझकर

(उचितरूप में) प्रयुक्त किया गया रूपक आदि अलङ्कारवर्ग वास्तविक अलङ्कारता (अलङ्कारत्व) प्राप्त होता है। (अङ्गीभूत अलङ्कार्य शृङ्गार आदि के चारुत्व का कारण होने से स्वकीय 'अलङ्कार' नाम को चरितार्थ करता है।)॥१७॥

कटक, कुण्डल आदि बाह्य-आभूषणों के सदृश प्रधानभूत (अङ्गी) रस के चारुत्व (सौन्दर्य) के कारण (रूपक आदि को ही) 'अलङ्कार' कहा जाया करता है। रूपक इत्यादि जितने भी वाच्यालङ्कार (अर्थालङ्कार) प्राचीन (भामह इत्यादि द्वारा) कहे जा चुके हैं अथवा अलङ्कारों (चारुत्वहेतुओं) की अनन्तता के कारण आगे (आगे आने वाले समय में) कहे जायेंगे। उन सभी को यदि विचारपूर्वक (काव्य में) निबद्ध किया जाय (अगली कारिकाओं में प्रदर्शित नियमों के अनुसार प्रयुक्त किया जाय) तो वे असंलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य आदि अङ्गीभूत (प्रधानभूत) सभी प्रकार की ध्वनियों (रसों) के चारुत्वहेतु (अलङ्कार) हुआ करते हैं॥१७॥

जैसे यथास्थान में ही प्रयुक्त कुण्डल आदि आभूषण शोभा को बढ़ाने वाले हुआ करते हैं उसी प्रकार आवश्यकतानुसार यथास्थान प्रयुक्त अलङ्कार भी रस की शोभा को बढ़ाने वाले हुआ करते हैं।

ध्वन्यालोक

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षाः–

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।।१८।।
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्।।१९।।

अलङ्कारों के निवेश करने की रीति को बतलाते हैं:—

रूपक आदि की विवक्षा तत्परत्वेन (अर्थात् रसपरत्वेन) हो, कभी अङ्गी (प्रधान) रूप में विवक्षा न हो, उचित समय पर ही उनका ग्रहण हो और त्याग भी हो, प्रारम्भ से अन्त तक अत्यधिक निर्वाह करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये॥१८॥

निर्वाह हो जाने पर भी अङ्गरूप में ही हो। इस बात को सावधानी के साथ पुनः देख लेना चाहिये। रूपक आदि अलङ्कारों के अङ्ग होने का साधन यही है॥१९॥

रसबन्धेष्वादृतमनाः कविर्यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति। यथा–

चपालाङ्गां दृष्टि स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।।

अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुणः।

नाङ्गित्वेनेति न प्राधान्येन। कदाचिद्रसादितात्पर्येण विवक्षितोऽपि ह्यलङ्कारः कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते।

यथा—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुबधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्।।

अत्र हि पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति।

रस-निष्पत्ति में अत्यधिक व्यासक्त कवि, उस (रस) के पोषणार्थ जिस अलङ्कार को प्रयुक्त करना चाहता है उसका उदाहरण—जैसे:—

राजा दुष्यन्त भ्रमर को लक्ष्य कर कह रहे हैं—हे मधुप! शकुन्तला की (भय से कम्पित) चञ्चल तथा तिरछी चितवन का भलीभाँति स्पर्श कर रहे हो, एकान्त में अथवा रहस्य का निवेदन करने वाले के सदृश कान के समीप जाकर गुनगुना रहे हो। (उड़ाने की दृष्टि से इतस्ततः) हाथ झटकती हुई इस युवावस्था में विद्यमान शकुन्तला के अधर-रस का पान कर रहे हो। हे मधुकर! हम तो तत्वान्वेषण में ही मारे गये तुम कृतकृत्य हो गये। अतएव तुम ही मुझसे उत्कृष्ट हो।

इस स्थल पर भ्रमर के स्वभाव का वर्णन होने से 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार ही शृङ्गाररस का उत्कर्षाधायक होने से अङ्गरूप में प्रतीत हो रहा है।

नाङ्गित्वेन...........इत्यादि—

किन्तु रसध्वनि में कवि को किसी भी प्रकार प्रधानरूप से अलङ्कार की विवक्षा नहीं करनी चाहिये। हाँ, रस के अङ्गरूप में विवक्षा करना तो उचित ही है। (प्रधानरूप से अलङ्कार का कथन करने में तो गुणीभूतव्यङ्ग्य हो जायगा।)

कुछ अलङ्कार पहले तो रस आदि के उपकारकरूप में विवक्षित होने पर भी बाद में प्रधानरूप से ही कविद्वारा विवक्षित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। जैसे:—

"जिस (विष्णु भगवान् ने) सुदर्शन नामक चक्राभिघात के अनुल्लंघनीय शासन से ही राहु की पत्नियों के रतोत्सव को गाढ़ालिङ्गनों के विलासों से रहित करके केवलं चुम्बनमात्र अवशिष्ट कर दिया अर्थात् राहु के शिर को काट डाला।"

उक्त पद्य में शृङ्गार, वीर, करुण अन्यतम रस अथवा विष्णुविषयक रतिभाव का कथन किये जाने पर भी राहु की पत्नियों के संभोग का चुम्बनमात्र शेष रह जाने सम्बन्धी कथन से राहु के शिरश्छेदन का पर्यवसान होकर 'यर्थायोक्त' अलङ्कार ही प्रधानरूप से अधिक चमत्कारोत्पादक प्रतीत होता है, क्योंकि राहु के शिर को काट देने सम्बन्धी बात को सीधे न कहकर दूसरे प्रकार से कथन किये जाने से विशेष चमत्कार की प्रतीति होती है।

अङ्गत्वेन विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे। अवसरे गृहीतिर्यथा:-

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं,
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्।।

इत्यत्र उपमाश्लेषस्य।

अङ्गरूप में विवक्षित होने पर भी जिस अलङ्कार को अवसर पर ग्रहण करता है, अनवसर में ग्रहण नहीं करता। अवसर पर ग्रहण करने का उदाहरण—जैसे:—

आज काम-पीड़ित अन्य नारी के सदृश (लतापक्ष में मदन नामक वृक्षविशेष के साथ स्थित, उस पर चढ़ी हुई) प्रबल उत्कण्ठा से युक्त (लतापक्ष में अत्यधिक-मात्रा में कलियों से लदी हुई—नारीपक्ष में—अतिशय उत्कण्ठा के कारण) पाण्डुवर्ण (लतापक्ष में—कलियों की अधिकता के कारण ऊपर से नीचे तक श्वेतवर्ण) और उस ही समय (नारीपक्ष में—कामदेव के आवेश के प्रभाव से) जँभाई लेती हुई (लतापक्ष में—विकसित होती हुई) तथा (नारीपक्ष में—) लम्बी श्वासों से अपने काम के आवेश अथवा हृदय के सन्ताप को प्रकट करती हुई (लतापक्ष में—वायु के लगातार झोंकों से कम्पित हुई), समदना (नारीपक्ष में—काम के विकार से युक्त, लतापक्ष में—मदनफल के वृक्ष के साथ अर्थात् उस पर चढ़ी हुई), इस उद्यान की लता को देखते हुये निश्चय ही आज मैं रानी के मुख को क्रोध से रक्तवर्ण का कर दूँगा।

उक्त पद्य में श्लेष से अनुप्राणित उपमा-अलंकार का भविष्यत्कालिक ईर्ष्या-विप्रलम्भ शृङ्गार के उत्कर्षाधायक होने की दृष्टि से उक्त अवसर पर ग्रहण किया है।

गृहीतमपि च यमवसरे त्यजति तद्रसानुगुणतयालङ्कारान्तरापेक्षया। यथा–

कवि जब किसी अन्य अलङ्कार को ही अत्यधिक प्रकृत रस के लिये उपयोगी समझता है तब प्रथम गृहीत अलङ्कार को भी रस के लिये अनुपयोगी समझकर त्याग दिया करता है। जैसे:—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाध्यैः प्रियाया गुणै–
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुमुक्ताः सखे मामापि।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः,
सर्वं तुल्यमशोक! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः।।

विरही नायक अशोक को लक्ष्य करके कह रहा है:—हे अशोक तुम नवीन-नवीन पल्लवों से रक्त हो, और मैं भी प्रिया के प्रशंसनीय गुणों से अनुरक्त हूँ। तुम्हारे समीप मदन-पुष्पों से मुक्त होकर भ्रमर आ रहे हैं और मेरे पास भी कामदेव से मुक्त होकर अनेक बाण आ रहे हैं, और ललना का पादताडन जैसे तुम्हारे आनन्द के लिये हुआ करता है वैसे ही प्रेयसी के चरण का ताडन मेरे भी आनन्द के लिये हुआ करता है। इस भाँति हम दोनों के साथ समान व्यवहार होने पर भी केवल दुर्दैव ने मुझे शोक युक्त बना दिया है और तुम अशोक (शोकरहित) हो। बस यही मेरा दुर्भाग्य है अर्थात् मेरा तुझसे मात्र इतना ही अन्तर है।

अत्र प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि श्लेषो व्यतिरेकविवक्षया त्यज्यमानो रसविशेषं पुष्णाति।

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम तीन चरणों तक श्लेषालङ्कार निबद्ध होकर चतुर्थ चरण में प्रस्तुत रसोत्कर्षाधायक 'व्यतिरेक' के अनुरोध से परित्यक्त होता हुआ सा भी विप्रलम्भ शृङ्गार को ही पुष्ट कर रहा है।

नात्रालङ्कारद्वयसन्निपातः; किं तर्हि?, अलङ्कारान्तरमेव श्लेषव्यतिरेकलक्षणं नरसिंहवदिति चेत्?

उक्त श्लोक में श्लेष और व्यतिरेक की स्वतन्त्ररूप से निरपेक्ष होकर विद्यमानता नहीं है। अपितु नरसिंह के समान अङ्गाङ्गिभाव से मिले-जुले ही दोनों का 'संकर' अलङ्कार है, इस प्रकार का सन्देह करना ठीक नहीं है।

न, तस्य प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनात्। यत्र हि श्लेषविषय एव शब्दे प्रकारान्तरेण व्यतिरेकप्रतीतिर्जायते, स तस्यविषयः। यथा–

''स हरिर्नाम्नादेवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन''

इत्यादौ।

अत्र ह्यन्य एव शब्दः श्लेषस्य विषयोऽन्यश्च व्यतिरेकस्य। यदि चैवंविधे विषयेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पना क्रियते तत्संसृष्टेर्विषयापहार एव स्यात्।

यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि उस सङ्कर की स्थिति दूसरे ही प्रकार से होती है। जहाँ श्लेष का लक्ष्यीभूत शब्द ही उपकार्यरूप में व्यतिरेकालङ्कार की प्रतीति का उत्पादक हों, वहीं पर श्लेष और व्यतिरेक का 'सङ्कर' माना जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों के उपकार्य-उपकारकभाव तथा एकविषय का होना रहने पर ही उक्त सङ्कर हुआ करता है, परस्पर निरपेक्षता और भिन्न विषयता होने पर नहीं हुआ करता है। जैसे:—

कोई चापलूस राजा की प्रशंसा करता हुआ कहता है—हे राजन्! वह इन्द्र (तो) केवल 'हरि' नाम से ही ''स हरि:'' कहा जाता है किन्तु आप तो श्रेष्ठ अश्वों से युक्त होने के कारण वस्तुत: ''सहरि:'' कहे जाने योग्य हैं; इस उद्धरण में 'हरि' शब्द इन्द्र तथा अश्व दोनों का वाचक है। अत: 'सहरि' शब्द में श्लेष है। और वह श्लेष इन्द्र की अपेक्षा राजा में वास्तविक हरि (अश्व) से युक्त होने के कारण विशेषता होने से प्रतीयमान 'व्यतिरेक' का पोषक है। तथा दोनों के लिये ही 'सहरि' शब्द प्रयुक्त है। अतएव दोनों का अङ्गाङ्गिभाव होकर स्पष्ट ही 'संकर' प्रतीत होता है।

इत्यादि में—

किन्तु 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि श्लोक में तो श्लेष का विषय 'रक्त' आदि शब्द श्लेष का विषय है और 'अशोक तथा सशोक' शब्द व्यतिरेक के विषय हैं अतएव दोनों के विषय भिन्न होने से ''संकर'' नामक अलङ्कार नहीं हो सकता है। यदि इस प्रकार की भिन्न विषयता के रहने पर भी वाक्यगत एकवाक्यता मानकर एक-विषयता-सम्पादन के द्वारा उक्त स्थल में भी 'सङ्करालङ्कार' की ही कल्पना की जायगी तो, परस्पर निरपेक्ष होकर एकवाक्य में रहनेवाली 'संसृष्टि' का विषय ही लुप्त हो जायगा क्योंकि वाक्यगत समानविषयता को लेकर 'संकरालङ्करा' ही सर्वत्र व्याप्त हो जायगा।

श्लेषमुखेनैवात्र व्यतिरेकस्यात्मलाभ इति नायं संसृष्टेर्विषय इति चेत्? न; व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेणापि दर्शनात्। यथा–

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि शम्या

गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमः कज्जलेन।

प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोषमुष्णत्विषो वो

वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः।।

दो अलङ्कारों के उपकार्य-उपकारकभाव होने पर संकर हुआ करता है। अतः उक्त स्थल में श्लेषमूलक उपमा के बिना व्यतिरेक-अलङ्कार स्वरूप प्रतिष्ठा को ही प्राप्त नहीं कर सकेगा क्योंकि उपमागर्भ व्यतिरेक है तथा उपमा उक्त श्लेष के बिना भासित नहीं होती है। अतएव श्लेषोपमा और व्यतिरेक के अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव होने से ही 'संकर' की प्रतीति होती है। 'संसृष्टि' की तो निरपेक्षता होने से विषयता ही नहीं है, यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि साम्य कथन के बिना भी आगे कहे जाने वाले श्लोक में व्यतिरेक देखा जा रहा है। अतएव व्यतिरेक में वाच्योपमा की अपेक्षा नहीं हुआ करती है अर्थात् यदि 'व्यतिरेक' अलङ्कार में सभी जगह वाच्य श्लेषोपमा की अपेक्षा होती, तो उक्त स्थल में भी श्लेषोपमा की अपेक्षा होने पर 'व्यतिरेक' का संकर कहा जा सकता था, किन्तु आगे के श्लोक में वाच्योपया के बिना भी व्यतिरेक होने से उक्त दोनों का अङ्गाङ्गिभाव ही निश्चत नहीं हो पाता, संकर की तो बात ही दूर रही। श्लेषोपमा से रहित व्यतिरेक का उदाहरण देते हैं—नो इति।

"अत्यन्त दारुण वेग से पर्वतों को भी विशीर्ण कर देने वाले प्रलयकालीन वायु द्वारा भी न बुझनेवाली तथा दिन में भी अत्यधिकरूप में प्रकाशित होने वाली एवं अन्धकाररूप कज्जल से पूर्णतया रहित, सूर्य से उत्पन्न होने वाली, और कभी भी न बुझनेवाली वह कोई विलक्षण ही ब्रह्माण्ड दीपक की बत्ती रूप में विद्यमान सूर्य की दीप्ति आप सभी को सुखी करे।"

अत्र हि साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेकोदर्शितः।

इस उद्धरण में साधारण दीपकलिका तो थोड़ी ही वायु से बुझ जाया करती है तथा दिन में प्रकाशित नहीं हुआ करती है। शलभों (पतङ्गों) का नाश करती है और अनेक बार बुझ जाया करती है, किन्तु यह दीप्ति तो उससे विलक्षण ही है। इस भाँति इस दीपशिखा में आधिक्य की प्रतीति होने से श्लेषोत्थापित वाच्योपमा के कथन के बिना ही 'व्यतिरेक' का प्रदर्शन किया गया है। ऐसी स्थिति में श्लेषवाच्योपमा तथा व्यतिरेक का संकर यहां हो सकना संभव नहीं है।

नात्र श्लेषमात्राच्चारुत्वनिष्पत्तिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वात् न स्वतोऽलङ्कारतेत्यपि न वाच्यम्। यत एवंविधे विषये साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादिताच्चारूत्वं दृश्यत एव। यथा–

आक्रदाः स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्त धाराम्बुभि–
स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः।
अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्तिः समैवावयो–
स्तत् किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धुमेवोद्यतः।।

इत्यादौ।

यहाँ (रक्तस्त्वम्–में) श्लेषमात्र से चारुत्व की प्रतीति नहीं है। अतएव श्लेष की व्यतिरेक के अङ्गरूप से विवक्षा होने के कारण उसका स्वयं अलङ्कारत्व नहीं है, यह भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि इस भाँति के विषय में साम्यमात्र के सम्यक् प्रतिपादन से भी चारुत्व देखा

ही जाता है। जैसे—

"विरही व्यक्ति मेघ को सम्बोधित करता हुआ कहता है—हे मित्र मेघ! मेरे आक्रन्द (वियोग से उत्पन्न आक्रन्दन) तुम्हारे तुम्हारे गर्जनों के तुल्य है, मेरी अश्रुधारा तुम्हारी मुसलाधार वर्षा के सदृश है एवं प्रिया के विरह से उत्पन्न शोकाग्नि चमकती हुई विद्युत के सदृश है तथा हृदय के अभ्यन्तर विद्यमान प्रियतमा का मुख आवृत्त चन्द्रमण्डल के समान है। इस भाँति हम दोनों का व्यवहार समान है, फिर भी तुम मुझको विरहाग्नि को धधकाकर जलाने के लिये क्यों तैयार रहते हो?"

यहाँ श्लेष के बिना भी केवल मेघ और विरही व्यक्ति में साम्य के प्रतिपादन द्वारा ही मेघ में जलाने के लिये प्रयुक्त आधिक्य के भान द्वारा व्यतिरेक भासित हो रहा है। अतः व्यतिरेक में श्लेष की अपेक्षा न होने से श्लेष, व्यतिरेक का अङ्ग नहीं है।

रसनिर्वहणैकतानहृदयो यं च नात्यन्तं निर्बोढमिच्छति। यथा –

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्धा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नतिपरः प्रेयान्रुदत्या हसन्।।

अत्र हि रूपकमाक्षिप्तमनिव्यूढं च परं रसपुष्टये।

रस के निबन्ध में अत्यधिकरूप से संलग्न कवि जिस अलङ्कार का अत्यधिक रूप से निर्वाह करना नहीं चाहता है—(उसका उदाहरण) जैसे:—

"क्रोधके कारण अपनी कोमल एवं चंचल बाहुलता के पाश में ज़ोर से बाँधकर, सखियों के समक्ष अपने वासगृह में ले जाकर (उस नायक की परस्त्रीगमन आदि) दुश्चेष्टाओं को सूचित करके "फिर तो ऐसा नहीं करेगा?" इस प्रकार लड़खड़ाते हुये अव्यक्त कथन में कहते हुये रोती हुई नायिका के द्वारा अपने नखक्षत आदि को छिपाने में संलग्न प्रिय नायक को बुरी तरह पीटा (मारा) गया (सखियों द्वारा मना करने पर भी नायिका उस नायक को मारती है)।" उक्त स्थल में बाहुलतिकापाश से रूपक आक्षिप्त अथवा प्रारम्भ किया गया था किन्तु केवल (परं अथवा अत्यन्त) रसपुष्टि के लिये उसका निर्वाह नहीं किया जा सका।

परं रसपुष्टये निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते।

अर्थात् रसपुष्टि के लिये अन्ततक रखने की प्रबल इच्छा रहने पर भी जिस अलङ्कार को अङ्ग (गौण) रूप में ही कवि अन्त तक निभाने का प्रयत्न किया करता है। उसका उदाहरण—यथा—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरू! सादृश्यमस्ति।।

इत्यादौ स एव मुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति।

विरह से पीड़ित होकर यक्ष अपनी प्रियतमा के समीप संदेश भेजता हुआ कहता है:—

"हे भीरू! यद्यपि मैं प्रियङ्गुलता में तेरे अङ्ग की, चकित हरिणी के प्रेक्षण में तेरे दृग्व्यापार की, चन्द्रमा में तेरे मुख की कान्ति की और मोर के पिच्छसमूह में तेरे केशसमूह की तथा गंगा की मन्द लहरों में तेरे भ्रूविक्षेपों की संभावना कर रहा हूँ। किन्तु अत्यधिक खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि कहीं पर भी किसी एक वस्तु में तुम्हारे अङ्गों की समानता उपलब्ध नहीं होती। कहने का तात्पर्य यह है पृथक्-पृथक् वस्तुओं में तुम्हारे एक-एक अङ्ग की समानता को देखकर किसी प्रकार जीवन धारण करने पर भी सभी अङ्गों की एकत्र समानता न मिलने से मुझे पूर्णरूप से शान्ति का अनुभव नहीं हो पाता है। इस वर्णन से नायिका के अपूर्व सौन्दर्य के होने का पता चलता है।"

इस श्लोक में 'उत्प्रेक्षालङ्कार' का निर्वाहक कवि-निबद्ध-सादृश्य आदि से अन्त तक भासित होता हुआ विप्रलम्भ-शृङ्गार को पुष्ट करता है। कवि ने समाप्ति तक रस-पोषक बनाने का पूर्ण प्रयास किया है। अत: यह उत्प्रेक्षालङ्कार रस का अङ्ग है।

उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभङ्गहेतुः सम्पद्यते। लक्ष्यं च तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्वपि दृश्यते बहुशः। तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितमात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्।

किन्तु रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य येयं व्यञ्जकत्वे रसादिविषये लक्षणदिग्दर्शिता, तामनुसरन् स्वयं चान्यल्लक्षणमुत्प्रेक्षमाणो यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिभमनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो भवति महीयानिति।।१८-१९।।

बिना समीक्षा के अलङ्कार के सन्निवेश करने से रस का अपकर्ष ही हुआ करता है, उत्कर्ष नहीं। महाकवियों के भी प्रबन्धों में प्राय: करके इस प्रकार की त्रुटि (अस्तव्यस्तरूप में अलङ्कारों का सन्निवेश रूप त्रुटि) देखी जाया करती है। सहस्रों सुभाषितों के द्वारा संसार भर में कीर्ति को प्राप्त किये हुये महापुरुषों के दोषों के प्रचार से उद्घोषक व्यक्ति की ही निन्दा हुआ करती है। तात्पर्य यह है कि महान् व्यक्ति की निन्दा करने से निन्दक-व्यक्ति ही निन्दित हुआ करता है। अतएव विश्लेषण के साथ उनके दोषों का उद्घाटन करना उचित नहीं है। यह नहीं समझना चाहिये कि त्रुटियाँ हो ही नहीं सकती हैं।

किन्तु रूपकादि अलङ्कारसमूह के रसादिविषयक व्यञ्जन क्रम का जो प्रकार बतलाया गया है उसका भली भाँति अध्ययन करके अकथित समीक्षा के प्रकार को भी स्वयं ऊहापोह करते हुये प्रतिभावन् कवि यदि सावधानतापूर्वक पूर्वोक्त असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के स्वरूप को हृदयंगम कर निरूपण करेंगे तो उनको निश्चितरूप से अत्यन्त प्रशंसनीय कवित्वशक्ति प्राप्त होगी।।१९।।

लोचनम्

चलापाङ्गामिति, हे मधुकर, वयमेवंविधाभिलाषचाटुप्रवणा अपि तत्वान्वेषणाद्वस्तुवृत्तेऽन्विष्यमाणे हता आयासमात्रपात्रीभूता जाताः। त्वं खल्विति।

निपातेनायत्नसिद्धं तवैव चरितार्थत्वमिति शकुन्तलां प्रत्यभिलाषिणो दुष्यन्तस्येयमुक्तिः। तथाहि–कथमेतदीयकटाक्षगोचरा भूयास्म। कथमेषास्मदाभिप्रायव्यञ्जकं रहोवचनमाकर्ण्यात् कथं नु हठादनिच्छन्त्या अपि परिचुम्बनं विधेयास्मेति यदस्माकं मनोराज्यपदवीमधिशेते तत्तवायत्नसिद्धम्। भ्रमरो हि नीलोत्पलधिया तदाशङ्ककरीं दृष्टिं पुनः पुनः स्पृशति। श्रवणावकाशपर्यन्तत्वाच्च नेत्रयोरुत्पलशङ्कानपगमात्तत्रैव दन्ध्वन्यमान आस्ते। सहजसौकुमार्यत्रासकातरायाश्च रतिनिधानभूतं विकसितारविन्दकुवलयमोदमधुरमधरं पिवतीति भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारोऽङ्गतामेव प्रकृतरसस्योपगतः। अन्यें तु भ्रमरस्वभावे उक्तिर्यस्येति भ्रमरस्वभावोक्तिरत्र रूपकव्यतिरेक इत्याहुः।

चक्राभिघात एव प्रसभाज्ञा अलङ्घनीयो नियोगस्तया यो राहुदयितानां रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषं चकार। यत आलिङ्गनमुद्दामं प्रधानं येषु विलासेषु तैर्बन्ध्यः शून्योऽसौ रतोत्सवः। अत्राह कश्चित्–पर्यायोक्तमेवात्र कवेः प्राधान्येन विवक्षितं, न तु रसादि। तत्कथमुच्यते रसादितात्पर्ये सत्यपीति। मैवम्; वासुदेवप्रतापो ह्यत्र विवक्षितः। स चात्र चारुत्वहेतुतया न चकास्ति, अपितु पर्यायोक्तमेव। यद्यपि चात्र काव्ये न काचिद्दोषाशङ्का, तथापि दृष्टान्तवदेतत्–यत्प्रकृतस्य पोषणीयस्य स्वरूपतिरस्कारकोऽङ्गभूतोऽप्यलङ्कारः सम्पद्यते। ततश्च क्वचिदनौचित्यमागच्छतीत्ययं ग्रन्थकृत आशयः। तथा च ग्रन्थकार एवमग्रे दर्शयिष्यति। महात्मनां दूषणोद्घोषणमात्मन एव दूषणमिति नेदं दूषणोदाहरणं दत्तम्।

चञ्चल अपाङ्गों वाली—। हे मधुकर! इस प्रकार की इच्छा रखने वाले एवं चाटुवचन में कुशल होकर भी तत्त्व के अन्वेषण से खोजने योग्य वस्तु के सम्बन्ध में हत हो गये (मारे गये), आयासमात्र के पात्र बने। श्लोक में 'खलु' इस निपात के प्रयोग से बिना यत्न के सिद्ध तुम्हारी ही चरितार्थता है, इस भाँति शकुन्तला की इच्छा करने वाले दुष्यन्त का यह कथन है जैसे कि, किस भाँति हम इसके कटाक्षों के गोचर हों, किस भाँति यह हमारे अभिप्रायव्यञ्जक रहस्यवचन को सुन ले, किस भाँति न चाहती हुयी भी इसका इष्टपूर्वक परिचुम्बन हम करें, जो यह सब हमारे मनोराज्य में ही या, वह तेरे लिये अयत्नसिद्ध है। क्योंकि भ्रमर उसकी दृष्टि को नीलोत्पल समझकर बार-बार स्पर्श करता है, कानों तक खिंचे हुये नेत्रों में उसे उत्पल की शङ्का हो जाती है, इस कारण वह वहीं गुंजार कर रहा है स्वाभाविक सुकुमारता के कारण उत्पन्न हुये त्रास से कातर प्रिया के रतिनिधानभूत, विकसित कमल तथा कुवलय की गन्ध के सदृश मधुर अधर का पान करता है, इस भाँति भ्रमर-स्वभावोक्ति अलङ्कार प्रकृत रस का अङ्ग ही है। अन्य टीकाकारों का कथन है कि "भ्रमर के स्वभाव में उक्ति है जिसकी" वह भ्रमरस्वभावोक्ति, यहाँ रूपक के साथ व्यतिरेक है।

चक्राभिघात ही प्रसभ आज्ञा अर्थात् अलङ्घनीय नियोग है, उससे जिसने राहु की स्त्रियों का रतोत्सव चुम्बनमात्र शेष कर दिया क्योंकि रतोत्सव-आलिङ्गन उद्दाम अर्थात् प्रधान है जिन विलासों में उनसे बन्ध्य अर्थात् शून्य (रहित) हो गया। यहाँ किसी का कहना है कि

"पर्यायोक्त-अलङ्कार ही यहाँ कवि का प्रधानरूप से विवक्षित है, न कि रसादि, ऐसी स्थिति में 'रसादि के तात्पर्य होने पर भी' यह क्यों कहते हैं? ऐसी बात नहीं; यहाँ वासुदेव (श्री कृष्ण) का प्रताप विवक्षित है, किन्तु वह यहाँ चारुत्व के हेतुरूप में प्रकाशित नहीं हो रहा है अपितु 'पर्यायोक्त' ही प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि इस काव्य में कोई दोष आशंका नहीं है, तथापि यह एक प्रकार का दृष्टान्त है। ग्रन्थकार के कथन का अभिप्राय यह है कि अङ्गभूत भी अलङ्कार पोषणीय प्रस्तुत के स्वरूप का तिरस्कारक हो जाता है, इस कारण कुछ अनौचित्य आ जाता है। जैसा कि ग्रन्थकार इस प्रकार दिखलायेंगे कि महात्माओं (महान्पुरुषों) के दोष कहना अपना ही दोष हो जाता है, अतएव यह दोष का उदाहरण नहीं दिया है।

उद्दामा उद्गताः कलिका यस्याः। उत्कलिकाश्च रुहरुहिकाः। क्षणात्तस्मिन्नेवावसरे प्रारब्धाजृम्भा विकासो यया। जृम्भा च मन्मथकृतोऽङ्गमर्दः। श्वसनोद्गमैर्वसन्तमारुतोल्लासैरात्मनो लतालक्षणस्यायासमायासनमान्दोलनयत्नमातन्वतीम्। निःश्वासपरम्पराभिश्चात्मन आयासं हृदयस्थितं सन्तापमातन्वतीं प्रकटीकुर्वाणाम्। सह मदनाख्येन वृक्षविशेषेण मदनेन कामेन च। अत्रोपमाश्लेष ईर्ष्याविप्रलम्भस्य भाविनो मार्गपरिशोधकत्वेन स्थितस्तच्चर्वणाभिमुख्यं कुर्वन्नवसरे रसस्य प्रमुखीभावदशायां पुरःसरायमाणो गृहीत इति भावः। अभिनयोऽप्यत्र प्राकरणिके प्रतिपदम्। अप्राकरणिके तु वाक्यार्थाभिनयेनोपाङ्गादिना। न तु सर्वथा नाभिनय इत्यलमवान्तरेण। ध्रुवशब्दश्च भावीर्ष्यावकाशप्रदान जीवितम्।

रक्तो लोहितः। अहमपि रक्तः प्रबुद्धानुरागः। तत्र च प्रबोधको विभावस्तदीयपल्लवराग इति मन्तव्यम्। एवं प्रतिपादमाद्योऽर्थो विभावत्वेन व्याख्येयः। अतएव हेतुश्लेषोऽयम्। सहोक्त्युपमाहेत्वलङ्काराणां हिभूयसा श्लेषानुग्राहकत्वम्। अनेनैवाभिप्रायेण भामहो न्यरूपयत्तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधम्' इत्युक्त्या न त्वन्यालङ्कारानुग्रहनिराचिकीर्षया। रसविशेषमिति विप्रलम्भम्। सशोकशब्देन व्यतिरेकमानयता शोकसहभूतानां निर्वेदचिन्तादीनां व्यभिचारिणां विप्रलम्भपरिपोषकाणामवकाशो दत्तः। किं तर्हीति। सङ्करालङ्कार एक एवायम्; तत्र किं त्यक्तं किं वा गृहीतमिति परस्याभिप्रायाः। तस्येति सङ्करस्य। एकत्र हि विषयेऽलङ्कारद्वय प्रतिभोल्लासः सङ्करः। सहरिशब्द एको विषयः। सः हरिः, यदि वा सह हरिभिः सहरिरिति। अत्र हीति। हिशब्दस्तुशब्दस्यार्थे, 'रक्तस्त्व' मित्यत्रेत्यर्थः। अन्य इति रक्त इत्यादिः। अन्यश्च अशोकसशोकादिः। नन्वेकं वाक्यात्मकं विषयमाश्रित्यैकविषयत्वादस्तु सङ्कर इत्याशङ्क्याहयदीति। एवंविधे वाक्यलक्षणे विषये विषय इत्येकत्वं विवक्षितं बोध्यम्। एकवाक्यापेक्षया यद्येकविषयत्वमुच्यते तन्न क्वचित्संसृष्टिः स्यात्, सङ्करेण व्याप्तत्वात्। ननूपमागर्भो व्यतिरेकः उपमा च श्लेषमुखेनैवायातेति श्लेषोऽत्र व्यतिरेकस्यानुग्राहक इति सङ्करस्यैवैष विषयः। यत्र त्वनुग्राह्यानुग्राहकभावो नास्ति तत्रैकवाक्यगामित्वेऽपि संसृष्टिरेव; तदेतदाह–श्लेषेति। श्लेषबलानीतोपमामुखेनेत्यर्थः। एतत्परिह रति–नेति। अयं भावः किं सर्वत्रोपमायाः स्वशब्देनाभिधाने

व्यतिरेकोभवत्युत गम्यमानत्वे। तत्राद्यं पक्षं दूषयतिप्रकारान्तरेणेति। उपमाभिधानेन विनापीत्यर्थः।

शम्या शमयितुं शक्येत्यर्थः। दीपवर्तिस्तु वायुमात्रेण शमयितुं शक्यते। तम एव कज्जलं तेन। न नो रहिता अपि तु रहितैव। दीपवर्तिस्तु तमसापि युक्ता भवति। अत्यन्तमप्रकटत्वात्कज्जलेन चोपरिचरेण। पताङ्गादर्कात्। दीपवर्तिः पुनः शलभाद् ध्वंसते नोत्पद्यते। साम्येति। साम्यस्योपमायाः प्रपञ्चेन प्रबन्धेन यत्प्रतिपादनं स्वशब्देन तेन विनापीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति-प्रतीयमानैवोपमा व्यतिरेकस्यानुग्राहिणी भवन्ती नाभिधानं स्वकण्ठेनापेक्षते। तस्मान्न श्लेषोपमा व्यतिरेकस्यानुग्राहित्वेनोपात्ता। ननु यद्यप्यन्यत्र नैवं, तथापीह तत्प्रावण्येनैव सोपात्ता; तदप्रावण्ये स्वयं चारुत्व-हेतुत्वाभावादिति श्लेषोपमात्र पृथगलङ्कारभावमेव न भजते। तदाह-नात्रेति। एतदसिद्धं स्वसंवेदनबाधितत्वादिति हृदये गृहीत्वा स्वसंवेदनमपह्नुवानं परं श्लेषं विनोप-मामात्रेणचारुत्वसंपन्नमुदाहरणान्तरं दर्शयन्निरुत्तरीकरोति-यत इत्यादिना। उदाहरण-श्लोके तृतीयान्तपदेषु तुल्यशब्दोऽभिसम्बन्धनीयः। अन्यत्सर्वं 'रक्तस्त्वम्' इति-वद्योज्यम्।

उद्दाम अर्थात् उद्‌गत कलिकाएँ हैं जिसकी। और उत्कलिका अर्थात् रुहरुहिका (उत्कण्ठा)। क्षण में अर्थात् उसी अवसर में प्रारम्भ किया है जृम्भा अर्थात् विकास को जिसने। और जृम्भा अर्थात् कामकृत् अङ्गमर्द (जम्भाई)। श्वसनोद्गम अर्थात् वसन्तकालीन मारुत के उल्लास से लतारूप अपने आयास (आयासन) अर्थात् आन्दोलनयत्न को फैलाती हुई। और निश्वासपरम्पराओं से आयास अर्थात् हृदयस्थित सन्ताप को प्रकट करती हुई। 'मदन' नामक वृक्ष के साथ और मदन अर्थात् काम के साथ। भाव यह है कि यहाँ उपमाश्लेष भावी ईर्ष्याविप्रलम्भ का मार्गपरिशोधक रूप में स्थित होकर उनकी (सहृदयों की)—चवर्णा का अभिमुख्य (अनुकूलता) करता हुआ, अवसर में अर्थात् रस के प्रमुख होने की दशा में अग्रसर होता हुआ, ग्रहण किया गया है। (लतारूप) प्राकरणिक अर्थ में यहाँ पद-पद पर अभिनय भी है। (नारीरूप) अप्राकरणिक अर्थ में उपाङ्ग आदि वाक्यार्थाभिनय से अभिनय है। न कि सर्वथा अभिनय नहीं है, इस अवान्तर चर्चा से बस कीजिये (रहने दीजिये)। 'ध्रुव' ('निश्चय) शब्द भावी ईर्ष्या को अवसर देने में प्राणभूत है।

रक्त अर्थात् लोहित। मैं भी रक्त अर्थात् प्रबुद्ध अनुराग वाला हूँ। वहाँ प्रबोधक विभाव—अर्थात्-उद्दीपन-विभाव उस (अशोक) पल्लवराग है ऐसा मन्तव्य है। इस भाँति प्रत्येक पाद में प्रथम अर्थ विभाव रूप से व्याख्या के योग्य है। इसलिये यह हेतु श्लेष (हेतु अलङ्कार सहित श्लेष) है। सहोक्ति, उपमा और 'हेतु' अलङ्कार बाहुल्येन श्लेष के अनुग्राहक हुआ करते हैं। इसी अभिप्राय से भामह ने—'वह (श्लेष), सहोक्ति, उपमा तथा हेतु के निर्देश से तीन प्रकार का हुआ करता है' (२, ३, ४) यह कहकर निरूपण किया है न कि अन्य अलङ्कार के अनुग्रह के निराकरण करने की इच्छा से। रसविशेष अर्थात् विप्रलम्भ। 'सशोक' शब्द से 'व्यतिरेक' को लाते हुये (कवि द्वारा) शोक के साथ उत्पन्न निर्वेद, चिन्ता आदि विप्रलम्भ के परिपोषक

व्यभिचारी अथवा संचारी भावों को अवकाश दिया गया है। तो क्या है? सङ्करालङ्कार यह एक ही है, तब वहाँ क्या त्याग किया, क्या ग्रहण किया, यह दूसरे का अभिप्राय है। उसका अर्थात् सङ्करण का। एक ही विषय में दो अलङ्कारों की प्रतिभा का होना 'सङ्कर' है। 'सहरि' शब्द एक विषय है। सः हरिः, यदि वा हरियों (अश्वों के साथ सहरि)। यहाँ क्योंकि—। हि (क्योंकि) शब्द 'तु' के अर्थ में है, अर्थात् 'रक्तस्त्वं०' इस स्थल में। दूसरे—अर्थात् 'रक्त' इत्यादि और दूसरे अर्थात् 'अशोक' 'सशोक' इत्यादि। इस प्रकार की आशङ्का करके कि एक वाक्यात्मक विषय को आश्रयण करके एक विषय होने के कारण 'सङ्कर' (एकाश्रयानुप्रवेश रूप) हो, कहते हैं—यदि—। इस प्रकार के वाक्यरूप विषय में 'विषय' यह एकत्व विवक्षित समझना चाहिये। यदि एक वाक्य की अपेक्षा करके 'एकविषयत्व' कहते हैं तो कहीं 'संसृष्टि' नहीं होगी क्योंकि 'सङ्कर' व्याप्त हो जायगा। (शङ्का उत्पन्न होती है कि—) उपमागर्भ व्यतिरेक है, और उपमा श्लेष के प्रकार से आई है, अतएव श्लेष यहाँ व्यतिरेक का अनुग्राहक है, अतः यह सङ्कर (अनुग्राह्यानुग्राहकभाव रूप) का ही विषय है। जहाँ अनुग्राह्यानुग्राहकभाव नहीं है वहाँ एकवाक्यगामी होने पर भी 'संसृष्टि' ही है। उस (शङ्का) को कहते हैं—श्लेष—। अर्थात् श्लेष के बल से लाई गई उपमा के प्रकार से। इसका परिहार करते हैं—नहीं—। भाव यह है—क्या सभी जगह उपमा सम्बन्धी स्वशब्द द्वारा (इवोदि के द्वारा) अभिधान करने पर व्यतिरेक होता है अथवा गम्यमान होने पर? वहाँ प्रथम पक्ष में दोष देते हैं—प्रकारान्तर से—। अर्थात् उपमा के अभिधान के बिना भी

शम्या अर्थात् जिसका शमन किया जा सकता है। दीप की बत्ती वायु मात्र से शान्त हो जाती है। 'तमस्' ही कज्जल, उसके द्वारा। नहीं रहित नहीं, अपितु रहित हो। दिये की बत्ती तो तम से भी युक्त रहा करती है। क्योंकि उसमें अत्यधिक प्रकाश नहीं हुआ करता है तथा ऊपर कज्जल बनता रहा करता है। पतङ्ग अर्थात् अर्क (सूर्य)। दीपवर्ति तो शलभ (पतङ्गे) से नष्ट हो जाया करती है, उत्पन्न नहीं हुआ करती है। साम्य—। अर्थात् साम्य अर्थात् उपमा का प्रपञ्च अर्थात् प्रबन्ध (आदि से अन्त तक) द्वारा जो प्रतिपादन है वह स्वशब्द के बिना भी है। यह कहा गया—प्रतीयमान ही उपमा व्यतिरेक का अनुग्राहक होती हुई कण्ठतः अभिधान की अपेक्षा नहीं किया करती है। इस कारण श्लेषोपमा व्यतिरेक के अनुग्राहक रूप से उपात्त नहीं है।

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यद्यपि अन्यत्र ऐसा नहीं है तथापि उसके प्रावण्य से (अर्थात् व्यतिरेक के अनुग्राहक रूप से) वह उपात्त है, क्योंकि उसके अप्रावण्य की स्थिति में (अर्थात् श्लेषोपमा को व्यतिरेक का अनुग्राहक न मानने की स्थिति में) स्वयं चारुत्व हेतुत्व नहीं होगा, अतएव यहाँ श्लेषोपमा पृथक् से अलङ्कारभाव को प्राप्त नहीं करती है। उसे (शङ्का को) कहते हैं—यहाँ नहीं—। "अपने संवेदन से बाधित होने के कारण यह असिद्ध है (यह बात नहीं बनती है)।" इस बात को मन में रखकर अपने संवेदन को छिपाते हुये वादी को श्लेष के बिना उपमा मात्र से चारुत्व सम्पन्न अन्य उदाहरण को दिखलाते हुये निरुत्तर करते हैं—क्योंकि इत्यादि से। उदाहरणश्लोक में तृतीयान्त पदों में 'तुल्य' ('सदृश') शब्द से सम्बन्धित करना चाहिये। दूसरे सब को 'रक्तस्त्वं०' के समान योजना कर लेनी चाहिये।

एवं ग्रहणत्यागौ समर्थ्य 'नातिनिर्वहणैषिता' इति भागं व्याचष्टे–रसेति। चकारः समीक्षाप्रकारसमुच्चयार्थः। बाहुलतिकाया बन्धनीयपाशत्वेन रूपणं यदि निर्वाहयेत्, दयिता व्याधवधूः, वासगृहं कारागारपञ्जरादीति परमनौचित्यं स्यात्। सखीनां पुर इति। भवत्योऽनवरतं ब्रुवते नायमेवं करोतीति तत्पश्यन्त्विदानीमिति भावः। स्खलन्ती कोपावेशेन कला मधुरा च गीर्यस्याः सा। कासौ गीरित्याह–भूयो नैवमित्येवंरूपा। एवमिति यदुक्तं तत्किमित्याह–दुश्चेष्टितं नखपदादि संसूच्य अङ्गुल्यादिनिर्देशेन। हन्यत एवेति। न तु संख्यादिकृतोऽनुनयोऽनुरुध्यते। यतोऽसौ हसनं निमित्तीकृत्य निह्नुतिपरः प्रियतमश्च तदीयं व्यलीकं का सोढुं समर्थेति।

निर्वोढुमिति। निःशेषेण परिसमापयितुमित्यर्थः।

श्यामासु सुगन्धिप्रियङ्गुलतासु पाण्डिम्ना तनिम्ना कण्टकितत्वेन च योगत्। शशिनीति पाण्डुरत्वात्। उत्पश्यामीति यत्नेनोत्प्रेक्षे। जीवितसन्धारणायेत्यर्थः। हन्तेति कष्टम्, एकस्थसादृश्याभावे हि दोलायमानोऽहं सर्वत्र स्थितो न कुत्रचिदेकत्र धृतिं लभ इति भावः। भीर्विति। यो हि कातरहृदयो भवति नासौ सर्वस्वमेकस्थं धारयतीत्यर्थः। अत्र ह्युत्प्रेक्षायास्तद्भावाध्यारोपरूपाया अनुप्राणकं सादृश्यं यथोपक्रान्तं, तथा निर्वाहितमपि विप्रलम्भरसपोषकमेव जातम्। तत्तुलक्ष्यं न दर्शितमिति सम्बन्धः। प्रत्युदाहरणे ह्यदर्शितेऽप्युदाहरणानुशीलनदिशा कृतकृत्यतेति दर्शयति–किं त्विति। अन्यल्लक्षणमिति। परीक्षाप्रकारमित्यर्थः। तद्यथावसरे त्यक्तस्यापि पुनर्ग्रहणमित्यादि। यथा ममैव–

शीतांशोरमृतच्छटा यदि कराः कस्मान्मनो मे भृशं
संप्लुष्यन्त्यथ कालकूटपटलीसंवास सन्दूषिताः।
किं प्राणान्न हरन्त्युत प्रियतमासञ्जल्पमन्त्राक्षरै–
रक्ष्यन्ते किमु मोहमेमि हहहा नो वेद्मि केयं गतिः।।

इत्यत्र हि रूपकसन्देहनिदर्शनास्त्यक्त्वा पुनरुपात्ता रसपरिपोषायेत्यलम्।।

इस भाँति ग्रहण तथा त्याग का समर्थन करके "दूर तक निर्वाह करने की इच्छा न हो" इस भाग की व्याख्या करते हैं—रस०—। और "च" समीक्षा के प्रकारों के समुच्चयार्थ है। बाहुलतिका का बन्धनीय पाश के रूप में रूपण को यदि निर्वाह करता, प्रिया को व्याध की पत्नी एवं वासगृह को कारागार-पञ्जर बनाता तो यह अधिक अनौचित्य हो जाता। सखियों के सामने—। भाव यह है कि तुम सब यह सदैव कहा करती हो 'यह ऐसा नहीं करता' तो अब देखो। स्खलित होती हुई कोपावेश से लड़खड़ाती हुई और कल अर्थात् मधुर वाणी है जिसकी। कौन है वह वाणी?—'फिर ऐसा नहीं' इस प्रकार की। 'इस प्रकार' जो यह कहा है वह क्या है? कहते हैं—नखक्षतादि दुश्चेष्टित को संसूचन अर्थात अङ्गुलि आदि के द्वारा निर्देश करके। ताड़न किया जाता ही है—। न कि सखी आदि का किया हुआ अनुनय (कि इसे छोड़ दो, अब इस प्रकार का अपराध नहीं करेगा आदि) मानती है क्योंकि वह हंसी को निमित्त करके

(अथवा दुश्चेष्टित) छिपा रहा है, और प्रियतम है, उसके व्यलीक को कौन सहन करने के लिये समर्थ है?

निर्वाह के०—। अर्थात् पूर्णरूप से परिसमाप्त करने करने के लिये।

श्यामा–अर्थात् शोभन गन्ध वाली प्रियङ्गुलताओं में पाण्डुता, कृशता और कण्टकितभाव के योग के कारण। शशी में पाण्डुर होने के कारण। देखता फिरता हूँ, यत्नपूर्वक उत्प्रेक्षण करता हूँ। अर्थात् जीवन धारण करने के लिये। 'हन्त' अर्थात् कष्टम्। भाव यह है कि एक स्थान पर सादृश्य न मिलने से दोलापमान मैं सभी स्थानों पर जाता हूँ। किसी एक स्थान पर भी मुझे धैर्य प्राप्त नहीं होता है। भीरु—। अर्थात् जो कातरहृदय वाला होता है वह सबकुछ एक जगह नहीं रखा करता है (क्योंकि कोई चुरा न ले जाय)। यहाँ तद्भावाध्यारोप रूप (अर्थात् जिसमें जो न हो उसका आहार्य आरोपरूप, जैसे—श्यामा अर्थात् प्रियङ्गुलताओं में अङ्ग का अध्यारोप (उत्प्रेक्षा को अनुप्राणित करने वाला) सादृश्य जैसे उपक्रान्त है, निर्वाह किया गया भी विप्रलम्भ रस का पोषक ही बना है। "वह तो अर्थात् लक्ष्य नहीं दिखलाया है" यह सम्बन्ध है। प्रत्युदाहरण के न दिखलाने पर भी उदाहरण के अनुशीलन की दिशा से अपनी कृतकृत्यता दिखलाते हैं—किन्तु—। अन्य लक्षण—। अर्थात् परीक्षा का प्रकार। जैसे अवसर में छोड़े गये का भी फिर से ग्रहण, इत्यादि। जैसे मेरा ही—।

यदि चन्द्रमा की किरणे अमृतरूप हैं तो किस कारण मेरे मन को अत्यन्त संतप्त करती हैं? यदि ये किरणे विषसमूह के साथ रहने के कारण दूषित हो गई हैं तो प्राणों को क्यों नहीं हर लेती है? अगर प्रियतमा के साथ बातचीत रूप मन्त्राक्षरों से प्राणों की रक्षा हो जाती है तो फिर क्यों मूर्च्छित हो जाता हूँ? हा, हा, समझ में नहीं आता, यह कौन गति है?

यहाँ रूपक, सन्देह और निदर्शना अलङ्कारों को छोड़कर पुनः उपादान किया गया है। अधिक कहना आवश्यक नहीं॥१८-१९॥

मंजूआशुबोधिनी

इन रूपक आदि अलङ्कारों के काव्य के अन्तर्गत प्रयोग करने में (यह समीक्षा) निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना परमावश्यक है:—

रूपक आदि अर्थालङ्कारों के प्रयोग के छै नियम–१. रूपक आदि अर्थालङ्कारों के काव्य के अन्तर्गत प्रयोग करने में सदैव रस को प्रधान मानकर रसपरत्वेन ही वर्ण्य हों, २. प्रधानरूप में किसी भी दशा में अलङ्कारों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। ३. उचित समय पर ही उनका ग्रहण तथा ४. त्याग होना चाहिये, ५. प्रारम्भ से अन्त तक अत्यन्त निर्वाह की इच्छा (प्रयत्न) नहीं करना चाहिये॥१८॥

६.यदि कहीं (अनायास ही) बिना अत्यन्त यत्न के आद्यन्त निर्वाह हो जाय तो निर्वाह हो जाने पर भी (वह) अङ्गरूप में ही हो। इस बात को सावधानतापूर्वक पुनः देख लेना चाहिये। यही (समीक्षा) रूपक आदि अलङ्कारवर्ग के अङ्गत्व का साधन है॥१९॥

उपर्युक्त दोनों कारिकाओं में प्रथम कारिका के चारों चरणों का तथा द्वितीय कारिका के पूर्वार्द्ध का उत्तरार्ध में कथित "रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्" के साथ अन्वय होता है।

और उपर्युक्त छहो नियमों का १. (पृ०) "यमलङ्कार तदङ्गतया विवक्षति", २. (पृ०) नाङ्गित्वेन, ३. (पृ०) यमवसरे गृह्णाति, ४. (पृ०) यमवसरे त्यजति, ५. (पृ०) यं नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति, ६. (पृ०) निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते, (पृ०) "स एवमुपनिबध्यमानो रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवति" का सोदाहरण सङ्गति लगाने तथा उस सङ्गति का समर्थन आदि करने हेतु दर्शाया गया है।

रसनिष्पत्ति में अत्यधिक आदरवान् कवि, जिस अलङ्कार को रस के अङ्गरूप में प्रयुक्त करना चाहता है उसका उदाहरण जैसे—(महाकवि कालीदास विरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक में वाटिका के सिञ्चन में संलग्न शकुन्तला को छिपकर देखते हुये राजा दुष्यन्त उस (शकुन्तला) के समीप मँडराते हुये भ्रमर को देखकर कहते हैं:—)

(चपलाङ्गा दृष्टिं......) इत्यादि में—

हे भ्रमर! तुम इस शकुन्तला की (भयपरिकम्पित) चञ्चल एवं तिरछी चितवन का भलीभाँति स्पर्श कर रहे हो, एकान्त में अथवा रहस्य को निवेदन करने वाले के सदृश कान के पास जाकर गुनगुनाते हो, (भ्रमर को उड़ाने के लिये इतस्तत:) हाथ झटकती हुई (शकुन्तला) के रतिसर्वस्व अधरामृत का (तुम) पान कर रहे हो। हे मधुप! हम तो तत्वान्वेषण (अर्थात् हमारे द्वारा ग्रहण किये योग्य क्षत्रिया है अथवा नहीं, इस खोज) में मारे गये और तुम कृतकृत्य हो गये।

इस स्थल पर स्वभाव का वर्णन किये जाने से "स्वभावोक्ति" अलङ्कार रस के अनुरूप ही है।

समीक्षा के उपर्युक्त प्रकारों में दूसरा कथन "नाङ्गित्वेन कदाचन" था। इसका अभिप्राय है 'न प्राधान्येन' अर्थात् प्रधानरूप से नहीं। कभी कभी रसादितात्पर्य से निबद्ध होने पर भी अलङ्कार 'अङ्गी' (प्रधान) रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसी बारे में आगे कहते हैं।

२. "नाङ्गित्वेन" का अर्थ है 'न प्राधान्येन' अर्थात् प्रधान रूप से नहीं। कभी रसादितात्पर्य की दृष्टि से (रस आदि को प्रधान मानकर) विवक्षित होने पर भी कोई अलङ्कार अङ्गी (प्रधान) रूप से कथित दृष्टिगोचर होता है। जैसे—

विष्णु द्वारा चक्रप्रहाररूप अपनी उल्लंघन न किये जाने योग्य आदेश से राहु की पत्नियों के सुरतोत्सव को (आलिङ्गनोपयोगी हाथ इत्यादि के न होने से) आलिङ्गनप्रधान बिलासों से रहित केवल चुम्बन के योग्य ही बना दिया।

इस स्थल पर 'रस' आदि में तात्पर्य होने पर भी पर्यायोक्त अलङ्कार प्रधान (अङ्गी) रूप में विवक्षित है।

उपर्युक्त श्लोक में 'राहु' के कण्ठच्छेद की घटना का प्रकारान्तर से उल्लेख जाने से 'पर्यायोक्त' अलङ्कार है। घटना पौराणिक कथा पर आधारित है जो इस प्रकार है:—समुद्र-मन्थन के समय जब अमृत निकला तो देवता तथा दैत्य दोनों परस्पर आपस में उसकी प्राप्ति के लिये लड़ने लगे। विष्णु ने मोहिनी रूप को धारण कर उस अमृत-कलश को अपने हाथ में ले लिया। दैत्य उनके मोहिनी रूप को देखकर मोहित हो गये, अमृत का ध्यान भूल गये।

मोहिनीरूप विष्णु ने एक ओर दैत्यों को बिठाकर, दूसरी ओर देवताओं को बिठा दिया तथा अमृत को देवताओं की ओर से बाँटना प्रारम्भ कर दिया। वे चाहते थे कि अमृत को देवों में बाँटकर समाप्त कर दिया जाय। राहु ने इस बात को जान लिया और वह चुपके से उठकर देवों के पंक्ति में सूर्य एवं चन्द्र के मध्य स्थित हो गया तथा मोहिनी द्वारा प्रदत्त अमृत का पान भी कर लिया। समीप में बैठे हुये सूर्य एवं चन्द्रमा के सङ्कत से मोहिनीरूप में विद्यमान विष्णु को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने अपने चक्र से उसके सिर को अलग कर दिया। उसके सिर के हिस्से को 'राहु' तथा धड़ के हिस्से को 'केतु' कहा जाता है। अमृत का पान कर लेने के कारण वह मृत्यु को प्राप्त न हो सका। उसी समय से सूर्य तथा चन्द्रमा के साथ उसकी शत्रुता है।

प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि विष्णु के चक्रप्रहाररूप आदेश के कारण राहु की पत्नियों के सुरतोत्सव को आलिङ्गनप्रधान विलासों से रहित कर दिया गया, केवल चुम्बन का विलास ही शेष रह गया। कथन करने की इस शैली द्वारा राहु के कण्ठच्छेद का प्रकारान्तर से वर्णन किये जाने से यहाँ 'पर्यायोक्त' अलङ्कार है।

रसादि में तात्पर्य होते हुये भी यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार की प्रधानता है, किन्तु यदि इसकी इतनी व्याख्या मानी जाय तो यह 'नाङ्गित्वेन कदाचन' के विपरीत होने से इसे दोष का ही उदाहरण मानना उचित होगा। इस विषय में लोचनकार का कहना है कि यहाँ वासुदेव (श्री कृष्ण) का प्रताप ही विवक्षित है। किन्तु वह देवविषयक रति के व्यञ्जक होने के कारण यहाँ विशेष चारुत्व नहीं है, अपितु चारुत्व हेतु तो पर्यायोक्त अलङ्कार ही है। यह इस बात का एक उदाहरण है कि कहीं कहीं पोषणीय वस्तु अलङ्कार्य को भी अङ्गभूत अलङ्कार तिरस्कृत कर दिया करता है। इस दृष्टि से कुछ अनौचित्य आ जाता है। ग्रन्थकार के अनुसार "महात्माओं (बड़े लोगों) के दोष कहना" अपना ही दोष हो जाता है। अतएव इसे दोष का उदाहरण नहीं माना है।

३. अङ्गरूप में विवक्षित होने पर भी जिसे अवसर पर ग्रहण करता है, अनवसर में नहीं। अवसर पर ग्रहण करने सम्बन्धी उदाहरणः—

"आज मदन (कामदेव) के आवेश से युक्त अन्य नारी के सदृश (लतापक्ष में—मदन नामक वृक्षविशेष के साथ स्थित—उस पर चढ़ी हुई), महती उत्कण्ठा से युक्त (लतापक्ष में—प्रचुरमात्रा में कलियों से लदी हुई), (नारीपक्ष में—उत्कण्ठा के अतिशय के कारण) पाण्डुवर्ण (लतापक्ष में—कलियों के आधिक्य के कारण ऊपर से नीचे तक श्वेतवर्ण) और उसी समय (कामदेव के आवेश से—) जँभाई लेती हुई (लतापक्ष में—विकसित होती हुई) तथा (नारीपक्ष में—) दीर्घ साँसों से अपने काम सम्बन्धी आवेश अथवा हृदय के सन्ताप को प्रकट करती हुई, (लतापक्ष में—वायु के लगातार झोंकों से कम्पन को प्राप्त हुई), समदना (नारीपक्ष में—काम के विकारों से युक्त और लतापक्ष में मदन नामक वृक्षविशेष के साथ अर्थात् उस वृक्ष पर चढ़ी हुई), इस उद्यानलता को देखते हुये निश्चय ही आज मैं रानी के मुख को क्रोध से रक्तवर्ण (लाल) का कर दूँगा। (इस उद्धरण में राजा उदयन ने आगे होने वाले सागरिका के प्रेममूलक ईर्ष्याविप्रलम्भ को अनजाने में सूचित किया है।)

इस स्थल पर उपमाश्लेष का अवसर में ग्रहण किया गया है। उसके द्वारा रस की परिपुष्टि हो रही है। अत: यह अवसर पर ग्रहण सम्बन्धी उदाहरण है।

प्रस्तुत पद्य 'रत्नावली' नाटिका का है। राजा की नवमालिका—लता दोहद-विशेष के प्रयोग से अकाल में ही पुष्पित हो रही है और रानी वासवदत्ता की नहीं। यह ज्ञातकर राजा अपने नर्मसचिव विदूषक से कह रहा है कि आज जिस समय मैं कामावेश से युक्त अन्य नारी के सदृश इस लता का अवलोकन करूँगा तो उस समय रानी वासवदत्ता का मुख ईर्ष्या के कारण लाल हो जायगा। ईर्ष्या का प्रमुख कारण तो यही है कि प्रस्तुत विशेषणों से युक्त लता मदनावेश से युक्त अन्यनारी से सदृश प्रतीत हो रही है। अत: मेरे द्वारा उसकी ओर देखना रानी को सहन नहीं होगा। ऐसी स्थिति में जब मैं उद्यानलता की ओर देखूँगा तो रानी वासवदत्ता का मुख क्रोध के कारण रक्तवर्ण की कान्ति से युक्त अर्थात् लाल हो जायगा। ग्रहण करने पर भी उस रस के अनुकूल होने पर भी दूसरे अलङ्कार की अपेक्षा से कवि द्वारा जिसका अवसर पर त्याग कर दिया जाता है उससे सम्बन्धित उदाहरण—

प्रस्तुत श्लोक भी 'रत्नावली' नाटिका का ही है। राजा द्वारा अशोक वृक्ष से कहा जा रहा है:—

हे अशोक! तुम अपने नवीनपल्लवों के कारण लाल हो रहे हो, मैं भी अपनी प्रिया के गुणों से अनुराग युक्त हूँ। (प्रस्तुत श्लोक के प्रत्येक चरण का पूर्वार्द्ध, उद्दीपनविभावपरक समझना चाहिये) तुम्हारे समीप शिलीमुख (भ्रमर) आते हैं और हे सुहृद! कामदेव के धनुष से छोड़े गये शिलीमुख (बाण) मेरे ऊपर भी आते हैं। ("पादाघातादशोको विकसति, वकुलं योषिताभास्यमद्यै:" की कवि प्रसिद्धि के आधार पर) कान्ता का पादप्रहार तुम्हारे लिये आनन्दप्रद है, तो (तुम्हारे तुम्हारे विकसित हो जाने से, अथवा कान्तापादहतिरूप सुरतबन्ध विशेष से) वह मेरे लिये भी आनन्दप्रद है। इस भाँति हे अशोक! हम और तुम सब प्रकार से तुल्य हैं। केवल अन्तर यही है कि विधाता ने मुझे सशोक (शोक से युक्त) बना दिया है और तुम अशोक (शोक से रहित) हो।

इस स्थल पर तीन चरणों में विद्यमान श्लेष, अन्त में 'व्यतिरेक' अलङ्कार की विवक्षा से त्याग देने से रस-विशेष को ही पुष्ट करता है।

रक्तस्त्वम्..........इत्यादि श्लोक में श्लेष तथा व्यतिरेक अलङ्कारों की संसृष्टि है अथवा 'नरसिंहवत्' कोई अन्य ही अलङ्कार है? इस विषय से सम्बन्धित विचार आगे किया जा रहा है। पूर्वपक्ष है अलङ्कारान्तरवादियों का तथा सिद्धान्तपक्ष में श्लेष तथा व्यतिरेक की संसृष्टि को माना गया है। ग्रन्थकार ने इस प्रकार के अवसरों पर नवीन अलङ्कारान्तर मानने का खण्डन किया है।

अलङ्कारान्तरवादी पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि—प्रस्तुत स्थल पर दो अलङ्कार (श्लेष तथा व्यतिरेक) नहीं है। अतएव यह कहना उचित नहीं है कि व्यतिरेक की अपेक्षा से अन्तिम-चरण में श्लेष को त्याग दिया है। तब है क्या? नरसिंह के सदृश (श्लेष तथा व्यतिरेक को मिलाकर) श्लेषव्यतिरेकरूप अन्य ही (सङ्कर) अलङ्कार है।

(संसृष्टिवादी सिद्धान्तपक्ष—) यह कहना उचित नहीं है उस (एकाश्रयानुप्रवेशरूप सङ्कर) की स्थिति तो दूसरे ही प्रकार से होती है। जिस स्थल पर श्लेष अलङ्कार के विषयभूत (श्लिष्ट) शब्द में ही प्रकारान्तर से व्यतिरेक की प्रतीति हुआ करती है वही उस (श्लेष और व्यतिरेक के एकाश्रुमानुवेश सङ्कर) का विषय हुआ करता है, जैसे—

(स हरिर्नाम्न। ......इत्यादि) वह देव तो नाममात्र स-हरि है और यह राजा श्रेष्ठ अश्व समूह के कारण सहरि है।

(संसृष्टिवादी) ''स हरिनीम्ना'' इत्यादि उदाहरण में श्लेष तथा व्यतिरेक दोनों 'सहरी' इस ही पद में आश्रित है। इस दृष्टि से यहाँ श्लेष तथा व्यतिरेक का एकाश्रयानु प्रवेश सङ्कर बन जाता है।

संसृष्टिवादी—(किन्तु 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि श्लोक में) तो श्लेष के विषय रक्त आदि शब्द हैं और व्यतिरेक 'अशोक तथा सशोक' शब्द हैं। अत: यहाँ यहाँ एकाश्रयानुप्रवेश 'सङ्कर' नहीं हो सकता है।

संसृष्टिवादी सङ्करवादी की ओर से शङ्का को उठाते हुये कहता है:—यद्यपि श्लेष तथा व्यतिरेक अलङ्कारों के विषय भिन्न भिन्न हैं किन्तु हैं तो वे एक वाक्य में ही। अतएव श्लेष और व्यतिरेक का विषय सम्बन्धित शब्द को न मानते हुये उस वाक्य को ही स्वीकार किया जाय तब तो उन दोनों का एक वाक्य रूप एक आश्रय में अनुप्रवेशरूप सङ्कर बन जाता है। संसृष्टिवादी उपर्युक्त शङ्का का उत्तर देता है कि यदि इस प्रकार के विषय में (सङ्कररूप) दूसरे अलङ्कार की कल्पना कर ली जाय तो उस स्थिति में संसृष्टि का विषय ही कहीं भी नहीं रहेगा क्योंकि एकवाक्यरूप आश्रय की सीमा तो बहुत विस्तृत है। संसृष्टि सम्बन्धी सभी उदाहरण 'सङ्कर' की सीमा के अन्तर्गत आजावेंगे। अतएव 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि उदाहरण में 'सङ्कर' मानना उचित नहीं है। संसृष्टि ही मानना उचित होगा।

सङ्करवादी पुन: शङ्का करते हुये कहता है:—''रक्तस्त्वम्'' इत्यादि उदाहरण में एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर न सही, फिर भी सङ्कर का द्वितीय भेद ''अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर'' तो हो ही सकता है क्योंकि व्यतिरेक तो उपमा पर आधृत होता है। दो की तुलना में ही किसी एक का आधिक्य कहा जाना संभव है। यहाँ अशोक वृक्ष तथा नायक की समानता 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि श्लिष्ट विशेषणों के कारण ही प्रतीत होती है। अतएव श्लेष व्यतिरेक का अनुग्राहक है। इस दृष्टि से हमारा कहना है कि 'रक्तसत्वम्' में अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर ही है, संसृष्टि नहीं। जब एक ही 'सङ्कर' नामक अलङ्कार है तब व्यतिरेक के लिये श्लेष का त्याग कर दिया गया, यह 'अवसरे त्याग' का उदाहरण ठीक नहीं है।

सङ्करवादी उत्तर देता है कि श्लेष के द्वारा ही यहाँ व्यतिरेक की सिद्धि होती है। अतएव इस स्थल पर संसृष्टि का विषय है ही नहीं—इस प्रकार की शङ्का करो तो (संसृष्टिवादी सिद्धान्तपक्ष—) यह कहना उचित नहीं है क्योंकि व्यतिरेक उपमा पर ही आश्रित नहीं है—उपमा के कथन के बिना भी प्रकरान्तर से उपमा अथवा समानता के कथन के बिना भी देखा जाया करता है। जैसे:—

(नो कल्पापाय-इत्यादि उदाहरण—) अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करने वाला (दीपक) सूर्यदेव की दीप्तिरूप वह लोकोत्तर बत्ती अत्यधिक कठोर वेग से पर्वतों को विदलित करने वाले कल्पान्तवायु से भी बुझ नहीं सकती, जो दिन में भी अति उज्ज्वल प्रकाश दिया करती है, जो अन्धकाररूप कज्जल से भी पूर्णरूपेण रहित है, जो पतङ्ग (पतङ्गे) के द्वारा भी बुझा नहीं करती है अपितु पतङ्ग अर्थात् सूर्य के द्वारा उत्पन्न हुआ करती है, इस प्रकार की वह लोकोत्तर बत्ती आप सभी को सुखी करे।

इस वर्णन में समानता के कथन के बिना ही व्यतिरेक दिखलाया गया है। अत: व्यतिरेक के लिये शाब्दी उपमा की अपेक्षा न होने के कारण 'रक्तस्त्वम्' में श्लेषोपमा को व्यतिरेक का अनुग्राहक मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। अपितु श्लेष तथा व्यतिरेक दोनों पृथक् पृथक् अलङ्कारों की संसृष्टि ही स्वीकार करनी चाहिये।

(सङ्करवादी द्वारा पुन: शङ्का की जाती है कि "नो कल्पापायवायो:" इत्यादि पद्य में व्यतिरेक की अनुग्राहक उपमा दृष्टिगोचर नहीं होती है, बिना उपमा के भी यहाँ व्यतिरेक है। किन्तु 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि उदाहरण में तो व्यतिरेक के लिये श्लेषोपमा ग्रहण की गई है क्योंकि उसके बिना मात्र श्लेषोपमा से चारुत्व की प्रतीति नहीं होती है। अतएव केवल श्लेषोपमा को ही स्वतन्त्र अलङ्कार—चारुत्व की दृष्टि से स्वीकार नहीं कर सकते हैं। इस स्थिति में श्लेषोपमानुगहीत व्यतिरेक के ही चारुत्वहेतुत्व सम्भव होने से अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर ही है, संसृष्टि नहीं। इसी बात को कहते हैं—)

(सङ्करवादी द्वारा की गई शङ्का—) ("रक्तस्त्वम्" इत्यादि में) केवल श्लेष से ही चारुत्व की प्रतीति नहीं हुआ करती है। इसी दृष्टि से इस स्थल पर श्लेष व्यतिरेक के अङ्ग (अनुग्राहक) रूप में विवक्षित हैं। अतएव वह स्वयं अलङ्कार नहीं है। ऐसी शङ्का करने पर तो (संसृष्टिवादी सिद्धान्तपक्ष) यह भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि इस भाँति के (व्यतिरेक के) सम्बन्ध में (श्लेषरहित) साम्यमात्र (उपमार्ग व्यतिरेक) के सम्यक प्रतिपादन के द्वारा भी चारुत्व दिखलाई देता है। जैसे:—

"विरही व्यक्ति द्वारा मेघ को सम्बोधित कर कहा जा रहा है:—

हे मेघ! मेरे क्रन्दन तुम्हारे गर्जन के सदृश हैं, मेरे अश्रु तुम्हारी निरन्तर बहने वाली जलधारा के सदृश हैं। उस (प्रियतमा) के वियोग से उत्पन्न शोकाग्नि तुम्हारी चमकती हुई बिजली की छटा के तुल्य है, मेरे हृदय के अन्तर्गत विराजमान प्रियतमा का मुख है तथा तुम्हारे हृदय में ढका हुआ चन्द्रमा है। अतएव हमारी-तुम्हारी वृत्ति तो एक जैसी ही है। हे मित्र मेघ! ऐसी स्थिति में भी तुम रातदिन मुझे ही जलाने को क्यों उद्यत रहते हो?

इत्यादि में।

आक्रन्दा: इत्यादि श्लोक के चतुर्थ चरण में बन्धुजनपीड़ाकारित्व रूप से मेघ का अपनी अपेक्षा व्यतिरेक दिखलाया गया है तथा प्रथम तीन चरणों में अपना तथा मेघ का साम्य दिखलाया गया है किन्तु इस साम्य में श्लेष नहीं है। अतएव इस स्थल पर श्लेषरहित उपमा और व्यतिरेक तथा नो "कल्पापाय" इत्यादि में उपमा रहित व्यतिरेक है। ऐसी स्थिति में

'रक्तस्त्वम्' इत्यादि श्लोक में श्लेष तथा व्यतिरेक को पृथक् पृथक् अलङ्कार मानकर उनकी संसृष्टि माननी ही उचित है। क्योंकि संसृष्टि का लक्षण है:—"मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरूच्यते"। अतएव व्यतिरेक की अपेक्षा से प्रथम तीन पादों में निरन्तर चलने वाले श्लेष का परित्याग चतुर्थ पाद में कर देने से "अवसरे त्याग" रूप चतुर्थ समीक्षा के प्रकार का जो उदाहरण दिया गया है वह ठीक ही है। यह सिद्धान्त पक्ष है।

अब आगे पंचम प्रकार को दिखलाते हैं:—

५. रसनिबन्ध में अत्यधिक रूप से संलग्न कवि जिस अलङ्कार का अत्यधिक निर्वाह नहीं करना चाहता है। उसका उदाहरण:—

("कोपात् कोमल लोल"—इत्यादि श्लोक—) क्रोध के आवेश में अपने अत्यन्त कोमल एवं चञ्चल बाहुलतारूप पाश से अत्यन्त दृढ़ता पूर्वक सायंकाल के समय स्वकीय केलिभवन में सखियों के समक्ष (पराङ्गनोपभोगजन्य नक्षक्षत आदि चिह्नों से) उसके दुश्चेष्टित को भलीभाँति सूचित कर, फिर तो कभी ऐसा नहीं होगा, क्रोध के आवेश में लड़खाड़ाती हुई वाणी द्वारा ऐसा कहकर, रुदन करती हुई प्रियतमा के द्वारा अपने अपराध को हास्य द्वारा छिपाने का प्रयास करनेवाले प्रियनायक को पीटा (मारा) ही जाता है। (सखियों द्वारा बार-बार मना करने पर भी नायिका उसको मारती ही है।)

यहाँ 'बाहुलतिकापाशेन' के द्वारा रूपक (आक्षिप्त) प्रारम्भ किया गया था किन्तु केवल (परं अथवा अत्यधिक) रस की पुष्टी के लिये उसका निर्वाह नहीं किया गया।

यह पंचम समीक्षा प्रकार है। अब छठे समीक्षा प्रकार का उदाहरण देते हैं:—

६. अन्त तक—निर्वाह इष्ट होने पर भी जिस अलङ्कार का सावधानता के साथ अङ्गरूप में ही कवि निभाने की चेष्टा करता है:—

(श्यामास्वङ्गं—इत्यादि—में विरह पीड़ित यक्ष अपनी प्रिया के समीप संदेश भेजता हुआ कहता है:—"हे भीरू! मुझे तुम्हारे अङ्ग की समानता प्रियङ्गुलताओं में, तुम्हारा दृष्टिपात, चकित हरिणियों की चञ्चल चितवन में, तुम्हारे कपोल (गाल) की कान्ति चन्द्रमा में, तुम्हारे केशपाश मयूरपिच्छ में तथा तुम्हारे भ्रूभङ्ग नदी की पतली-पतली तरङ्गों में दृष्टिगोचर होती है। किन्तु खेद है कि तुम्हारा सादृश्य कहीं एकत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है। अन्यथा मैं उस एक से ही सन्तोष कर लेता।"

इत्यादि में।

उपर्युक्त उदाहरण में कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार को अनुप्राणित करने वाले सादृश्य को प्रारम्भ से उठाकर अन्ततक उसका निर्वाह किया है किन्तु वह अङ्गरूप में ही रहे इसका पूर्णरूप से ध्यान रखा है। अतएव यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार विप्रलम्भ शृङ्गार का ही पोषक है।

वह रूपक आदि अलङ्कार-समूह इस भाँति (उपर्युक्त अङ्गता के साधक छै प्रकार के समीक्षा के प्रकारों को ध्यान में रखकर) उपनिबद्ध अलङ्कार, कवि के अभिलषित रस को अभिव्यक्त करने का हेतु हुआ करता है। कथित प्रणाली का उल्लंघन करने से तो रसभङ्ग का हेतु बन जाया करता है। इस भाँति के (समीक्षा के नियमों का उल्लंघन करने वाले रसभङ्ग के प्रदर्शक) अनेक उदाहरण महाकवियों के काव्यों में भी उपलब्ध हुआ करते हैं। किन्तु हज़ारों

सूक्तियों की रचना के द्वारा प्रतिष्ठा को प्राप्त उन महात्माओं के दोषों का उद्घाटन करना अपने लिये ही दोषजनक हुआ करता है। इसी दृष्टि से महाकवियों के दोषपूर्ण उदाहरणों को पृथक् से नहीं दिखलाया गया है।

फलस्वरूप सिद्धान्त तो यह है कि रूपक आदि अलङ्कार-समूह का रसादि विषयक व्यञ्जकत्व का जो यह मार्ग बतलाया गया है उसका अनुकरण करते हुये, साथ ही स्वयं भी अन्य लक्षणों का अन्वेषण करते हुये यदि कोई श्रेष्ठ कवि पूर्ववर्णित असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के सदृश ध्वनि के आत्मभूत रस आदि को पूर्ण सावधानता के साथ निबद्ध करता है तो उसे कविपद का पूर्णलाभ अर्थात् महाकवि के पद की प्राप्ति हुआ करती है॥१९॥

ध्वन्यालोक

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽनुस्वानसन्निभः।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात्सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः॥२०॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वादनुरणनप्रख्यो य आत्मा सोऽपिशब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्चेति द्विप्रकारः॥२०॥

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के दो भेद-प्रारम्भ में ध्वनि के दो भेद कहे गये थे—अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलध्वनि) तथा विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलध्वनि)। तत्पश्चात् अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलध्वनि) के भी दो भेद किये गये— (१) अर्थान्तर संक्रमितवाच्य (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। इसके पश्चात् विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलध्वनि) के भी दो भेद किये गये (१) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (२) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। तृतीय कारिका से लेकर १९वीं कारिका तक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की पर्याप्त विवेचना की गई है। अब संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के भेद कहेंगे।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के भी प्रारम्भ में दो भेद होते हैं (१) शब्दशक्त्युत्थ और (२) अर्थशक्त्युत्थ। लगभग सभी आचार्यों ने इन दोनों भेदों के अतिरिक्त एक तृतीय भेद भी स्वीकार किया है:—वह है—उभयशक्त्युत्थ। शब्दशक्त्युत्थ के वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि नामक दो भेद, अर्थशक्त्युत्थ के १२ भेद तथा उभयशक्त्युत्थ का एक भेद—सब मिलाकर संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के १५ भेद हुये। फिर एक भेद असंलक्ष्यक्रम को मिलाकर १६ भेद हुये। फिर प्रारम्भ में किये गये विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलध्वनि) तथा अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल-ध्वनि) नामक भेदों को मिलाकर कुल १८ भेद होते हैं।

अब संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का निरूपण करते हैं:—

(विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का) अनुस्वानसदृश क्रम से प्रतीत होने वाला जो द्वितीय स्वरूप (आत्मा) है वह भी शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल होने की दृष्टि से दो प्रकार का होता है॥२०॥

इस विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होने से अनुस्वान सदृश जो द्वितीय स्वरूप है, वह भी शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल—इस भाँति दो प्रकार का है॥२०॥

ननुशब्दशक्त्या यत्रार्थान्तरं प्रकाशते स यदि ध्वनेः प्रकार उच्यते तदिदानीं श्लेषस्य विषय एवापहृतः स्यात्, नापहृत इत्याह–

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः।।२१।।

(शङ्का)—शब्दशक्ति से जहाँ दूसरा अर्थ (अर्थान्तर) प्रकाशित हुआ करता है, उसे यदि ध्वनि का प्रकार कहते हैं तब तो श्लेष का विषय ही अपहृत हो जायगा। इस पर कहते हैं कि अपहृत नहीं होगा—

क्योंकि, जहाँ शब्द से अनुक्त (साक्षात् संकेतित नहीं) अलङ्कार आक्षेपसामर्थ्य से ही शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित हुआ करता है, वह "शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि" कहलाता है।

यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दश्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम्। वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः। यथा–

क्योंकि हमारे कहने का यह अभिप्राय है कि अलङ्कार, न कि केवल वस्तु, जहाँ शब्दशक्ति से (आक्षिप्त होकर) प्रकाशित हुआ करता है वहीं शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि हुआ करती है। और जहाँ पर दो वस्तु शब्द-शक्ति (अभिधा) से प्रकाशित हों वहाँ श्लेष हुआ करता है। जैसे:—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः।।

उपर्युक्त श्लोक में श्लेष की दृष्टि से दो अर्थों की वाच्यता को स्पष्ट करते हैं। कवि द्वारा विष्णु तथा शिव से श्लेष द्वारा राजा की शुभकामना विषयक प्रार्थना की गई है:—(विष्णुपक्ष में—) (येन अभवेन) जिस अजन्मा विष्णु ने, (अनः ध्वस्तं) वाल्यकाल में 'अनः' अर्थात् शकट अथवा बच्चों की गाड़ी अथवा शकटासुर को नष्ट कर दिया, (पुरा) पहले अमृतहरण करते समय (बलिजित) राजा बलि को अथवा बलवान् राक्षसों को जीतने वाले अपने शरीर को मोहिनीरूप धारण कर स्त्री बना डाला, जिन्होंने मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले 'कालिया नाग' को मार डाला, जिनमें 'रव' वेद का लय होता है अथवा 'रवे शब्दे लयोयस्य' अकारो विष्णुः अकाररूप शब्द में जिसका लय हो जाया करता है, जिन्होंने 'अंग' गोवर्धन पर्वत तथा (गां) बराहावतार में पृथ्वी को धारण किया। जो (शशिनं मथ्नातीति शशिमथ) राहु के शिर को काटने वाले हैं। देवगण जिनका 'शशिमच्छिरोहर' यह स्तुत्य नाम लिया करते हैं। अन्धक अर्थात् यादवों का द्वारिका में क्षय निवासस्थान बनाने वाले अथवा मौसल पर्व पर यादवों का विनाश करने वाले तथा सभी प्रकार की मनोकामनाओं को पूर्ण करनेवाले 'माधव'—विष्णु तुम्हारी रक्षा करें।

(शिवपक्ष में—) कामदेव को जलानेवाले, जिसने (पुरा) पहले त्रिपुरदाह के समय (बलिजित्कायः) विष्णु के शरीर को (अस्त्रीकृतः) वाण बनाया, जिन्होंने भयानक सर्पों को हार

तथा बलय के रूप में धारण कर रखा है, जिन्होंने गङ्गा को धारण किया हुआ है, जिनका मस्तक चन्द्रमा से युक्त है तथा देवगण जिसका प्रशंसनीय 'हर' नाम लिया करते हैं, ऐसे 'अन्धक' नामक राक्षस के विनाशक (उमाधव) पार्वती के पति शिवजी सदैव तुम्हारी रक्षा करें।

उपर्युक्त स्थल पर अभिधा का नियन्त्रण न होने से उपर्युक्त दोनों अर्थों में श्लेष ही है, शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि नहीं।

नन्वलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन, तत्पुनरपि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्निरवकाशः। इत्याशङ्क्येदमुक्तम् ''आक्षिप्तः'' इति। तदयमर्थः, यत्र तु शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरं वाच्यं सत् प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः।

शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरप्रतिभा यथा–

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ।।

अत्र शृङ्गारव्यभिचारी विस्मयाख्यो भावः साक्षाद्विरोधालङ्कारश्च प्रतिभासते, इति विरोधच्छायानुग्राहिणः श्लेषस्यायं विषयः, न त्वनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य तु ध्वनेर्वाच्येन श्लेषेण विरोधेन वा व्यञ्जितस्य विषय एव।

यथा ममैव—

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित–
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।
बिभ्राणां मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात्।।

अत्र वाच्यतयैव व्यतिरेकच्छायानुग्राही श्लेषः प्रतीयते।

यथा च—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्।।

यथा वा—

चमहिअमाणसकञ्चणपङ्क अणिम्महिअपरिमला जस्स।
अखण्डिअदाणपसारा बाहुप्पलिहा व्विअ गइंदा।।
(खण्डितमानसकाञ्चनपङ्कजनिर्मथितपरिमला यस्य।
अखण्डितदानप्रसरा बाहुपरिघा इव गजेन्द्राः।।इतिच्छाया।।)

अत्र रूपकच्छायानुग्राही श्लेषो वाच्यतयैवावभासते

स चाक्षिप्तोऽलङ्कारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यवहारः। तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालङ्कारव्यवहार एव।

यथा—

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किन्नाम नालम्बसे।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति–
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद्गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्।।

एवञ्जातीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषयः।

जिन स्थलों पर एक से अधिक दूसरे भी अलंकाररूप अर्थ की प्रतीति हुआ करती है उन स्थलों पर श्लेष का व्यवहार हुआ करता है; भट्ट उद्भट के इस मत के अनुसार वक्ष्यमाण शब्दशक्तिमूलध्वनि के उदाहरण में भी उपाम अलङ्कार रूप अन्य अर्थ का मान होने से शब्दशक्त्युद्भवध्वनि को श्लेष से गतार्थ होने की शङ्का को दूर करने की दृष्टि से ध्वनिकार द्वारा अलङ्कार रूप अन्य अर्थ के व्यङ्ग्यत्व को सूचित करने वाले 'आक्षिप्त' पद का प्रयोग किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उक्त अलङ्कार की वाच्यता होने पर श्लेष तथा व्यङ्गता होने पर शब्द-शक्त्युद्भवध्वनि मानी जायगी। इस स्थिति में ध्वनि का अनवकाश नहीं होगा।

इसी बात को संक्षेप में यों कहा गया है:—तदयमर्थ इति। जहाँ अभिधात्म शब्दशक्ति से दूसरा अलङ्कार भासित हुआ करता है, वह सारा ही श्लेष का विषय हुआ करता है किन्तु जहाँ अभिधामूल व्यञ्जना से अभिव्यक्त होकर अन्य अलङ्कार, वाच्यव्यतिरिक्त व्यङ्गरूप से ही प्रकाशित होता है वह शब्दशक्त्युद्भव-ध्वनि का विषय हुआ करता है।

शब्दशक्ति से साक्षात् (वाच्यरूप से भी) अन्य अलङ्कार की प्रतीति का उदाहरण:—

"हार के बिना भी स्वभावतः ही (मनो) हारी उस नायिका के दोनों स्तन किस के मन में विस्मय उत्पन्न नहीं करते? अर्थात् सभी के मन में विस्मय उत्पन्न करते हैं।"

इस उदाहरण में हार के बिना भी 'हारवाला' कहने से विरोध को उत्पत्ति होती है, किन्तु हारिणौं का अर्थ 'हारवाला' अर्थ न करके 'मनोहर' अर्थ कर देने से वह विरोध दूर होकर 'विरोधाभास' में परिणत हो जाता है, तथा उसको 'अपि' शब्द साक्षात् ही वाच्यरूप में सूचित कर रहा है। अतएव शृङ्गार रस के स्वशब्द वाच्य 'विस्मय' नामक व्यभिचारी भाव की भाँति यह श्लेष का ही विषय है, उक्त ध्वनि का नहीं।

इस स्थल पर शृङ्गाररस का व्यभिचारी विस्मय नामक भाव जैसे साक्षात् (स्व) विस्मय शब्द द्वारा अभिहित होता है, उसी भाँति विरोधाभास अलङ्कार भी 'अपि' शब्द से साक्षात् ही वाच्यवृत्या ज्ञात होता है। अतएव विरोधाभास के अनुग्राहक श्लेष का यह विषय है, शब्दशक्तिमूल उक्त संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय नहीं।

इस स्थल पर संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि की विषयता न रहने पर भी वाच्यभूत श्लेषानुगृहीत विरोध से व्यञ्जना द्वारा प्रकाशित असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप शृङ्गाररस-ध्वनि की विषयता निश्चितरूप से भासित होती है। अतएव पूर्वरूप से ध्वनि का अभाव नहीं कहा जा सकता है।

(दूसरे अलङ्कार के वाच्यतया प्रतीत होने का दूसरा ही उदाहरण जैसे मेरा ही:—

"अत्यधिक प्रशंसनीय सर्वाङ्गसुन्दरी, एवं मुख, नेत्र आदि अङ्गों के अत्यधिक लावण्य छवि की शोभा से तीनों लोकों को जीतनेवाली और चन्द्ररूप सम्पूर्णमुख मण्डल को धारण किये हुये जिस रुक्मिणी को, केवल सुन्दर हाथ वाले अथवा सुदर्शनचक्रधारी एवं मात्र चरणकमल से इस भुवन पर विजयपाने वाले तथा चन्द्ररूप केवल चन्द्र को धारण करने वाले, भगवान् कृष्ण ने अपने शरीर से भी अधिक उत्कृष्ट देखा, वे रुक्मिणी देवी आप सब की रक्षा करें।"

यहाँ वाच्यरूप से ही व्यतिरेक की छाया का अनुग्राहक श्लेष प्रतीत हो रहा है। और जैसेः—वाच्यभूत अलङ्कार का दूसरा उदाहरण देते हैं:—"जलद (मेघ) रूप विषैले सर्प से वृष्टि-वमन द्वारा निकला हुआ जल रूप विष, विरहिणी नायिकाओं के चक्कर, मानसिक उदासीनता, इन्द्रियव्यापारशून्यता, बेचैनी, मूर्च्छा, अन्धेरा, शरीर की कृशता ऐंठन और मरण हठपूर्वक कर डालता है।"

यहाँ जलद में भुजङ्गत्व के आरोप द्वारा प्रतीयमान रूपकालङ्कार, विष पदवृत्ति अर्थश्लेष ही साधक हो रहा है। अतः श्लेषानुगृहीतरूपकालङ्कार वाच्यरूप से ही प्रतीत होता है।

अथवा जैसे:—

"निराशा शत्रुओं के मनरूपी स्वर्ण-कमल को निर्मथित करने वाले अपने यशरूपी सुगन्धि से युक्त और निरन्तर दान देने वाले जिस राजा के बाहुदण्ड, मानसरोवर के स्वर्णकमलों को खण्डित करने से (उनकी) सुगन्धि से सने तथा निरन्तर दान-जल प्रवाहित करने वाले हाथियों के समान हैं।"

इस उदाहरण में रूपक की छाया का अनुग्राहक श्लेष वाच्यरूप से ही प्रतीत हो रहा है।

और वह आक्षिप्त अलङ्कार जहाँ पुनः शब्दान्तर से अभिहित हो जाता है वहाँ शब्दशक्त्युद्भव अनुरणनरूप ध्वनि का व्यवहार नहीं हुआ करता है। वहाँ वक्रोक्ति आदि वाच्य अलङ्कार का व्यवहार हुआ करता है। जैसे:—(दृष्ट्या केशव....इत्यादि)

हे केशव (कृष्ण) गायों द्वारा उडाई हुई धूल से दृष्टि के ढँप जाने के कारण मैं ऊँची-नीची भूमि को नहीं देख सकी हूँ, इसीलिये मैं मार्ग में गिर पड़ी हूँ। हे नाथ! समर्थ होते हुये भी आप गिर गई हुई मुझको क्यों नहीं सहारा दे रहे हो अथवा उठाते हो। ऊबड़-खाबड़ भूमी पर चलने की सामर्थ्य न होने के कारण अत्यधिक दुःखी होनेवाली सभी अबलाओं के एकमात्र आप ही शरण हैं, इस भाँति गोपी द्वारा गोष्ठ (गोशाला) में ही कहे गये कृष्ण आप सबकी रक्षा करें।

('सलेश' पद की सामर्थ्य से दूसरा अर्थ यह भी निकलता है—) हे केशव! गोपरूप तुम्हारे प्रति ही अत्यधिक अनुराग से आकृष्ट होकर मैं किंकर्त्तव्यविमूढ हो गयी। इसीकारण अपने पातिव्रत्य व्रत से भी मैं भ्रष्ट हो चुकी हूँ। अतएव हे स्वामिन्! आप ही मेरे पति हों। पञ्चबाण अर्थात् कामदेव द्वारा अत्यधिकरूप में सताई जाती हुई सभी अबलाओं के भी आप ही शरण हैं—इस प्रतियमान् व्यङ्ग्यार्थ को 'सलेश' पद ने छल से अत्यधिक स्पष्टरूप में सूचित कर वाच्य सदृश बना दिया। अतएव इस (व्यङ्ग्यार्थ) में रमणीयता नहीं रही।)

यहाँ द्व्यर्थक गोपराग आदि शब्दों की अभिधाओं के, पहले प्रकरणवश गोधूलि आदि अर्थों में नियन्त्रित हो जाने से उक्त अन्य अर्थ के व्यङ्ग्यत्व की संभावना होने पर भी पीछे सलेश शब्दोपादान से द्वितीय अर्थबोधक अभिधा के पुनरुज्जीवन द्वारा तदर्थ का भी बोध उसी अभिधा द्वारा हो जाता है। अतः दोनों ही अर्थों में वाच्यश्लेष की ही विषयता है, शब्दशक्तिमूलध्वनि की नहीं।

इस प्रकार के सभी उदाहरण वाच्यश्लेष के ही विषय हो सकते हैं।

यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेर्विषयः। यथा–

"अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।"

यथा च—

उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम्।।

यथा वा—

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु।।

एष्वूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे, वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसांक्षीदित्यप्राकरणिकार्थयोरूपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः। सामर्थ्यादित्यर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेषो न शब्दोपारूढ इति विभिन्न एव श्लेषादनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्विषयः।

अन्येऽपि चालङ्काराः शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्येध्वनौ सम्भवन्त्येव। तथा हि विरोधोऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो दृश्यते। यथा स्थाण्वीश्वराख्यजनपदवर्णने भट्टबाणस्य–

"यत्र च मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च, गौर्यो विभवरताश्च, श्यामाः पद्मरागिण्यश्च धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदश्वसनाश्च प्रमदाः।"

अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम्। साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्याप्रकाशितत्वात्। यत्र हि साक्षाच्छब्दावेदितो विरोधालङ्कारस्तत्र हि श्लिष्टोक्तौ वाच्यालङ्कारस्य विरोधस्य श्लेषस्य वा विषयत्वम्। यथा तत्रैव–

'समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्। तथा हि, सन्निहितबालान्धकारापि भास्वन्मूर्तिः।' इत्यादौ।

यथा वा ममैव–

सर्वैकशरणमक्षयममधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम्।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम्।।

अत्र हि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते। एवंविधो व्यतिरेकोऽपि दृश्यते। यथा ममैव–

खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लनतमसो ये वा नखोद्भासिनो
ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये।
ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां–
स्युत्कामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तुवः।।

एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रकाराः सन्ति ते सहृदयैः स्वयमनुसर्तव्याः। इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न तत्प्रपञ्चः कृतः।।२१।।

किन्तु जहाँ अनेकार्थक शब्द के प्रकरण आदि द्वारा एक अर्थ में ही अभिधा के नियन्त्रित हो जाने पर द्वितीय अलङ्कार आदि का अभिधामूल व्यञ्जना द्वारा ही बोध होता है वहाँ शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का ही विषय होता है क्योंकि उस (अलङ्कारादि) व्यङ्ग्यार्थ के अभिधामूल व्यञ्जना से ही प्रतीत होने से केवल अभिधा का प्रतिरोध हो जाता है।

जैसे:—

इसी समय पुष्पसमयरूप वसन्त को समाप्त करते हुये, अत्यधिक सफेद

अटारी के सदृश उज्ज्वल मल्लिका (जुही) के पुष्पों के विकास से सुशोभित तथा दिन को बड़ा करने वाला ग्रीष्मकाल उल्लसित हुआ।

एवँ "इतने में वसन्तसदृश सुखद सत्ययुगादि को नष्ट करते हुये, विकसित मल्लिका (जुही) के पुष्पों के समान अट्टहास करने वाले तथा राक्षसों के लिये अति विकराल रुद्रावतार धारण करने वाले महाकाल भगवान् शङ्कर अत्यन्त उल्लसित हुये।" यह व्यङ्ग्यार्थ है।

इस स्थल पर ऋतुवर्णन सम्बन्धी प्रकरण द्वारा ग्रीष्मकाल सम्बन्धी अर्थ में अभिधा के नियन्त्रित हो जाने से शिवसम्बन्धी अर्थ तथा हर-ग्रीष्म के उपमानोपमेय भाव व्यंजन द्वारा उपमा की प्रतीति अभिधामूल व्यञ्जना द्वारा ही होती है। अतएव यह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का विषय है।

और जैसे:—

आकाश में फैलकर मूसलाधार बरसने वाले मेघ की काले अगर के समान कृष्णवर्ण की घटा किस युवक के अन्दर कामिनी विषयक इच्छा को उत्पन्न नहीं करती है अर्थात् सभी के अन्दर उत्पन्न करती है। तथा "युवावस्था के कारण अत्यधिक उन्नत और मुक्ताहार से सुशोभित तथा काले अगर इत्यादि सुगन्धित चन्दन आदि द्रव से उपलिप्त विशाल स्तनद्वय किस व्यक्ति को कामिनी अथवा अपनी दयिता से मिलने के लिये उत्कण्ठित नहीं करता? अर्थात् सभी को उत्कण्ठित करता है।"

इस उदाहरण में वर्षावर्णन प्रसङ्ग से मेघपक्षीय अर्थ में ही अभिधा के नियन्त्रित हो ज़ाने

से स्तनपक्षीय अर्थ और मेघ-स्तन का उपमानोपमेय भाव अभिधामूल व्यञ्जना द्वारा ही प्रतीत होता है।

अथवा जैसे:—

वर्षा आदि ऋतुओं में उचित समय पर बिना प्रयास के ही जलवृष्टि द्वारा प्रजा को आनन्दित करने वाली, प्रातःकाल ही प्रत्येक दिशा में प्रकाशार्थ फैलनेवाली और दिन बीतते ही अस्त हो जाने वाली तथा जन्ममरण आदि भयंकर क्लेशोत्पादक दुस्तर संसार-सागर से पार उतारने वाली नौका के सदृश सूर्य की किरणें अत्यन्त पवित्र आप सभी को अति आनन्द को प्रदान करें। तथा—"प्रातःकाल आदि समुचित समय पर अनायास ही दुग्धों को स्रवित कर अपनी सन्तान को तृप्त करने वाली, सुबह के समय ही हरी-हरी घास को चरने हेतु विभिन्न दिशाओं में विचरण करनेवाली एवं सायंकाल होते ही इकट्ठी होकर घर को वापस लौटनेवाली और अतिदुःसह जनन-मरण आदि दुःखोत्पादक अपार संसार-सागर से पार करने वाली नौका सदृश गायें अति पवित्र आप सभी को असीम आनन्द को प्राप्त करायें", यह व्यङ्ग्यार्थ है।

इस स्थल पर भी प्रकरण की दृष्टि से किरणपक्षीय अर्थ वाच्यरूप से प्रतीत होता है और गायपक्षीय अर्थ तथा किरण-गौ का उपमान-उपमेयभाव व्यङ्ग्यरूप में ही अभिधामूल व्यञ्जना द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस दृष्टि से यह भी उक्त ध्वनि का ही विषय है।

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में प्रकरण आदि की दृष्टि से प्रस्तुत अर्थों की अभिधाओं के द्वारा प्रतीति होने के पश्चात् अभिधामूल व्यञ्जना द्वारा अप्रस्तुत अर्थों की प्रतीति होने पर भी दोनों में अनन्वय से उत्पन्न वाक्यार्थगत अनुपपत्ति को दूर करने के निमित्तव्यञ्जना द्वारा उपमानोपमेय भाव की कल्पना होती है। अतएव द्वितीय अर्थ के व्यङ्ग्य होने से श्लेष-अलङ्कार का मुख्यरूप से व्यवहार न होकर अभिधामूल-व्यञ्जना से अभिव्यक्त होने वाले औपम्य और व्यङ्ग्यभूत श्लेष को संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का ही उदाहरण मानना उचित है।

उपर्युक्त उपमा के अतिरिक्त अन्य अलङ्कार भी शब्द शोक्तिमूल—संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनि में व्यङ्ग्यरूप से भासित हो सकते हैं। उन अलङ्कारों में सर्वप्रथम विरोधाभास अलङ्कार का उदाहरण कहते हैं:—

थानेश्वर नामक नगर के वर्णन में बाणभट्ट का—

जहाँ स्त्रियाँ अति उन्मत्त चाण्डाल आदि नीचपुरुषों के साथ रमण करती हुई होने पर भी सच्चरित्र वाली हैं (इस प्रकार से विरोध प्रतीत होता है जो कि 'मातङ्गगामिन्यः' का गजगामिनी अर्थ करने से नहीं रहता है।)। गौरी (पार्वती) और भव—शिव, विभव—शिवभिन्न के साथ रमण करनेवाली—यह विरोध हुआ, जो 'गौरवर्ण और वैभवनिमग्न' अर्थ करने पर नहीं रहता है। कृष्णवर्ण वाली होने पर भी रक्तकमल जैसी भाती हैं—यह विरोध हुआ, जो तरुणी और पद्मरागमणियों के अलङ्कारों से युक्त अर्थ करने पर नहीं रहता है। इत्यादि उदाहरण में विरोध अथवा विरोधाभास का पोषक, श्लेषादि अलङ्कार वाच्यरूप से प्रतीत न होकर व्यङ्ग्यरूप से ही प्रतीत होता है क्योंकि विरोध आदि के द्योतक 'अपि' आदि शब्द नहीं हैं तथा उक्त अर्थद्वय की प्रतीति वाच्यरूप में नहीं होती है। अतएव इसे ध्वनि का ही उदाहरण समझना चाहिये।

वाच्यभूत विरोध तथा श्लेष अलङ्कर का उदाहरण—यत्रेति। जिस श्लिष्ट काव्य में साक्षात् रूप से ही शब्दों द्वारा स्पष्टरूप से विरोध और श्लेष प्रतिपादित किया जाया करता है, उसमें वाच्यरूप विरोध तथा श्लेष के संकर की विषयता समझी जाया करती है। जैसे वहीं (हर्षचरित के उस ही प्रसङ्ग में):—

दधीच के सेवक विकुक्षि ने सावित्री से गायत्री के विषय में कहा—"यह गायत्री एकत्र सम्मिलित परस्पर विरोधी पदार्थों के समान अत्यधिक आश्चर्य एवं कुतूहलोत्पादक प्रतीत होती है, जैसे प्रतीत होता है "मानो अत्यन्त घने नूतन अन्धकार के पास देदीप्यमान सूर्य की ज्योति चमक रही हो" इस भाँति यद्यपि विरोध की प्रतीति होती है तथापि "समीपस्थ घोर अन्धकार की भाँति काले काले केशों के रहने पर भी वह अत्यधिक चमकीली कान्ति वाली है।" इस अर्थ की प्रतीति द्वारा उक्त विरोध दूर होकर विरोधाभस में परिवर्तित हो जाता है। यद्यपि यहाँ विरोध आदि का द्योतक 'अपि' शब्द नहीं है फिर भी 'विरोध' शब्द द्वारा विरोधालङ्कार स्पष्टरूप से बोधित हो रहा है। अतएव विरोधाभास तथा श्लेष दोनों वाच्यरूप से ही प्रतीत हो रहे हैं।

अथवा जैसे मेरा ही:—

अब संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिरूप विरोधाभास का स्वरचित उदाहरण देते हैं:—"जो सभी में एक का गृह है तथा गृह नहीं भी है तथा जो बुद्धिरहित हैं और बुद्धिमान भी हैं, जो हरे हैं और काले भी हैं, जो क्रिया-कुशल भी हैं और क्रियाशून्य भी हैं, जो चक्रनाशक हैं और चक्रधारी भी हैं। इस प्रकार के भगवान् को आपलोग नमस्कार करें, इस भाँति प्रतीत होने वाला विरोध क्रमशः "सभी जड़, चेतनों के प्रधान रक्षक तथा अविनाशी और अधिपति बलराम-कृष्ण, प्रद्युम्न-अनिरुद्ध—इन चारों के मूर्तिस्वरूप सुदर्शन चक्रधारी, शत्रुविनाशक भगवान् कृष्ण को तुम लोग प्रणाम करो। इन अर्थों के व्यञ्जना द्वारा प्रकट होने से विरोधाभास में परिणत हो जाता है। अतः उक्त अर्थ के वाचक शब्दों के होने से श्लेष के द्वारा परिपुष्ट होने वाला यह विरोधाभास संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण है।

उपर्युक्त उदाहरण में शब्दों के परिवर्तन कर देने पर उक्त अर्थ का बोध नहीं होता है। अतएव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिरूप विरोधाभास श्लेष से उत्थापित होकर शब्दशक्तिमूल व्यञ्जना द्वारा ही अभिव्यक्त होता है।

अब शब्दशक्तिमूल व्यञ्जना द्वारा व्यज्यमान व्यतिरेक का उदाहरण कहते हैं:—(खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति...इत्यादि)—

सूर्यदेव के अन्धकार के विनाशक जो किरणरूप चरण आकाश को अत्यधिकरूप से प्रकाशित करते हैं, जो चरणरूप से पाद नखों से सुशोभित तथा आकाश को उद्भासित न करने वाले हैं, जो सूर्य किरणरूप में कमलों की शोभा को भी पुष्ट करते हैं, और चरणरूप से कमलों की शोभा को तिरस्कृत करते हैं, जो पर्वतों की चोटियों पर सुशोभित होते हैं अथवा राजाओं के शिरों पर अवभासित होते हैं तथा (प्रणाम-काल में) जो देवताओं के शिरों का भी अतिक्रमण करते हैं, सूर्यदेव के दोनों प्रकार के पाद (किरण तथा चरणरूप) तुम सभी के लिये कल्याणकारी होवें।

इस भाँति शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के और भी (अलङ्कार और वस्तुरूप) प्रकार होते हैं। सहृदय जन उनका स्वयं अनुसन्धान कर लें। ग्रन्थ के विस्तारभय के कारण हमने यहाँ उनका प्रतिपादन नहीं किया है॥२१॥

लोचनम्

एवं विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनेः प्रथमं भेदमलक्ष्यक्रमं विचार्य द्वितीयं भेदं विभक्तुमाह—क्रमेणेत्यादि। प्रथमपादोऽनुवादभागो हेतुत्वेनोपात्तः। घण्टाया अनुरणनमभिधातजशब्दापेक्षया क्रमेणैवभाति। सोऽपीति। न केवलं मूलतो ध्वनिर्द्विविधः। नापि केवलं विवक्षितान्यपरवाच्यो द्विविधः। अयमपि द्विविध एवेत्यपिशब्दार्थः।।२०।।

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के प्रथम भेद अलक्ष्यक्रम का विचार करके दूसरे भेद को विभाजनार्थ कहते हैं—इसका जो० इत्यादि। प्रथम पाद अनुवाद, अनुवाद भाग हेतु रूप में उपात्त है (अर्थात् जिस कारण क्रम से प्रतीत होता है, उसी कारण 'अनुस्वान के सदृश' है। धष्टा का अनुरणन अभिघातजनित शब्द की अपेक्षा से क्रम से ही प्रतीत होता है। वह भी—। भी शब्द का अर्थ है कि न केवल मूलत: ध्वनि दो प्रकार का है, और न केवल विवक्षितान्यपरवाच्य दो प्रकार का है, यह (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि) भी दो प्रकार का ही है।

कारिकागतं हिशब्दं व्याचष्टे—यस्मादिति। अलङ्कारशब्दस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयति—न वस्तुमात्रमिति। वस्तुद्वये चेति। च शब्दस्तुशब्दस्यार्थे। येनेति। येन ध्वस्तं बालक्रीडायामनः शकटम्। अभवेनाजेन सता। बलिनो दानवानयो जयति तादृग्येन कायो वपुः पुरामृतहरणकाले स्त्रीत्वं प्रापितः। यश्चोद्वृत्तं समदं कालियाख्यं भुजङ्गं हतवान्। रवे शब्दे लयो यस्य। 'अकारो विष्णुः' इत्युक्तेः। यश्चागं गोवर्धनपर्वतं गां च भूमिं पातालगतामधारयत्। यस्य च नाम स्तुत्यमृषय आहुः किं तत्? शशिनं मथ्नातीति क्विप् राहुः, तस्य शिरोहरो मूर्धापहारक इति। स त्वां माधवो विष्णुः सर्वदः पायात्। की दृक्? अन्धकनाम्नां जनानां येन क्षयो निवासो द्वारकायां कृतः। यदि वा मौसले इषीकाभिस्तेषां क्षयो विनाशो येन कृतः। द्वितीयोऽर्थः—येन ध्वस्तकामेन सता बलिजितो विष्णोः सम्बन्धी कायः पुरा त्रिपुर-निर्दहनावसरेऽस्त्रीकृतः शरत्वं नीतः उद्वृत्ता भुजङ्गा एव हारा वलयाश्च यस्य, मन्दाकिनीं च योऽधारयत्, यस्य च ऋषयः शशिमच्चन्द्रयुक्तं शिर आहुः, हर इति च यस्य नाम स्तुत्यमाहुः, स भगवान्स्वयमेवान्धकासुरस्य विनाशकारी त्वां सर्वदा सर्वकालमुमाया धवो बल्लभः पायादिति। अत्र वस्तुमात्रं द्वितीयं प्रतीतं नालङ्कार इति श्लेषस्यैव विषयः। आक्षिप्तशब्दस्य कारिकागतस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुं चोद्येनोपक्रमते—नन्वलङ्कारेत्यादिना।

तस्या विनापीति। अपिशब्दोऽयं विरोधमाचक्षाणोऽर्थद्वयेऽप्यभिधाशक्तिं नियच्छति। हरतो हृदयमवश्यमिति हारिणौ। हारो विद्यते ययोस्तौ हारिणाविति। अतएव विस्मयशब्दोऽस्यैवार्थस्योपोद्बलकः। अपिशब्दाभावे तु न तत एवार्थद्वयस्यामिधा

स्यात्, स्वसौन्दर्यादेव स्तनयोर्विस्ययहेतुत्वोपपत्तेः। विस्मयाख्यो भाव इति दृष्टान्ताभिप्रायेणोपात्तम्। यथा विस्मयः शब्देन प्रतिभाति विस्मय इत्यनेन शब्देन तथा विरोधोऽपि प्रतिभात्यपीत्यनेन शब्देन। ननु किं सर्वथात्र ध्वनिर्नास्ति इत्याशङ्क्याह- अलक्ष्येति। विरोधेन वेति। वाग्रहणेन श्लेषविरोधसङ्करालङ्कारोऽयमिति दर्शयति। अनुग्रहयोगादेकतरत्यागग्रहणनिमित्ताभावो हि वाशब्देन सूच्यते। सुदर्शनं चक्रं करे यस्य। व्यतिरेकपक्षे सुदर्शनौ श्लाघ्यौ करावेव यस्य। चरणारविन्दस्य ललितं त्रिभुवनाक्रमणक्रीडनम्। चक्षुरूपं चक्षुर्धारयन्। वाच्यतयैवेति। स्वतनोरधिकामिति शब्देन व्यतिरेकस्योक्तत्वात्। भुजगशब्दार्थपर्यालोचनाबलादेव विषशब्दो जलमभिधायापि न विरन्तुमुत्सहते, अपि तु द्वितीयमर्थं हालाहललक्षणमाह। तदभिधानेन विनाभिधाया एवासमाप्तत्वात्। भ्रमिप्रभृतीनां तु मरणान्तानां साधारण एवार्थः। निराशीकृतत्वेन खण्डितानि यानि मानसानि शत्रुहृदयानि तान्येव काञ्चनपङ्कजानि। ससारत्वात् तैर्हेतुभूतैः। णिम्महिअपरिमला इति। प्रसृतप्रतापसारा अखण्डितवितरणप्रसरा बाहुपरिघा एव यस्य गजेन्द्रा इति। गजेन्द्रशब्दवशाच्च महिअशब्दः परिमलशब्दो दानशब्दश्च त्रोटनसौरभमदलक्षणानर्थान्प्रतिपाद्यापि न परिसमाप्ताभिधाव्यापाराभवन्तीत्युक्तरूपं द्वितीयमप्यर्थमभिदधत्येव।

कारिका में आये 'हि' (क्योंकि) शब्द की व्याख्या करते हैं:—

क्योंकि—। अलङ्कार शब्द का व्यवच्छेद्य दिखलाते हैं-न कि वस्तुमात्र—। और दो वस्तुओं के—। 'और' का अर्थ 'तो' है।

जिसने—। जिसने बचपन के खेल में शकट (नाम के असुर) का नाश किया। अभव अर्थात् अज अथवा अजन्मारूप में विद्यमान। बली दानवों को जो जीतने वाला है, उस अपने शरीर को जिसने पुराकाल में अर्थात् अमृतहरण के अवसर पर स्त्रीरूप बनाया जिससे उद्वृत्त गर्वीले कालिय नामक भुजङ्ग को मारा, ख अर्थात् शब्द में जिसका लय है, क्योंकि कहा है— 'अकार विष्णु हैं', जिसने अग अर्थात् गोवर्धन पर्वत को और पाताल में गई पृथ्वी को धारण किया, जिसका स्त्युत्य नाम ऋषिलोग कहते हैं वह क्या? शशी को मथन करने वाला राहु, उसका शिर हरण करने वाला अर्थात् मस्तक काट देने वाला'। वह सब कुछ देने वाले माधव विष्णु तुम्हारी रक्षा करें। वह कैसे हैं—जिसने अंधक नाम के लोगों को द्वारिका में बसाया, अथवा मौसल पर्व में यादवों का नाश करने वाले हैं। दूसरा अर्थ—काम को नष्ट करने वाले, जिसने बलि को जीतनेवाले विष्णु के शरीर को पुराकाल में अर्थात् त्रिपुरदाह के अवसर पर अस्त्र अर्थात् बाण बनाया, उद्वृत्त (लिपटे हुये) भुजङ्ग ही हैं हार और बलय जिसके, मन्दाकिनी (गङ्गा) को जिसने धारण किया, ऋषिलोग जिसके सिर को 'चन्द्रयुक्त' बतलाते हैं और 'हर' यह जिसका स्तुत्य नाम उच्चारण करते हैं, वह भगवान् स्वयमेव अन्धक नामक असुर के विनाशकर्ता, उमा के प्रिय सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें।' यहाँ दूसरा प्रतीत वस्तुमात्र अलङ्कार नहीं है, श्लेष का ही विषय है, कारिका में आये हुये 'आक्षिप्त' शब्द व्यवच्छेद्य दिखलाने के लिये पहले से उपक्रम करते हैं—शङ्का करते हैं—इत्यादि से।

उसके दोनों०—। यह 'भी' शब्द विरोध का अभिधान करता हुआ दोनों अर्थों में भी अभिधाशक्ति को अर्पित करता है, हृदय को अवश्य हरण करते हैं, अतएव 'विस्मय' शब्द इसी अर्थ का उपोदलक है। 'भी' शब्द के प्रभाव में तो उसी से दोनों अर्थों का अभिधान नहीं होता, बल्कि स्वगत सौन्दर्य से ही स्तनों का विस्मय हेतुत्व उपपन्न हो जाता। 'विस्मय नाम का भाव' यह दृष्टान्त के अभिप्राय से उपादान किया है। जैसे विस्मय 'विस्मय' शब्द से प्रतीत होता है, 'उस प्रकार विरोध भी' 'भी' (अपि) इस शब्द से प्रतीत होता है। क्या सर्वथा यहाँ ध्वनि नहीं है? यह आशङ्का करके कहते हैं—अलक्ष्य०—। अथवा विरोध से—। 'अथवा' ('वा') ग्रहण से 'यह श्लेष और विरोध का सङ्कर अलङ्कार' है, यह दिखलाते हैं, अनुग्रह के योग से (अर्थात् अनुग्राह्यानुग्राहक भाव के कारण) किसी एक के त्याग और ग्रहण के निमित्त का अभाव 'वा' शब्द से सूचित किया है। सुदर्शन चक्र जिसके हाथ में है। व्यतिरेक-पक्ष में सुदर्शन अर्थात् श्लाघ्य दोनों हाथ ही हैं जिसके चरणारविन्द का त्रिभुवन के आक्रमण का ललित खेल। चन्द्ररूप चक्षु को धारण करता हुआ। वाच्यरूप से ही—। क्योंकि 'अपने शरीर से अधिक' यह कहने से व्यतिरेक उक्त हो गया है। 'भुजंग' शब्द के अर्थ की पर्यालोचना के बल से ही 'विष' शब्द 'जल' का अभिधान करके विराम लेने के लिये उत्साहित नहीं होता, अपितु हलाहलरूप दूसरे अर्थ को भी अभिधान करता है। क्योंकि उसके अभिधान के बिना अभिधा समाप्त ही नहीं होती। चक्कर आदि से लेकर मरण तक का शब्दों का अर्थ साधारण ही है। निराश होने के कारण खण्डित जो मानस अर्थात् शत्रु के हृदय वहीं है सुवर्ण-कमल। सारयुक्त होने के कारण हेतुभूत उनसे। निर्मथित करने वाले परिमल से युक्त—। जिनके प्रतापबल फैल चुके हैं, अखण्डित दान-प्रसर वाले जिसके बाहुदण्ड ही गजेन्द्र अर्थात् हाथी हैं। 'गजेन्द्र' शब्द के कारण 'चमहिअ' ('खण्डित') शब्द, परिमल शब्द और 'दान' शब्द 'तोड़ना' 'सौरभ' और 'मद' रूप अर्थों का प्रतिपादन करके भी परिसमाप्त अभिधाव्यापार वाले नहीं होते, अतएव उक्तरूप द्वितीय अर्थ का अभिधान करते ही हैं।

एवमाक्षिप्तशब्दस्य व्यवच्छेद्यं प्रदर्श्यैवकारस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुमाह–स चेति। उभयार्थप्रतिपादनशक्तशब्दप्रयोगे, यत्र तावदेकतरविषयनियमनकारणमभिधाया नास्ति, यथा–'येन ध्वस्तमनोभवेन' इति। यत्र वा प्रत्युत द्वितीयाभिधाव्यापार सद्भावावेदकं प्रमाणमस्ति, यथा 'तस्या विना' इत्यादौ, तत्र तावत्सर्वथा 'चमहिअ' इत्यन्ते। सोऽर्थोऽभिधेय एवेति स्फुटमदः। यत्राप्यभिधाया एकत्र नियमहेतुः प्रकरणादिर्विद्यते तेन द्वितीयस्मिन्नर्थे नाभिधा सङ्क्रामति, तत्र द्वितीयोऽर्थोऽसावाक्षिप्त इत्युच्यते; तत्रापि यदि पुनस्तादृक् शब्दो विद्यते येनासौ नियामकः प्रकरणादिरपहतशक्तिकः सम्पाद्यते। अतएव साभिधाशक्तिर्बाधितापि सती प्रतिप्रसूतेव तत्रापि न ध्वनेर्विषय इति तात्पर्यम्। च शब्दोऽपिशब्दार्थे भिन्नक्रमः आक्षिप्तोऽप्याक्षिप्ततया झटिति सम्भावयितुमारब्धोऽपीत्यर्थः। न त्वसावाक्षिप्तः, किं तु शब्दान्तरेणान्येनाभिधायाः प्रतिप्रसवनादभिहितस्वरूपः सम्पन्नः। पुनर्ग्रहणेन प्रतिप्रसवं व्याख्यातं सूचयति। तेनैवकार आक्षिप्ताभासं निराकरोतीत्यर्थः।

हे केशव, गोधूलिहृतया दृष्ट्या न किञ्चिद् दृष्टं मया तेन कारणेन स्खलितास्मि मार्गे। तां पतितां सतीं मां किं नाम कः खलु हेतुर्यन्नालम्बसे हस्तेन। यतस्त्वमेवैकोऽतिशयेन बलवान्निम्नोन्नतेषु सर्वेषामबलानां बालवृद्धाङ्गनादीनां खिन्नमनसां गन्तुमशक्नुवतां गतिरालम्बनाभ्युपाय इत्येवंविधेऽर्थे यदप्येते प्रकरणेन नियन्त्रिताभिधाशक्तयः शब्दास्तथापि द्वितीयेऽर्थेव्याख्यास्यमानेऽभिधाशक्तिर्निरुद्धा सती सलेशमित्यनेन प्रत्युज्जीविता। अत्र सलेशं ससूचनमित्यर्थः, अल्पीभवनं हि सूचनमेव। हे केशव! गोपस्वामिन्! रागहृतया दृष्ट्येति। केशवगेन उपरागेण हृतया दृष्ट्येति वा सम्बन्धः। स्खलितास्मि खण्डितचरित्रा जातास्मि। पतितामिति भर्तृभावं मां प्रति। एक इत्यसाधारणसौभाग्यशाली त्वमेव। यतः सर्वासामबलानां मदनविधुरमनसामीर्ष्याकालुष्यनिरासेन सेव्यमानः सन् गतिः जीवितरक्षोपाय इत्यर्थः। एवं श्लेषालङ्कारस्य विषयमवस्थाप्य ध्वनेराह–यत्र त्विति। कुसुमसमयात्मकं यद्युगं मासद्वयं तदुपसंहरन्। धवलानि हृद्यान्यट्टान्यापणा येन तादृक् फुल्लमल्लिकानां हासो विकासः सितिमा यत्र। फुल्लमल्लिका एव धवलाट्टहासोऽस्येति तु व्याख्याने 'जलदभुजगजम्' इत्येतत्तुल्यमेतत्स्यात्। महांश्चासौ दिनदैर्ध्यदुरतिवाहतायोगात्कालः समयः। अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तयः, अत एव 'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकालप्रभृतयः शब्दा एतमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात्।

इस भाँति 'आक्षिप्त' शब्द के व्यवच्छेद्य को दिखलाकर 'एव' कार ('ही') का व्यवच्छेद्य दिखलाने के लिये कहते हैं—और वह—। दो अर्थों के प्रतिपादन में शक्त (समर्थ) शब्द के प्रयोग करने पर, जहाँ किसी एक विषय में अभिधा के नियमन का कारण नहीं है। जैसे:—'येन ध्वस्तमनोभवेन०'। अथवा जहाँ दूसरे अभिधाव्यापार के सद्भाव का आवेदक प्रमाण है जैसे:—तस्य विना०—इत्यादि में वहाँ सर्वथा 'चमहिअ०' तक। यह अर्थ अभिधेय ही है, यह बात स्पष्ट है। जहाँ भी एक जगह प्रकरण आदि अभिधाका नियमहेतु है, उसके कारण दूसरे अर्थ में अभिधा सङ्क्रान्त नहीं होती है, वहाँ दूसरा वह अर्थ 'आक्षिप्त' कहा जाता है, और वहाँ पर भी यदि फिर उस प्रकार का शब्द है जिससे वह नियामक प्रकरण आदि अपहतशक्ति कर दिया जाता है, अतएव वह अभिधाशक्ति बाधित होकर भी प्रतिप्रसूत की भाँति हो जाती है, वहाँ भी ध्वनि का विषय नहीं है, यह तात्पर्य है। 'और' ('च') शब्द 'भी' ('अपि') शब्द के अर्थ में भिन्नक्रम है,अर्थात् आक्षिप्त भी, आक्षिप्तरूप भी झटिति सम्भावना किया जाता हुआ भी। 'फिर' ('पुनः') ग्रहण से व्याख्यात् 'प्रतिप्रसव' को सूचित करता है। अर्थात् इससे 'एवकार' ('ही' का प्रयोग) आक्षिप्ताभास का निराकरण करता है।

'हे केशव गौओं की (उड़ाई हुई) धूल से दृष्टि के अवरुद्ध (हत) हो जाने से मैंने कुछ नहीं देखा, इस कारण मार्ग में गिर पड़ी हूँ। उस पतिता (गिरी हुई) मुझको क्यों नहीं,अर्थात् क्या कारण है कि हाथ से अवलम्बन नहीं करते हो? क्योंकि तुम ही एक अतिशय करके बलवान्, हो निम्नोन्नत (नीचा-ऊँचा) स्थानों में सभी बाल, वृद्ध, अङ्गना आदि सभी खिन्न मन

वाले अर्थात् गमन् करने में असमर्थ अबलों की गति अर्थात् आलम्बन् के उपाय हो।' इस प्रकार के अर्थ में यद्यपि ये शब्द प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित अभिधाशक्ति वाले हैं, तथापि व्याख्यान किये जाने वाले दूसरे अर्थ में अभिधाशक्ति निरुद्ध होकर 'सलेश' इसके द्वारा पुनः उज्जीवित कर दी गई। यहाँ सलेश अर्थात् सूचन, क्योंकि अल्प होना सूचन ही है। 'हे केशव, गोप, स्वामिन्, राग के कारण हरी हुई दृष्टि से'—। अथवा सम्बन्ध यह कि केशव में गये उपराग के कारण हरी हुई (हृत) दृष्टि से। स्खलित हो गई हूँ (गिर पड़ी हूँ) अर्थात् मेरा चरित्र खण्डित हो चुका है। पतिता अर्थात् मेरे प्रतिभर्तृभाव। एक अर्थात् असाधारण सौभाग्यशाली तुम्हीं हो। क्योंकि सभी मदन से विधुरमनवाली अबलाओं के ईर्ष्याकालुष्य का निरासपूर्वक सेवा किये गये होते हुये (तुम) गति अर्थात् जीवितरक्षा का उपाय हो। इस प्रकार श्लेष अलङ्कार का विषय अवस्थापन करके ध्वनि का विषय कहते हैं—जहाँ—। पुष्पसमयरूप जो युग अर्थात् (वसन्त के) दो महीने उनका उपसंहार करता हुआ। धवल अर्थात् हृद्य अट्ट अर्थात् आपण (अट्टालिकाएँ) हैं जिससे, उस प्रकार का विकसित मल्लिकाओं (जुही के फूलों) का हास अर्थात् विकास (सितिमा) है जहाँ। 'विकसित मल्लिका ही हैं इसका धवल अट्टहास' यह व्याख्यान करने पर 'जलदभुजगजं०' के सदृश यह हो जायगा। दिनों के बड़े होने और दुरतिवाह होने के कारण महान् काल अर्थात् समय। यहाँ ऋतुवर्णन के प्रस्ताव के कारण अभिधाशक्ति के नियन्त्रित हो जाने से, इसीलिये 'अवयव-प्रसिद्धि से समुदाय-प्रसिद्धि बलवान् होती है' इस न्याय का निराकरण करते हुये 'महाकाल' प्रभृति शब्द इसी अर्थ का अभिधान करके कृतकृत्य ही हो जाते हैं। तत्पश्चात् अर्थ का ज्ञान शब्दशक्तिमूल ध्वननव्यापार से ही होता है।

अत्र केचिन्मन्यन्ते–यत् एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं दृष्टं ततस्तथाविधेऽर्थान्तरे दृष्टतदभिधाशक्तेरेव प्रतिपत्तुर्नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्य एतेभ्यः प्रतिपत्तिर्ध्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्तिमूल त्वंव्यङ्ग्यत्वं 'चेत्यविरुद्धम्' इति।

अन्ये तु–'साभिधैव द्वितीया अर्थ सामर्थ्यं ग्रीष्मस्य भीषणदेवताविशेषसादृश्यात्मकं सहकारित्वेन यतोऽवलम्बते ततो ध्वननव्यापाररूपोच्यते' इति।

एके तु–'शब्दश्लेषे तावद्भेदे सति शब्दस्य, अर्थश्लेषेऽपि शक्तिभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने द्वितीयः शब्दस्तत्रानीयते। स च कदाचिदभिधाव्यापारात्. यथोभयोरुत्तरदानाय 'श्वेतो धावति' इति; प्रश्नोत्तरादौ वा तत्र वाच्यालङ्कारता। यत्र तु ध्वननव्यापारादेव शब्द आनीतः, तत्र शब्दान्तरबलादपि तदर्थान्तरं प्रतिपन्नं प्रतीयमानमूलत्वात्प्रतीयमानमेव युक्तम्' इति।

इतरे तु–'द्वितीयपक्षव्याख्याने यदर्थसामर्थ्यं तेन द्वितीयाभिधैव प्रतिप्रसूयते, ततश्च द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत एव न ध्वन्यते, तदनन्तरं तु तस्य द्वितीयार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन साकं या रूपणा सा तावद्भात्येव, न चान्यतः शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात्। तत्राभिधाशक्तेः कस्याश्चिदप्य नाशङ्कनीयत्वात्। तस्यां च द्वितीया शब्दशक्तिर्मूलम्। तया विना रूपणाया अनुत्थानात् । अत एवालङ्कारध्वनिरयमिति

युक्तम्। वक्ष्यते च 'असम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीत्' इत्यादि। पूर्वत्र तु सलेशपदेनैवासम्बद्धता निराकृता। 'येन ध्वस्त' इत्यत्रासम्बद्धता नैव भाति। 'तस्या विनापि' इत्यत्रापिशब्देन 'श्लाघ्या' इत्यत्राधिकशब्देन 'भ्रमिम्' इत्यादौ च रूपकेणासम्बद्धता निराकृतेति तात्पर्यम्। पयोभिरिति पानीयैः क्षीरैश्च। संहारो ध्वंसः, एकत्र ढौकनं च। गावो रश्मयः सुरभयश्च।

असम्बर्थाभिधायित्वमिति। असंवेद्यमानमेवेत्यर्थः। उपमानोपमेयभाव इति। तेनोपमारूपेण व्यतिरेचननिह्नवादयो व्यापारमात्ररूपा एवात्रास्वादप्रतीतेः प्रधानं विश्रान्तिस्थानं, न तूपमेयादीति सर्वत्रालङ्कारध्वनौ मन्तव्यम्। सामर्थ्यादिति। ध्वननव्यापारादित्यर्थः।

मातङ्गेति। मातङ्गवद्गच्छन्ति तान् शबरांश्च गच्छन्तीति विरोधः। विभवेषु रताः विगतमहादेवे स्थाने च रताः। पद्मरागरत्नयुक्ताः पद्मसदृशलौहित्ययुक्ताश्च। धवलैर्द्विजैर्दन्तैः शुचि निर्मलं वदनं यासां धवलद्विजवदुत्कृष्टविप्रवच्छुचि वदनं च यासाम्। यत्र हीति। यस्यां श्लेषोक्तौ काव्यरूपायां, तत्र यो विरोधः श्लेषोवेति सङ्करः तस्य विषयत्वम्। स विषयो भवतीत्यर्थः। कस्य? वाच्यालङ्कारस्य वाच्यालङ्कृतेः वाच्यालङ्कृतित्वस्येत्यर्थः। तत्रैव विरोधे श्लेषे वा वाच्यालङ्कारत्वं सुवचमिति यावत्। वालेषु केशेष्वन्धकारः काष्र्ण्यं, बालः प्रत्यग्रश्चान्धकारस्तमः।

ननु मातङ्गेत्यादावपि धर्मद्वये यश्चकारः स विरोधद्योतक एव। अन्यथा प्रतिधर्मं सर्वधर्मान्ते वा न क्वचिद्वा चकारः स्यात् यदि समुच्चयार्थः स्यादित्यभिप्रायेणोदाहरणान्तरमाह–यथेति। शरणं गृहमक्षयरूपमगृहं कथम्। यो न धीशः स कथं धियामीशः। यो हरिः कपिलः स कथं कृष्णः। चतुरः पराक्रमयुक्तो यस्यात्मा स कथं निष्क्रियः। अरीणामरयुक्तानां यो नाशयिता स कथं चक्रं बहुमानेन धारयति। विरोध इति। विरोधनमित्यर्थः। प्रतीयत इति। स्फुटंनोच्यते केनचिदिति भावः। नखैरुद्भासन्ते येऽवश्यं खे गगने न उद्भासन्ते। उभये रश्म्यात्मानोऽङ्गुलीपाष्र्ण्याद्यवयविरूपाश्चेत्यर्थः।।२१।।

यहाँ कुछ लोग मानते हैं:—'जिस कारण इन शब्दों का पहले अर्थ में अभिधा देखी गई है, उस कारण उस प्रकार के अर्थान्तर में, उसी प्रतिपत्ता को, जिसने उनकी अभिधाशक्ति का दर्शन किया है, नियन्त्रित अभिधाशक्ति वाले इन (शब्दों) से ध्वननव्यापार द्वारा ही ज्ञान होता है, इस भाँति शब्दशक्तिमूलत्व और व्यङ्ग्यत्व दोनों ठीक हैं'।

दूसरे तो (मानते हैं) 'वह दूसरी अभिधा ही सहकारी रूप से ग्रीष्म के, भीषण देवताविशेष रूप सादृश्यात्मक अर्थ सामर्थ्य को जिस कारण अवलम्बन करती है, उस कारण ध्वननरूप कही जाती है'।

कुछ अन्य लोग तो मानते हैं:—शब्दश्लेष में शब्द के भेद होने पर और अर्थश्लेष में भी 'शक्तिभेद से शब्द का भेद होता है', इस दर्शन (सिद्धान्त) के अनुसार दूसरा शब्द वहाँ लाया जाता है। वह (दूसरा शब्द) कभी अभिधाव्यापार से (लाया जाता है) जैसे:—दोनों के

उत्तर देने के लिये 'श्वेतोधावति' (कौन इधर दौड़ता है और कैसे गुण वाला इधर दौड़ता है? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर देने के लिये एक ही वाक्य का प्रयोग किया 'श्वेतो धावति' अर्थात् श्वा-कुत्ता इधर दौड़ता है और उजला दौड़ता है) अथवा प्रश्न और उत्तर आदि में (श्लेष) वाच्यालङ्कार हो जाता है। किन्तु जहाँ ध्वनन व्यापार से ही शब्द लाया गया है, वहाँ शब्दान्तर के बल से भी प्रतिपन्न वह अर्थान्तर प्रतीयमानमूल होने के कारण प्रतीयमान ही ठीक है।'

इधर लोग़ तो मानते हैं:—'दूसरे पक्ष के व्याख्यान में जो अर्थसामर्थ्य है उससे दूसरी अभिधा ही प्रतिप्रसूत होती है, और तब दूसरा अर्थ अभिहित ही होता है, ध्वनित नहीं होता है। तदनन्तर प्रतिपन्न उस दूसरे अर्थ का पहले प्राकरणिक अर्थ के साथ जो रूपणा है, वह प्रतीत होती ही है, वह अन्य शब्द से नहीं है। अत: वह ध्वनन व्यापार से होती है क्योंकि उसमें किसी भी अभिधाशक्ति की आशङ्का नहीं की जा सकती। उस (रूपणा) में दूसरी शब्दशक्ति मूल है क्योंकि उसके बिना रूपणा का उत्थान नहीं होगा। अतएव यह अलङ्कारध्वनि है, यह ठीक है। और कहेंगे 'असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला होना प्रसक्त न हो' इत्यादि। पहले ये तो 'सलेश' इस पद से ही (वाक्य की) असम्बद्धार्थता का निराकरण कर दिया है। 'येन ध्वस्त' इस (पद्य) में असम्बद्धार्थता प्रतीत नहीं होती है। 'तस्या विनापि०' इसमें 'अपि' शब्द से, 'श्लाघ्याशेष०' इसमें 'अधिक' शब्द से और 'भ्रमिय०' इत्यादि में रूपक से असम्बद्धता का निराकरण कर दिया है, यह तात्पर्य है। 'पयोभि:' अर्थात् पानी और क्षीर। संहार अर्थात् ध्वंस, एक जगह जुट जाना। 'गौ' अर्थात् (सूर्य की) किरणें और सुरभि (गाय)।

असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला होना—। अर्थात् जो संवेद्यमान ही नहीं। उपमानोपमेयभाव—। उस उपमारूप से व्यापारमात्ररूप ही व्यतिरेचन, निह्नव आदि आस्वादप्रतीति के प्रधान विश्रान्ति स्थान हैं, न कि उपयेय आदि। यह सब अलङ्कारध्वनि में मानना चाहिये। समर्थ्यवश—। अर्थात् ध्वननव्यापार से।

मातङ्ग—। मातङ्ग के समान गमन करती है और उन शबरों अर्थात् चाण्डालों का गमन करती है, यह विरोध है। विभवों में रत और विगतमहादेव में रत। पद्मरागरत्न से युक्त और पद्म के सदृश लौहित्य से युक्त। धवल द्विज अर्थात् दाँतों से शुचि अर्थात् निर्मल मुख है जिनका और धवल द्विज के समान अर्थात् उत्कृष्ट विप्र के सदृश शुचि मुख है जिनका। जिस काव्यरूप श्लेषोक्ति में, वहाँ विरोध अथवा श्लेष का सङ्कर है उसका विषय है, अर्थात् वह विषय होता है। किसका? वाच्यालङ्कार का अर्थात् वाच्यालङ्कृति का, वाच्यालङ्कृतित्व का। वहीं विरोध में अथवा श्लेष में वाच्यालङ्कारत्व सुतरां कहा जा सकता है। बालों अर्थात् केशों के कारण अन्धकार अर्थात् कृष्णिमा और प्रत्यग्र अन्धकार अर्थात् तमस्।

ननु मातङ्ग०—इत्यादि स्थल में भी जो दो धर्मों में 'और' (चकरा) है वह विरोध का द्योतक ही है, यदि ऐसा नही तो प्रतिधर्म में अथवा सभी धर्मों के अन्त में अथवा कहीं भी 'और' (चकार) नहीं होता, यदि समुच्चय के अर्थ में रहा होता, इस अभिप्राय से दूसरा उदाहरण कहते हैं:—जैसे—। शरण अर्थात् गृह अक्षय रूप अगृह कैसे? जो धीश (बुद्धियों का स्वामी) नहीं; वह बुद्धियों का स्वामी (धियामीश) कैसे? जो हरि अर्थात् कपिल है वह कृष्ण कैस? चतुर अर्थात् पराक्रम जिसकी आत्मा है वह निष्क्रिय कैसे है? अरियों अर्थात् अर्

(चक्र) युक्तों का जो नाश करने वाला है वह किस भाँति चक्र को बहुमानपूर्वक धारण करता है? नखों से उद्भासित हैं, जो ख अर्थात् आकाश में उद्भासित नहीं हैं। दोनों (पाद) अर्थात् किरणरूप और अङ्गुलि, पाष्णि आदि अवयवों वाले॥२१॥

मंजूआशुबोधिनी

अब संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का निरूपण किया जाता है:—

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होने से अनुस्वान् के सदृश क्रम से प्रतीत होने वाला जो दूसरा स्वरूप (आत्मा) है वह भी शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल भेदों से दो प्रकार का है॥२०॥

अनुस्वान–घण्टा बज जाने के पश्चात् भी कुछ ध्वनि क्रमशः कुछ समय तक सुनाई देती रहा करती है। इसी को अनुस्वान अथवा अनुरणन कहा जाया करता है। विवक्षितान्य पर वाच्यध्वनि का दूसरा भेद है संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि। कहने का अभिप्राय यह है कि इसमें वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का क्रम अनुस्वान के समान स्पष्टरूप से प्रतीत हुआ करता है। अर्थात् वाच्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् अनुस्वान के सदृश ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हुआ करती है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के दो भेद–(१) शब्दशक्तिमूलक (२) अर्थ-शक्तिमूलक। शब्दशक्तिमूलकध्वनि वहाँ होती है कि जहाँ वाच्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् अनुस्वान के समान दूसरे अर्थ की प्रतीति भी बाद में हुआ करती है।

ऐसी स्थिति में यह शङ्का उत्पन्न होती है शब्दशक्ति से दो अर्थोंकी प्रतीति तो श्लेष अलङ्कार में भी हुआ करती है। जहाँ द्वितीय अर्थ की प्रतीति शब्दशक्ति से हुआ करती है उसे आप श्लेष न कहकर शब्दशक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि कह रहे हैं। ऐसी स्थिति में श्लेष का अवसर कहाँ रहेगा?

श्लेषालङ्कार तथा शब्दशक्त्युत्थध्वनि का भेद–जिन स्थलों पर वाच्यरूप में वस्तुद्वय की शब्दशक्ति से प्रतीति हुआ करती है वहाँ श्लेष अलङ्कार तथा उससे भिन्न जहाँ अलङ्कार की शब्दशक्ति से प्रतीति हुआ करती है वहाँ ध्वनि होगी। इसी का कारिका (२१) द्वारा कथन करते हैं:—

(शङ्का—) शब्दशक्ति द्वारा जहाँ दूसरे अर्थ की प्रतीति हुआ करती है वहाँ यदि ध्वनि के प्रकार को माना जायगा तो फिर श्लेष का विषय ही लुप्त हो जायगा।

(समाधान—) नहीं लुप्त होगा, इसी बात को कहते हैं:—

जहाँ शब्द से अनुक्त (साक्षात्संकेतित होने पर भी) आक्षेप सामर्थ्य से ही शब्दशक्ति द्वारा अलङ्कार की प्रतीति हुआ करती है उसे शब्दशक्तुद्भव ध्वनि कहा जाता है॥२१॥

कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ अलङ्कार शब्दशक्ति से आक्षिप्त होकर प्रकाशित हुआ करता है वहीं पर शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि हुआ करती है। तथा जहाँ दो वस्तु शब्दशक्ति (अभिधा) से प्रकाशित हों वहाँ श्लेष होगा। जैसे:—

("येन ध्वस्तमनोभवेन" इत्यादि श्लोक में श्लेष के कारण विष्णु तथा शिव दोनों अर्थों

की प्रतीति होती है। सभी विशेषण दोनों अर्थों के ज्ञापक हैं। विष्णु पक्ष में—) 'येन अभवेन'—जिस अजन्मा विष्णु ने 'अनः ध्वस्तं' बाल्यकाल में 'अनः' अर्थात् शकट अर्थात् बच्चों की गाड़ी अथवा शकटासुर को नष्ट कर दिया, 'पुरा' पहले अमृतहरण के समय 'बलिजित्' राजा बलि को अथवा बलवान् दैत्यों को जीतने वाले शरीर को (मोहिनीरूप) स्त्री बना डाला तथा जो मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले 'कालियनाग' के हन्ता हैं, जिनके अन्दर 'रव'—वेद का लय होता है अथवा 'रवे शब्दे लयो यस्य' 'अकारो विष्णु' अकाररूप शब्द में जिसका लय होता है, जिन्होंने 'अंग'—गोवर्धन पर्वत और 'गां' बराहावतार में पृथ्वी को धारण किया। जो 'शशिनं मारनातीति शशिमथ'—राहु, के शिर को काटने वाले हैं, अतएव देवगण 'शशिमच्छिऐहर' यह स्तुत्य नाम लिया करते हैं। अन्धक अर्थात् यादवों का द्वारिका में नाश कराने वाले और जो मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले 'माधव'—विष्णु तुम्हारी रक्षा करें।

(शिव पक्ष में—) 'ध्वस्तः मनोभवः कामो येन सः ध्वस्तमनोभवः' कामदेव के विनाशक, जिस शङ्कर ने 'पुरा'—त्रिपुरदाह के समय 'बलिजित्कायाः' विष्णु के शरीर को 'अस्त्रीकृतः' बाण बनाया, जो भयङ्कर भुजङ्गों—सर्पों को हार तथा बलय के रूप में धारण करते हैं, जो गङ्गा को धारण किये हुये हैं, जिनका शिर शशि—चन्द्रमा से युक्त है और देवगण जिनका स्तुत्य 'हर' नाम लिया करते हैं, अन्धकासुर के विनाशक वे 'उमाधव'—पार्वती के पति शिव सदैव तुम्हारी रक्षा करें।

इस स्थल पर दोनों अर्थ वस्तुरूप हैं तथा अभिधाशक्ति द्वारा प्रकाशित हैं। अतएव 'श्लेषालङ्कार' है। यह शब्द शक्त्युत्थ ध्वनि नहीं है। (पूर्व पक्षी द्वार शङ्का—) भट्टोद्भट ने केवल वस्तुद्वय की प्रतीति में ही नहीं अपितु दूसरे अलङ्कार की प्रतीति होने पर भी श्लेष दिखलाया है। ऐसी स्थिति में शब्दशक्तिमूलध्वनि का कोई अवसर नहीं रहता है।

(समाधान—) इसी आशङ्का की दृष्टि से करिकाकार ने 'आक्षिप्तः' इस पद का प्रयोग किया है। इसका यह अर्थ हुआ कि जहाँ शब्दशक्ति से साक्षात् वाच्यरूप में दूसरे अलङ्कार की प्रतीति हो वह सब श्लेष का विषय होगा और जहाँ शब्दशक्ति के बल से आक्षिप्त वाच्यार्थ से भिन्न, व्यङ्ग्यरूप से ही दूसरे अलङ्कार की प्रतीति हो वह ध्वनि का विषय होगा।—

शब्दशक्ति से साक्षात् (वाच्यरूप से भी) दूसरे (अन्य) अलङ्कार की प्रतीति के होने का उदाहरण है। जैसे—

हार के बिना भी स्वभाव से ही (मनो) हारी उसके स्तन किस के मन में आश्चर्य (विस्मय) पैदा नहीं करते हैं?

इस उदाहरण में शृङ्गार रस का संचारीभाव 'विस्मय' (विस्मय शब्द से) और (अपि शब्द से) विरोधालङ्कार (दोनों) साक्षात् (वाच्यरूप में) प्रतीत होते हैं। अतएव विरोध की छाया से अनुगृहीत यह श्लेष का विषय है, अनुस्वानसन्निभ (संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यध्वनि) का विषय नहीं है। किन्तु (प्रस्तुत पद्य में श्लेष तथा विरोध का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर होने से) वाच्यश्लेष अथवा विरोध-अलङ्कार से अभिव्यक्त असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का तो प्रस्तुत पद्य विषय है ही।

दूसरे अलङ्कार के वाच्यतया प्रतीत होने सम्बन्धी अन्य उदाहरण—जैसे मेरा ही—

"जिनका केवल हाथ ही सुन्दर (सुदर्शनकरः) है (अथवा सुदर्शनचक्रयुक्त हाथ के होने से सुदर्शनकर—विष्णु), जिन्होंने मात्र चरणकमल की सुन्दरता से (अथवा चरणविक्षेप से) तीनों भुवनों को आक्रान्त किया है और जो चन्द्ररूप से केवल नेत्र को धारण करते हैं अथवा जिनका केवल एक नेत्र ही चन्द्ररूप है, इसप्रकार के विष्णु ने सम्पूर्ण शारीरिक अङ्गों में व्याप्त सौन्दर्य से तीनों लोकों पर विजय करने वाली तथा चन्द्रमा के समान मुख को धारण करने वाली जिन (रुक्मिणी देवी) को उचितरूप में ही अपने शरीर से ही उत्कृष्ट देखा, ऐसी रुक्मिणी देवी तुम सभी की रक्षा करें।

इस उदाहरण में व्यतिरेक की छाया को परिपुष्ट करने वाला श्लेष ('स्वतनोरपश्यदधिकाम्' इस पद से) ही वाच्यरूप में ही प्रतीत हो रहा है।

(इसी भाँति का तृतीय उदाहरण) जैसे—

मेघरूप सर्प से उत्पन्न विष (जल और जहर (ये दोनों ही विष के वाच्यार्थ हैं)) वियोगिनियों के चक्कर, उदासीनता, बेचैनी, अलसहृदयत्व, मूर्च्छा, अन्धेरा, शरीर का ऐंठन तथा मरण हठपूर्वक कर डालता है।

(प्रकरण आदि द्वारा नियन्त्रित हो जाने पर तो अभिधाशक्ति एक अर्थ का ही बोधन करती हैं किन्तु प्रस्तुत पद्य में तो भुजग शब्द भी विद्यमान है, अतएव अभिधाशक्ति मात्र जलरूप अर्थ का बोधन करके विश्रान्त न होकर दोनों ही अर्थों का बोधन कराती है। इसी आधार पर नूतन मतानुसार यहाँ शब्दश्लेष तथा प्राचीन मतानुसार अभङ्गश्लेषअर्थश्लेष- हैं नूतन मत के आधार पर 'भ्रमिमरतिम्' आदि पदों में 'स्तोकेनोन्नतिमायाति' आदि के सदृश अर्थश्लेष है। 'जलदभुजग' में रूपक है। इस भाँति रूपक तथा रूपकच्छायानुग्राही श्लेष दोनों की प्रतीति वाच्यतया हो रही है। अतएव यह स्थल भी श्लेष का ही है, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का नहीं।)

अथवा जैसे—

(खण्डितमानस० इत्यादि—) निराश शत्रुओं के मानसरूप सुवर्ण-कमल को निर्मथित करने वाले अपने यशरूप सुगन्धि से युक्त, निरन्तर दान देने वाले जिस (राजा) के भुजदण्ड, मानसरोवर के सुवर्ण कमलों को खण्डित करने से उनकी सुगन्धि से युक्त तथा निरन्तर मद-जल प्रवाहित करने वाले हाथियों के समान हैं।

उपर्युक्त दोनों पद्यों में रूपक की छाया का अनुग्राहक श्लेष वाच्यरूप से ही प्रतीत होता है।

प्रस्तुत (खण्डित० इत्यादि) उदाहरण में 'गजेन्द्राः' शब्द के कारण 'निर्मथित', 'परिमल' और 'दान' शब्द क्रमशः तोड़ने, सुगन्धि तथा मदजलरूप अर्थों का प्रतिपादन करके भी, फैलाने, यशःपरिमल तथा दान अर्थों को भी बोधित करते हैं। अतः ये सब श्लेष के ही विषय हैं, शब्दशक्तिमूलध्वनि के नहीं।

उपर्युक्त इक्कीसवीं कारिका में शब्दशक्तिमूलध्वनि का विषय निर्धारित किया गया है। जिन स्थलों पर अलङ्कार वाच्य न हो अपितु आक्षिप्त शब्दसामर्थ्य से व्यङ्ग्य हो वहाँ 'शब्दशक्तिमूलध्वनि' का विषय हुआ करता हैं।

सभी भाषाओं में बहुत से शब्द अनेकार्थक हुआ करते हैं किन्तु वे अधिकांश स्थलों पर 'प्रकरण' आदि की दृष्टि से एक ही अर्थ का बोधन कराया करते हैं। इसका कारण उनका प्रकरण आदि द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाना ही है।

जिन स्थलों पर अनेकार्थक शब्द का प्रयोग तो हो किन्तु उसके एकार्थ में नियन्त्रित हो जाने सम्बन्धी प्रकरण आदि कारणों में से कोई कारण उपस्थित न हो तो वहाँ शब्द के दोनों ही अर्थ वाच्य हुआ करते हैं। जैसे—'येन ध्वस्तमनोभवेन०' इत्यादि श्लोक में एक अर्थ का नियामक हेतु न होने से दोनों ही अर्थ वाच्यतया प्रतीत होते हैं। अतएव वहाँ श्लेष का ही विषय माना जाया करता है, शब्द-शक्तिमूलध्वनि का नहीं, क्योंकि वहाँ कोई अर्थ आक्षिप्त नहीं है, दोनों ही अर्थ वाच्य हैं।

इसके अलावा जहाँ द्वितीय अर्थ का बोधन कराने में कोई साधन प्रमाण विद्यमान् हैं वहाँ दूसरे अर्थ की प्रतीति अभिधा से ही हुआ करती है। उपर्युक्त चारों उदाहरणों में श्लेषालङ्कार है, शब्दशक्तिमूलध्वनि नहीं।

इसके अतिरिक्त जहाँ अभिधा का नियामक हेतु होने पर भी प्रबल बाधक हेतु की विद्यमानता के कारण वह अकिञ्चितकर हो जाता है वहाँ पर भी शब्दशक्ति-मूलध्वनि नहीं हुआ करती है। इसी बात को आगे सोदाहरण कहते हैं:—

('स चाक्षिप्तो' में 'च' शब्द 'अपि' के अर्थ में भिन्नक्रम है। इसलिये 'आक्षिप्त:' के बाद 'अपि' के अर्थ में प्रयुक्त होने से 'आक्षिप्तोऽपि'। आक्षिप्त होने पर भी अर्थात् आक्षिप्ततया प्रतीत होने पर भी, (प्रबलतर बाधक-हेतु के कारण एकार्थ के नियामक हेतु के अकिंचित्कर हो जाने से) जिस स्थल पर वह अलङ्कार दूसरे शब्द से कथित रूप हो जाता है, उस स्थल पर शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमध्वनि का व्यवहार नहीं हुआ करता है। उन स्थलों पर वक्रोक्ति आदि वाच्यालङ्कार का ही व्यवहार हुआ करता है। जैसे:—

(दृष्ट्या केशव—इत्यादि)—हे केशव (हे कृष्ण) गायों की उड़ायी गई धूलि से दृष्टि के हरण हो जाने मैं (मार्ग की विषयता आदि) कुछ भी देख नहीं सकी। इसी कारण (ठोकर खाकर) गिर पड़ी हूँ। हे नाथ गिर गई हुई मुझको (उठाने के लिये आप अपने हाथों से) उठाते क्यों नहीं हैं अर्थात् अपने हाथों का सहारा देकर उठाने में आप सङ्कोच क्यों कर रहे हैं? विषम अर्थात् ऊँचे, नीचे स्थलों में घबरा जाने वाले निर्बल व्यक्तियों के आप ही एकमात्र सहारा हो। गोष्ठ (गोशाला) में इसप्रकार गोपी द्वारा प्रार्थित कृष्ण तुम सभी की रक्षा करें।

('सलेशम्' पद की सामर्थ्य से द्वितीय अर्थ यह निकलता है। इस पक्ष में 'केशवगोपरागहृतया' की व्याख्या दो प्रकार से की जायगी। केशव तथा गोप दोनों सम्बोधन पद होंगे। गोप का अर्थ रक्षक, स्वामी है।) हे स्वामिन् केशव! राग अर्थात् आपके अनुराग में अन्धी होकर मैंने कुछ भी नहीं देखा अथवा (यदि केशव और 'गोप' दो पृथक्-पृथक् सम्बोधन पद न मानकर दोनों को एक ही पद मान लिया जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि—(केशवग: य: उपराग: केशवगोपराग: तेन हृतया—मुग्धया) हे केशव स्वामिन्! आपके अनुराग में अन्धी होकर मैंने कुछ भी देखा-भाला नहीं (सोचा विचारा नहीं) इसी कारण अपने पातिव्रतधर्म से मैं

भ्रष्ट हो गई हूँ। हे नाथ! आप अब मेरे प्रति पतिभाव को ग्रहण क्यों नहीं करते (कहने का तात्पर्य यह है मेरे साथ पतिसदृश व्यवहार, सम्भोग आदि क्यों नहीं करते।) क्योंकि काम-वासना से संतप्त मनवाली सम्पूर्ण अबलाओं (गोपियों) की एकमात्र आप ही गति हो। इस भाँति गोपियों द्वारा लेशपूर्वक कथित श्री कृष्ण तुम सभी की रक्षा करें।

इस स्थल पर यदि 'सलेश' पद का प्रयोग न किया गया होता तो 'केशवगोपरागहृतया', 'पतित' आदि शब्दों के अनेक अर्थ संभव होने पर भी प्रकरण आदि के कारण एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने से एक ही अर्थ को बोधन करते। किन्तु 'सेलशं' पद की विद्यमानता ने प्रकरण आदि की एक अर्थ की नियामक सामर्थ्य को कुण्ठित कर दिया जिससे अभिधा प्रतिप्रसूत-सदृश होकर दोनों अर्थों को वाच्यतया बोधित करती है। अतएव उक्त उदाहरण शब्दशक्तिमूल-ध्वनि का उदाहरण न होकर श्लेष का ही विषय है।

इस भाँति 'येन ध्वस्त०' से लेकर 'दृष्ट्या केशव०' तक श्लेष का विषय दिखलाया। अब आगे 'शब्दशक्तिमूलध्वनि' के विषय को दिखलाते हैं:—

'जहाँ शब्दशक्ति से सामर्थ्याक्षिप्त होकर दूसरे अलङ्कार की प्रतीति हुआ करती है, वह सब ध्वनि का ही विषय हुआ करता है।' जैसे:—

"इस ही समय कुसुमसमृद्धियुग (अर्थात् वसन्तऋतु सम्बन्धी चैत्र-वैशाख नामक दो मास) का उपसंहार करता हुआ, विकसित मल्लिकाओं (जुही) के अट्टालिकाओं को धवलित करने वाले हास (विकास) से परिपूर्ण, (द्वितीय अर्थ—) प्रलयकालीन सतयुग आदि का विनाश करते हुये तथा विकसित जुही के सदृश धवल अट्टहास करते हुये महाकाल शिव के सदृश ग्रीष्म नामक महाकाल प्रकट हुआ।

और जैसे:—

काले अगर के सदृश श्यामवर्ण, विद्युतधारा अथवा जलधारा से सुशोभित, (उस वर्षा ऋतु के उमड़ते हुये) मेघों ने (अन्य अर्थ) काले अगर के लेप से श्याम-वर्ण हारों से सुशोभित (उस तन्वी के) उन्नत स्तनों के समान किस (रास्तागीर अथवा किस युवक) को (उस तन्वी अथवा अपनी प्रिया से मिलन के लिये) उत्कण्ठा से युक्त नहीं कर दिया?

(उपर्युक्त दोनों गद्य एवं पद्यात्मक उदाहरणों में दूसरे अर्थ की प्रतीति शब्द-शक्ति से वाच्य न होकर, सामर्थ्याक्षिप्तरूप में व्यञ्जना द्वारा होती है। अतएव उपर्युक्त दोनों उदाहरण शब्दशक्ति-मूलध्वनि के विषय हैं।

"कुसुमसमययुगमुपसंहरन्०" आदि उदाहरणों में प्रकरणादिवश आभिधा के नियन्त्रित हो जाने से दूसरी बार पद की उपस्थिति अभिधा द्वारा न होकर ध्वननव्यापार द्वारा होती है और ध्वननव्यापार द्वारा उपस्थित होने के अनन्तर शब्द अभिधाशक्ति द्वारा दूसरे अर्थ का बोधन कराता है। इस भाँति यद्यपि दूसरे अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा ही होती है किन्तु उस अर्थ की उपस्थिति ध्वनन अथवा व्यञ्जनाव्यापार द्वारा होने से इसको शब्दशक्तिमूलध्वनि ही कहा जायगा।)

अथवा जैसे:—

समुचित समय (सूर्य की किरणों के पक्ष में—ग्रीष्मकाल तथा गायों के पक्ष में—दोंहन से पूर्वकाल) पर आकृष्ट (समुद्रादि से—वाष्परूप में आकृष्ट, पक्षान्तर में—अयन में चढ़ाये

हुये) और अर्पित जल (पक्षान्तर में—दुग्धों से) प्रजाओं को आनन्द प्रदान करने वाली, दिन के प्रारम्भ में फैली हुई (पक्षान्तर में चारों ओर फैली हुई) और दिन के विराम के समय अर्थात् सायंकाल अथवा सूर्यास्त के समय एकत्रित हो जाने वाली (सूर्यास्त के समय सूर्य की किरणें सिमट जाया करती हैं तथा गायें चरकर एक स्थान पर आ जाया करती हैं) प्रबल दुःख के कारण संसार के भयरूप समुद्र के पार उतारने में नौकारूप, संसार के पवित्र पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ, गायों के सदृश सूर्य की किरणें आप सभी को अपरिमित आनन्द प्रदान करें।

इन उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में शब्दशक्ति द्वारा अप्राकरणिक अन्य अर्थ के प्रकशित होने पर वाक्य की असम्बद्ध-अर्थ की बोधकता न हो जाय, एतदर्थ प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों के उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी चाहिए। इस भाँति शब्दसामर्थ्य (सादृश्य आदि) वश श्लेष आक्षिप्तरूप में उपस्थित होता है, न कि शब्दनिष्ठरूप में। अतएव (इन उदाहरणों में) श्लेष से अनुस्वानसन्निभ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का विषय पृथक् ही है।

(इन तीनों उदाहरणों में प्रकरणवश अभिधा का एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाने से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति अभिधा से हो जाने के पश्चात् शब्दशक्ति अर्थात् अभिधामूला व्यञ्जना से अप्राकरणिक अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। इन वाच्य और व्यङ्ग्य, प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों में यदि किसी भाँति का सम्बन्ध न हो तो वाक्य में अनन्वितार्थबाधकत्व दोष आ जायगा। अतएव उनके उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध की कल्पना करनी होती है अर्थात् उनको व्यञ्जनागम्य माना जाता है। इस भाँति वाच्यार्थ प्रस्तुत होने से उपमेय तथा व्यङ्ग्यार्थ अप्रस्तुत होने से उपमानरूप में प्रतीत होता है। इस भाँति दूसरे अर्थ के वाच्य न होने से शब्दोपारूढ न होने से श्लेष का विषय नहीं है अपितु शब्दशक्तिमूल (अलङ्कार) ध्वनि का विषय है। इस भाँति श्लेष तथा ध्वनि के विषय का विभाजन स्पष्ट हो जाता है। "उपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः" के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि अलङ्कारध्वनि में सर्वत्र व्यतिरेचन, निह्नव आदि व्यापार ही आस्वादप्रतीति के विश्रामस्थल हैं, उपमेयादि नहीं।)

शब्दशक्तिमूल विरोधाभास अलङ्कारध्वनि

शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में (उक्तउपमा के अतिरिक्त) अन्य अलङ्कार भी हो ही सकते हैं। इस ही दृष्टि से शब्दशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विरोध अलङ्कार भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे—थानेश्वर नामक नगर के वर्णन के प्रसङ्ग में महाकवि बाणभट्ट का—(हर्षचरित से)—

जहाँ (अर्थात् जिस थानेश्वर नामक नगर में) गजगामिनी और शीलवती (दूसरे पक्ष में—'मातङ्ग' का अर्थ चाण्डाल, चाण्डाल के साथ भोग करने वाली होने पर भी शीलवती—यह विरोध प्रतीत होता है जो गजगामिनी अर्थ करने पर नहीं रहता है।) गौरवर्ण तथा वैभवनिमग्न (अन्य पक्ष में—गौरी—पार्वति और भव—शिव, विभव—शिवभिन्न से रमण करने वाली—यह विरोध हुआ, प्रथम अर्थ करने पर जिस विरोध का परिहार हो जाता है।) 'श्यामाः यौवनमध्यस्था'—तरुणी और पद्मरागमणियों के अलङ्कारों से युक्त (दूसरे पक्ष में—श्यामवर्ण और कमल के सदृश रागयुक्त—यह विरोध है जो प्रथम अर्थ करने पर नहीं रहता है।), (निर्मल ब्राह्मण के समान पवित्र मुख वाली और शराब की गन्ध से युक्त श्वास वाली—

यह विरोध है—जिसका परिहार शुभ्र दाँतों से युक्त, स्वच्छ मुखवाली अर्थ करने पर हो जाता है।) इस प्रकार की स्त्रियाँ हैं।

उपर्युक्त उदाहरण में 'विरोधालङ्कार अथवा विरोधच्छायानुग्राही श्लेष वाच्य है' ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'साक्षात' शब्द से विरोधालङ्कार प्रकाशित नहीं हुआ है। जिन स्थलों पर विरोधालङ्कार, शब्द द्वारा साक्षात् बोधित हुआ करता है उस श्लिष्ट वाक्य में ही विरोध अथवा श्लेष (तन्मूलक सन्देह सङ्कर) के वाच्यालङ्कारत्व का विषय हो सकना संभव है। (वहीं विरोध अथवा श्लेष में वाच्यालङ्कारत्व कहा जा सकना संभव है) जैसे वहीं (हर्षचरित के पूर्वोक्त प्रसङ्ग में ही—)

"विरोधी पदार्थों के समुदाय के समान (थे) जैसे, बाल अप्रौढ़रूप अन्धकार से युक्त सूर्य की पूर्ति—यह विरोध हुआ, दूसरे पक्ष में—) अन्धकाररूप कृष्ण-केशों से युक्त भी देदीप्यमान मूर्ति थे।" इत्यादि में 'शब्दशक्तिमूल विरोधाभास अलङ्कारध्वनि' है।"

(इस भाँति यहाँ श्लेषानुप्राणित विरोधाभास की प्रतीति होने पर भी विरोधा-भास के वाचक 'अपि' शब्द के न होने के कारण विरोधाभास को वाच्य नहीं कहा जा सकता है। इसी भाँति प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों अर्थों के वाच्य न होकर अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति अभिधामूला व्यंजना से होने के कारण श्लेष को वाच्य कहा जाना संभव नहीं है। वह तो व्यङ्ग्य ही है। इसलिये यह 'अभिधामूल अलङ्कार-ध्वनि' का उदाहरण है।

जिस श्लेष वाक्य में विरोध, स्पष्टरूप से शब्द द्वारा जाना जाता है वहीं विरोधाभास अलङ्कार या श्लेषालङ्कार वाच्य का विषय हुआ करता है। 'अपि' शब्द अथवा विरोध शब्द ही विरोध के वाचक शब्द हैं। 'समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्' इत्यादि उदाहरण में विरोधशब्द की विद्यमानता से विरोधालङ्कार वाच्य है तथा उसका उपकारी श्लेष भी उसी के अनुरोध से वाच्य माना गया है।

'अपि' एवं 'विरोध' शब्द तो विरोध के वाचक हैं ही। इन शब्दों के अतिरिक्त बार बार प्रयुक्त समुच्चयार्थक 'च' शब्द को भी विरोध का वाचक शब्द स्वीकार करना चाहिये। 'मत्तमातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च', 'गौर्योविभवरताश्च' तथा 'सन्निहितबालान्धकाराभास्वन्मूर्तिश्च' इत्यादि उदाहरणों में चकार का बार बार प्रयोग होने से विरोधालङ्कार को वाच्य ही स्वीकार करना चाहिये, व्यङ्ग्य नहीं। अतएव यहाँ भी 'भास्वन्मूर्तिश्च' के समान 'शीलवत्यश्च' आदि में विरोधालङ्कार को वाच्य ही मानना उचित है, इस बात को ध्यान में रखकर स्वनिर्मित दूसरा उदाहरण भी प्रस्तुत है:—)

अथवा जैसे मेरा ही—

सभी के एकमात्र शरण आश्रयस्थल और अविनाशी (दूसरे पक्ष में—(शरण तथा क्षय दोनों शब्दों का अर्थ 'गृह' होता है। ऐसी दशा में सबके गृह तथा अक्षय-अगृह यह विरोध आता है, जो प्रथम अर्थ में नहीं रहता है), 'अधीशं ईशं धियां' जो सभी के प्रभु और बुद्धि के स्वामी हैं (अन्य पक्ष में—ईशं धियां—बुद्धि के स्वामी तथा अधीशं जो बुद्धि के स्वामी नहीं हैं (अ+धीशम्)—यह विरोध उत्पन्न होता है जिसका परिहार प्रथम अर्थ से हो जाता है।), विष्णु (स्वरूप) कृष्ण (अन्य पक्ष में—हरि तथा कृष्ण वर्ण का विरोध है जिसका परिहार प्रथम

अर्थ से हो जाता है), सर्वज्ञ और निष्क्रिय (अन्य पक्ष में—पराक्रम युक्त तथा निष्क्रिय) शत्रुओं के विनाशक तथा चक्रधारी (विष्णु) (अन्य पक्ष में—चक्र के अवयव अरों का नाश करने वाला चक्रधर कैसे होगा? इस विरोध का भी प्रथम अर्थ से परिहार हो जाता है।) को नमस्कार करो।

इस उदाहरण में विरोधालङ्कार शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के रूप में स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

इसी भाँति का (शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिरूप) व्यतिरेकालङ्कार भी मिलता है। जैसे—मेरे द्वारा ही रचित निम्नलिखित श्लोक इसका उदाहरण है:—

(इस श्लोक में सूर्य के रसिद्ध किरणरूप पाद और शरीरधारी देवता सूर्य के चरणरूपी पाद—इन दोनों भाँति के पादों की स्तुति की गई है। इनमें व्यतिरे-कालङ्कार व्यङ्ग्य है। श्लोक का अर्थ है:—)

"सूर्य के अन्धकार का नाश करने वाले किरणरूप पाद जो आकाश को प्रकाशयुक्त करते हैं और जो (चरणरूप) पादनखों से सुशोभित तथा (व्यतिरेक यह है कि जो आकाश को उद्भासित अथवा उज्ज्वल न करने वाले हैं), जो किरणरूप पाद कमलों की शोभा के बढ़ाने वाले हैं और चरणरूप पाद कमलों की शोभा को तिरस्कृत करने वाले हैं, जो पर्वतों के शिखरों पर सुशोभित हैं अथवा क्षितिभृतां राजाओं के सिरों पर अवभासित हुआ करते हैं, और प्रणाम करने के समय पर देवताओं के शिरों का भी अतिक्रमण किया करते हैं, ऐसे सूर्यदेव के दोनों प्रकार के (किरणरूप तथा चरणरूप) पाद तुम सभी के लिये कल्याणकारी हो।"

इस प्रकार के शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के और भी (अलङ्कार रूप तथा वस्तुरूप) प्रकार हो सकते हैं। सहृदयजन उनका अनुसन्धान स्वयं कर लें। ग्रन्थ-विस्तार के भय से हमने यहाँ उनका प्रतिपादन नहीं किया है।।२१।।

(विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के दो भेद किये गये थे (१) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (२) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। पुनः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के तीन भेद किये गये (१) शब्दशक्त्युत्थ (२) अर्थशक्त्युत्थ और (३) उभयशक्त्युत्थ। इनमें प्रथम भेद का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया जा चुका है। किन्तु ग्रन्थकार ने इस सम्पूर्ण विवेचन में वस्तुध्वनि का कहीं नाम नहीं लिया है। अलङ्कारध्वनि की ही विस्तृत विवेचना की है। वस्तुध्वनि के अधिक स्पष्ट तथा विवादरहित होने के कारण उसकी विवेचना नहीं की गई है।।२१)

ध्वन्यालोक

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि—

अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद्व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः।।२२।।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के शब्दशक्त्युत्थ नामक प्रथम भेद के सविस्तार निरूपण के पश्चात् उसके द्वितीय भेद अर्थशक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का वर्णन करते हैं:—

नवीन आचार्यों द्वारा इस द्वितीय भेद के तीन भेद किये गये हैं (१) स्वतःसम्भवी (२) कविप्रौढोक्ति सिद्ध तथा (३) तन्निबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध। इन भेदों में से प्रत्येक के वस्तु से

वस्तु, वस्तु से अलङ्कार, अलङ्कार से वस्तु तथा अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्य प्रकार होते हैं। इस भाँति ३×४=१२ भेद किये गये हैं।

"अर्थशक्तुद्भव" नामक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का दूसरा भेद है। जहाँ इस प्रकार का अभिधा द्वारा अर्थ प्रतीत हुआ करता है कि जो शब्दव्यापार के बिना ध्वननव्यापार द्वारा स्वतः तात्पर्य विषयीभूतरूप से दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त किया करता है॥२२॥

यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादर्थान्तरंमभिव्यनक्ति शब्दव्यापारं विनैव सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपमव्यङ्ग्यो ध्वनिः।

यथा—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।।

अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति।

जहाँ शब्द के व्यापार के बिना ही व्यभिचारी भावरूप दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त किया करता है वह 'अर्थशक्त्युद्भव' नामक अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यध्वनि है।

जैसे:—

"इस भाँति देवर्षि (सप्तर्षिमण्डल) के ऐसा कहने पर, पिता की बगल में बैठी नीचे की ओर मुख किये पार्वती लीलाकमल की पंखुडियों की गणना करने लगी।"

इस श्लोक में लीलाकमल की पंखुडियों की गणना (यह अर्थ) अपने स्वरूप को गुणीभूत करने शब्दव्यापार के बिना ही व्यभिचारीभावरूप दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है।

न चायमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः। यतो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः स तस्य केवलस्यमार्गः।

यह अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि रसादि ध्वनि का ही उदाहरण भी नहीं है। क्योंकि जहाँ साक्षात् शब्द द्वारा निवेदित विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों द्वारा रस आदि की प्रतीति हुआ करती है, वही केवल उस (असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनि का) मार्ग है।

यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादि साक्षाच्छब्द-निवेदितम्।

इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः। तस्मादयमन्यो ध्वनेः प्रकारः।

जैसे 'कुमारसम्भव' में वसन्त के पुष्पों का आभूषण धारण किये देवी पार्वती का आगमन आदि वर्णन और कामदेव के शरसन्धान पर्यन्त समाप्तधैर्य वाले शिव के चेष्टाविशेष के वर्णन आदि साक्षात् शब्द द्वारा निवेदित है। (अतएव वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि है।)

'एवंवादिनि देवर्षौ' में तो लीलाकमल की पंखुड़ियों की गणना द्वारा सामर्थ्य से आक्षिप्त लज्जारूप व्यभिचारीभाव द्वारा रस की प्रतीति होती है। अतएव यह दूसरा ही ध्वनि का प्रकार है।

यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषयः।

यथा—

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्।।

अत्र लीलाकमलनिमीलनस्य व्यञ्जकत्वमुक्त्यैव निवेदितम्।।२२।।

जहाँ शब्दव्यापार की सहायता से अर्थ द्वितीय अर्थ के व्यञ्जकरूप से उपादान किया जाया करता है वह इस ध्वनि का विषय नहीं हुआ करता है। जैसे:-

''विदाधा नायिका ने यह जानकर कि विट सङ्केत के स्थान पर पहुँचने का समय जानना चाहता है, हँसते हुये नेत्र द्वारा अपने अभिप्राय को प्रकट करते हुये, अपने हाथ में स्थित लीलाकमल को निमीलित कर दिया।''

इस स्थल पर लीलाकमल के निमीलन का व्यञ्जकत्व उक्ति द्वारा ही निवेदन किया गया है।

तथा च—। (और उस प्रकार—

शब्दार्थशक्त्या क्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः।।२३।।

शब्दशक्त्या, अर्थशक्त्या, शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्योऽलङ्कारः।

तत्र शब्दशक्त्या यथा—

वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्तं
कम्पः को वा गुरुस्ते भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि।
प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनछद्मना कारयित्वा
यस्मै लक्ष्मीमदाद् वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः।।

अर्थशक्त्या यथा—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथात्र।
अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा .
पन्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहतिव्याजपूर्वम्।।

उभयशक्त्या यथा–

''दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया'' इत्यादौ।।२३।।

शब्दार्थ की शक्ति से आक्षिप्त भी व्यङ्ग्यअर्थ जहाँ कवि के द्वारा पुनः अपनी उक्ति द्वारा प्रकट किया जाता है, वह ध्वनि का अन्य ही अलङ्कार है।।२३।।

जिन स्थलों में शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति अथवा शब्दार्थोभयशक्तिमूल व्यंजना द्वारा अभिव्यक्त होने वाला व्यङ्ग्यार्थ किसी पद से अभिधा द्वारा ही स्पष्ट हो जाया करता है, वहाँ संलक्ष्य अथवा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का व्यवहार नहीं हुआ करता है, अपितु उन दोनों से भिन्न यथासंभव अलङ्कार का ही व्यवहार हुआ करता है।

उनमें शब्दशक्ति से—जैसे:—(अब शब्दशक्तिमूल व्यञ्जना द्वारा व्यङ्ग्य होने योग्य अर्थ के पदान्तर द्वारा प्रकाशन स्थल में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के अभाव का कथन करते हैं:—कवि लक्ष्मी के प्रति समुद्र की उक्ति द्वारा विष्णु की प्रशंसा करता है—हे पुत्री! तुम घबराओ नहीं, एवं अत्यधिक वेग के साथ दीर्घ उसासों को बन्द करो, तुम इतनी अधिक क्यों काँप रही हो, शक्ति को नाश करनेवाली इन जँभाइयों को लेने से क्या लाभ? तुम इस निर्भय स्थान में जाओ, इस भाँति कहकर समुद्र ने जिसकी शरण में मन्दराचल पर्वत के मन्थन से भयभीत लक्ष्मी को दे दिया, वह विष्णु भगवान् तुम्हारे पापों को जला देवें, यह वाच्यार्थ है।

हे वत्से! लक्ष्मि! विषभक्षक शिव को तुम वरण न करो, वायु तथा अग्नि को भी वरण न करो, वरुण तथा ब्रह्मा तो तुम्हारे पूज्य ही हैं, अत: उन दोनों का भी वरण न करो, महान् ऐश्वर्यवान् इन्द्र से तुमको प्रयोजन ही क्या है? अतएव सर्वश्रेष्ठ विष्णु का ही तुम वरण करो, इस प्रकार व्यंजनावृत्ति द्वारा भय को दूर करने के बहाने से अन्य देवों के वरण का निषेधकर समुद्र ने मन्दराचल के मन्थन से घबराई हुईं लक्ष्मी को जिसके अधीन कर दिया, वह विष्णु ही तुम्हारे सम्पूर्ण पापों को दग्ध करें। यह व्यङ्गार्थ सूचित होता है।

इस उदाहरण 'विषाद' (विषमत्तीति विषाद:) आदि शब्दों द्वारा व्यंजित होने वाले शिव आदि व्यङ्ग्यार्थ को 'छद्म' शब्द ने ही अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। अत: यहाँ ध्वनि न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य ही का यह उदाहरण है।

अब अर्थशक्तिमूल व्यंजना द्वारा व्यंजित होने वाले व्यङ्ग्य का गौणत्व बतलाते हैं। किसी चतुर कामुकी द्वारा पथिक से कहा जा रहा है:—

हे पथिक! इस गृह में वृद्धा माता पृथक ही शयन करती है और इस गृह में अतिवृद्ध पिता जी शयन करते हैं तथा सम्पूर्ण गृह के कार्यों से थककर अति शिथिल शरीर वाली दासी दूसरे गृह में गाढ़ निद्रा में सोती हुई पड़ी रहा करती है। कितने ही दिनों से पतिदेव से बिछुड़ी हुई अभागिन मैं इस घर में अकेली सोती हूँ। इस भाँति युवती नायिका द्वारा पथिक के साथ बातचीत के बहाने से संभोग के अवसर को सूचित किया गया है।

इस उदाहरण में अम्बा आदि की वृद्धावस्था सम्बन्धी अर्थ, समागम सम्बन्धी प्रतिपादन के द्वारा नायिका की जिस संभोगाभिलाषा को प्रकट करता है, उसको तो व्याज शब्द द्वारा ही स्पष्ट कर दिया गया है। अतएव यहाँ अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि नहीं है, गुणीभूतव्यङ्ग्य ही है।

अब शब्दार्थोभयशक्तिमूल व्यञ्जना द्वारा व्यङ्ग्य होने योग्य अर्थ का गौणत्व कहते हैं:-

('दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया'—इत्यादि पहले उद्धृत एवं व्याख्यात श्लोक में—)

हे केशव! गायों के पैरों से उड़ाई गई धूलि के आँखों में पड़ जाने से मेरी आँखें बन्द हो गईं, अतएव मेरे द्वारा देखा न जा सका अथवा अत्यधिक कामान्ध होने के कारण मैं कुछ भी विचार न सकी। इस भाँति पूर्वोक्त व्यङ्ग्य अर्थ को 'लेश' शब्द द्वारा ही स्पष्ट कर दिया

गया। अतएव शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव ध्वनि की संभावना नहीं रही।

अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के भेदः—

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः।

अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः।।२४।।

कवि की प्रतिभावश निष्पन्न (कवि के मस्तिष्क से उत्पन्न) अथवा कविनिबद्ध व्यक्ति की प्रतिभा वश निष्पन्न (केवल काल्पनिक) तथा स्वतः संभवी—इस प्रकार दो प्रकार का अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक हुआ करता है।।२४।।

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यंजकोऽर्थः उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ, कवेः, कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वतः सम्भवी च द्वितीयः।

अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का जो व्यञ्जक अर्थ कहा है, उसके दो भेद होते हैं:—(१) कवि अथवा कविनिबद्धवक्ता वक्ता की कल्पना से कल्पित और (२) स्वतः संभवी (वास्तविक व्यावहारिक)। वास्तव में तो प्रथम भेद के दो प्रकार होने से उक्त तीन प्रकार का अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक हुआ करता है। उक्त तीनों प्रकार का अर्थ वस्तु और अलंकार के भेद से छै प्रकार का होकर व्यङ्ग्य वस्तु तथा व्यङ्ग्य अलंकार के व्यञ्जक होने से अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि बारह प्रकार की हो जाती है।

कवि प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथा-

सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे।

अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणंगस्स शरे।।

(सज्जयति सुरंभियासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।

अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान्।। इति छाया)

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथोदाहृतमेव 'शिखारिणि' इत्यादि।

यथा वा—

साअरविइण्णजोव्वण हत्थालम्बं समुण्ण मन्तेहिम्।

अब्भुट्ठांणं विअ मम्महस्स दिण्णंतुइ थणेहिं।।

(सादरवितीर्णयौवनहस्तावलम्बं समुन्नमद्भ्याम्।

अम्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम्।।इतिच्छाया।।)

सर्वप्रथम कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से व्यङ्ग्यवस्तुरूप अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यध्वनि का उदाहरण—जैसे:—

''वसन्तमास युवतिजनों की ओर लक्ष्य करके नवीन पल्लवों की पंखरीरूप पंखों से युक्त अतिसुगन्धि से युक्त नूतन आम्रमञ्जरीरूप कामदेव के बाणों को तैयार करता है किन्तु केवल (उन बाणों को) कामदेव को नहीं देता।

(इस स्थल पर 'अचेतन वसन्त बाणों का निर्माता है तथा कामदेव धनुर्धारी हैं' इत्यादि वस्तुरूप अर्थ कवि की कल्पनामात्र द्वारा निष्पन्न होकर क्रमशः (बाद में) वसन्त ऋतु में

कामवासना से उत्पन्न पीड़ा बर्द्धकत्वरूप वस्तु को व्यक्त करता है।)

कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्तिवश निष्पन्न अर्थ से निष्पन्न अर्थ से अभिव्यञ्जित ध्वनि का उदाहरण—"शिखरिणि" इत्यादि (पूर्वोक्त) दिया जा चुका है। ('शिखरिणि' इत्यादि श्लोक का अर्थ—)

कामुक नायक अनुनय के साथ नायिका से कह रहा है:—हे शोभनमुख-वाली! अत्यधिक भाग्यशाली तोते के बच्चे ने किस पर्वत पर कितने दिनों तक तीव्र तप किया, जिससे तेरे अधर सदृश लाल सुस्वादु मीठे विम्बाफल को यह बड़े प्रेम के साथ चख रहा है। "अत्यधिक पुण्यात्मा व्यक्ति ही तेरे अधर-रस का पान कर सकता है" यह व्यङ्ग्यार्थ है।)

अथवा जैसे:—

"कोई लम्पट व्यक्ति नव यौवना से कह रहा है:— हे बाले! यौवन द्वारा आगे बढ़ाये गये युवावस्थारूपी हाथ के सहारे से उठते हुये तुम्हारे दोनों उन्नत स्तन झुककर आगन्तुक कामदेव का मानों स्वागत कर रहे हैं।"

(इस स्थल पर कवि कल्पित कामुक व्यक्ति की प्रौढोक्तिवश निष्पन्न होकर उक्त वाच्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त कर रहा है।)

स्वतः सम्भवी य औचित्येन बहिरपि सम्भाव्यमानसद्भावो न केवलं मणितिवशेनैवाभिनिष्पन्न शरीरः। यथोदाहृतम्–'एवं वादिनि' इत्यादि।

यथा वा—

सिहिपिंछकण्णपूरा जाआ बाहस्स गव्विरी भमइ।
मुक्ताफलरइअपसाहणाणं मज्झे सबत्तीणं।।

(शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गर्विणी भ्रमति।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ।।इतिच्छाया ।।२४।।)

स्वतःसंभवी वह है कि जो केवल कविकल्पना कल्पित हो, जो तनिक भी बनावटी न हो, साथ ही जो लोक व्यहवार में भी प्रचलित होकर प्रसिद्ध हो। जैसे "एवं वादिनि" इत्यादि श्लोक में दिखलाया जा चुका है। अर्थात् स्वतः संभवी मुखनयन आदि वस्तु से पार्वती का लज्जारूप व्यभिचारी भाव प्रकट होता है।

अथवा जैसे:—

केवल मयूर पंख को कान में पहने हुये व्याध की नई पत्नी बहुमूल्य मुक्ताफलों के आभूषणों से अलङ्कृत सपत्नियों (सौतों) के बीच में अभिमान से इठलाती हुई विचरण कर रही है।

इस श्लोक में वर्णित वस्तु केवल कविकल्पनासिद्ध नहीं हैं, अपितु वास्तव में लोक में भी उसका अस्तित्व संभव है। अतएव वह स्वतः सम्भवी है।

लोचनम्

एवं शब्दशक्त्युद्भवं ध्वनिमुक्त्वार्थशक्त्युद्भवं दर्शयति–अर्थेति। अन्य इति शब्दशक्त्युद्भवात्। स्वतस्तात्पर्येणेत्यभिधाव्यापारनिराकरणपरमिदं पदं ध्वननव्यापार-

माह न तु तात्पर्यशक्तिम्। सा हि वाच्यार्थप्रतीतावेवोपक्षीणेत्युक्तं प्राक्। अनेनैवाशयेन वृत्तौ व्याचष्टे–यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादिति। स्वत इतिशब्दः स्वशब्देन व्याख्यातः। उक्तिं विनेतिव्याचष्टे–शब्दव्यापारं विनैवेति। उदाहरति–यथा एवमिति। अर्थान्तरमिति लज्जात्मकम्। साक्षादिति। व्यभिचारिणां यत्रालक्ष्यक्रमतया व्यवधिवन्ध्यैव प्रतिपत्तिः स्वविभावादिबलात्तत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितत्वं विवक्षितमिति न पूर्वापरविरोधः। पूर्वं ह्युक्तं व्यभिचारिणामपि भावत्वान्न स्वशब्दतः प्रतिपत्तिरित्यादि विस्तरतः। एतदुक्तं-भवति–यद्यपि रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव भवति न वाच्यः कदाचिदपि, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः। यत्र हि विभावानुभावेभ्यः स्थायिगतेभ्यो व्यभिचारिगते-भ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्तिस्तत्रास्त्वअलक्ष्य-क्रमः। यथा–

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभिरदृश्यत स्थावरराजकन्या।।

इत्यादौ सम्पूर्णालम्बनोद्दीपनविभावता योग्यस्वभाववर्णनम्।

प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च।
संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम्।।

इत्यनेन विभावतोपयोग उक्तः।

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।।

अत हि भगवत्याः प्रथममेव तत्प्रवणत्वात्तस्य चेदानीं तदुन्मुखीभूतत्वात् प्रणयिप्रियतया च पक्षपातस्य सूचितस्य गाढीभावाद्रत्यात्मनः स्थायिभावस्यौत्सुक्या-वेगचापल्यहर्षादेश्च व्यभिचारिणः साधारणीभूतोऽनुभाववर्गः प्रकाशित इति विभावानुभावचर्वणैव व्यभिचारिचर्वणायां पर्यवस्यति। व्यभिचारिणां पारतन्त्र्यादेव स्रक्सूत्रकल्पस्थायिचर्वणाविश्रान्तेरलक्ष्यक्रमत्वम्। इह तु पद्मदलगणनमधोमुखत्वं चान्यथापि कुमारीणां सम्भाव्यत इति झटिति न लज्जायां विश्रमयति हृदयं, अपि तु प्राग्वृत्ततपश्चर्यादिवृत्तान्तानुस्मरणेन तत्र प्रतिपत्तिं करोतीति क्रमव्यङ्ग्यतैव। रसस्त्वत्रापि दूरत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमानेभातीतितदपेक्षयाऽलक्ष्यक्रमतैव। लज्जा-पेक्षया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्। अनुमेव भावमेवंशब्दः केवलशब्दश्च सूचयति।

'उक्तिं विने' ति यदुक्तं तद्व्यवक्षेद्यं दर्शयितुमुपक्रमते–यत्र चेति। च शब्द-स्तुशब्दस्यार्थे। अस्येति। अलक्ष्यक्रमस्तु तत्रापि स्यादेवेति भावः। उदाहरति–सङ्केतेति।

व्यञ्जकत्वमिति। प्रदोषसमयं प्रतीति शेषः। उक्त्यैवेति। आद्यपादत्र-येणेत्यर्थः। यद्यपि चात्र शब्दान्तरसन्निधानेऽपि प्रदोषार्थं प्रति न कस्यचिदभिधाशक्तिः पदस्येति व्यञ्जकत्वं न विघटितं, तथापि शब्देनैवोक्तमयमर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जक इति। ततश्च ध्वनेर्यद्दीप्यमानतोदितचारुत्वात्मकं प्राणितं तदपहस्तितम्। यथा कश्चिदाह–'गम्भरीऽहं

न मे कृत्यं कोऽपि वेद न सूचितम्। किञ्चिद् ब्रवीमि' इति। तेन गाम्भीर्यसूचनार्थः प्रत्युत आविष्कृत एव। अत एवाह-व्यञ्जकत्वमिति उक्त्यैवेति च।।२२।।

इस भाँति शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि को कहकर अर्थशक्त्युद्भवं ध्वनि को दर्शाते हैं— अर्थ०—। अन्य अर्थात् शब्दशक्त्युद्भव से (अन्य) 'स्वत: तात्पर्यरूप से' इस अभिधाव्यापार के निराकरण में तात्पर्यवाला यद्पद ध्वननव्यापार को कहता है, न कि तात्पर्यशक्ति को। क्योंकि वह (तात्पर्यशक्ति) वाच्यार्थ की प्रतीति में ही उपक्षीण हो जाती है, यह पहले कहा जा चुका है। इसी अभिप्राय से वृत्ति में व्याख्यान करते हैं—जहाँ अर्थ अपनी सामर्थ्य से—। 'स्वत:' इस शब्द की 'अपनी' ('स्व') शब्द से व्याख्या की है। 'उक्ति के बिना' इसकी व्याख्या करते हैं—शब्दव्यापार के बिना ही—। उदाहरण देते हैं—जैसे—इस प्रकार०—। अर्थान्तर लज्जारूप अर्थान्तर। साक्षात्—। व्यभिचारी भावों की जहाँ अलक्ष्यक्रमरूप से व्यवधानरहित ही प्रतीति अपने विभाव के बल से हुआ करती है वहाँ साक्षात् शब्द द्वारा निवेदितत्व विवक्षित है अत: पूर्व पर विरोध नहीं है। क्योंकि पहले विस्तार से कहा है कि व्यभिचारीभावों की भी भाव होने के कारण स्वशब्द से प्रतीति नहीं होती है, इत्यादि। यह कहा गया—यद्यपि रस, भाव आदि अर्थ ध्वन्यमान ही हुआ करता हैं, कभी भी वाच्य नहीं हुआ करता है, तथापि सब (रस, भावादि) अलक्ष्यक्रम का विषय नहीं हुआ करता है। जहाँ स्थायीगत और व्यभिचारीगत पूर्ण विभावों और अनुभावों से झटिति रस की अभिव्यक्ति हो जाती है वहाँ अलक्ष्यक्रम होता है। जैसे:—

'तदनन्तर इन (शिवजी) के निर्वाण प्रधान वीर्य को अपने शरीर के गुण से मानों विनष्ट करती हुई, वन देवताओं द्वारा अनुसरण की जाती हुई, स्थावरराज (हिमालय) की कन्या (पार्वती) दिखलाई पड़ी।'

इत्यादि में सम्पूर्ण आलम्बन उद्दीपन विभावरूप के योग्य स्वभाव का वर्णन है।

'अपने भक्त के प्रेमी होने के कारण त्रिलोचन (शिवजी) ने उंस (माला) को ग्रहण करने के लिये उपक्रम किया और पुषशर कामदेव ने संयोहन नाम का अमोघ बाण धनुष पर रखा।'

इसके द्वारा विभावरूप का उपयोग कहा।

'चन्द्रोदय के प्रारम्भ में समुद्र की भाँति कुछ विचलित धैर्य वाले शिवजी ने विम्बाफल के सदृश अधरोष्ठ वाले पार्वती के मुख पर अपने नेत्रों को व्यापारित किया।'

यहाँ भगवती (पार्वती) के पहले से ही शिव में आसक्त होने के कारण और अब उन (शिवजी) के इस (पार्वती) के प्रति उन्मुख होने के कारण और भक्त के प्रेमी होने के कारण सूचित पक्षपात के गाढ़ होने से रतिरूप स्थायीभाव का और औत्सुक्य, वेग, चापल्य, हर्ष आदि व्यभिचारी का साधारणीभूत अनुभाव वर्ग को प्रकाशित किया है, इस प्रकार विभाव-अनुभाव की चर्वणा ही व्यभिचारी की चर्वणा में पर्यवसित होती है। व्यभिचारी भावों के परतन्त्र होने के कारण ही माला के सूत्र के समान स्थायी की चर्वणा में विश्रान्ति होने से अलक्ष्यक्रमत्व है। किन्तु यहाँ कमल की पंखुडियों का गिनना तथा नीचे की ओर मुख करना कुमारियों में अन्यंथा भी सम्भव हैं, इस भाँति झटिति हृदय को लज्जा में विश्राम नहीं मिलता है, अपितु

(हृदय) पहले सम्पन्न हुये तपश्चर्या आदि वृत्तान्त के अनुस्मरण से उस (लज्जा) में प्रतिपत्ति करता है। इस भाँति क्रमव्यङ्ग्यता ही है किन्तु रस यहाँ भी दूर पर व्यभिचारी के स्वरूप के पर्यालोचन करने पर प्रतीत होता है, अतएव उसकी अपेक्षा से अलक्ष्यक्रमत्व ही है। लज्जा की अपेक्षा से लक्ष्यक्रमत्व है। इसी भाव को 'इस प्रकार' और 'केवल' शब्द सूचित करते हैं।

'उक्ति के बिना यह जो कहा है उसका व्यवच्छेद्य दिखलाने के लिये उपक्रम करते हैं— और जहाँ—। 'और' शब्द 'परन्तु' शब्द के अर्थ में है। इस (ध्वनि) का—। भाव यह है कि अलक्ष्यक्रम तो वहाँ पर भी होगा ही। उदाहरण देते हैं—सङ्केत०—।'

व्यञ्जकत्व—। प्रदोषसमय अर्थात् सन्ध्याकाल के प्रति व्यञ्जकत्व। उक्ति द्वारा ही—। अर्थात् पहले के तीनों पादों से। यद्यपि यहाँ शब्दान्तर के सन्निधान होने पर भी किसी पद का 'प्रदोष' (अथवा सन्ध्याकाल) इस अर्थ के प्रति अभिधाशक्ति नहीं है, इस कारण व्यञ्जकत्व विघटित नहीं होता है तथापि 'यह अर्थ अर्थान्तर का व्यञ्जक है' यह बात शब्द से ही कही गई है। इस कारण ध्वनि का जो 'गोप्यमानता से उत्पन्न चारुत्वरूप प्राण है, उसका निराकरण कर दिया है'। जैसा कि कोई कहता है—'मैं गम्भीर हूँ, विनावताये मेरा कोई भी नहीं जानता (अतएव) कुछ कहता हूँ'। इस कथन से गाम्भीर्यसूचन का अर्थ प्रत्युत प्रकट कर दिया है। इसीलिये कहा है—'व्यञ्जकत्व' और 'उक्ति से ही'।

प्रक्रान्तप्रकारद्वयोपसंहारं तृतीयप्रकारसूचनं चैकेनैव यत्नेन करोमीत्याशयेन साधारणमवतरणपदं प्रक्षिपति वृत्तिकृत्–तथाचेति। तेन चोक्तप्रकारद्वयेनायमपि तृतीयः प्रकारो मन्तव्य इत्यर्थः। शब्दश्चार्थश्च शब्दार्थौ चेत्येकशेषः। सान्यैवेति। न ध्वनिरसौ, अपि तु श्लेषादिरलङ्कार इत्यर्थः। अथवा ध्वनिशब्देनालक्ष्यक्रमः तस्यालङ्कार्यस्याङ्गिनः स व्यङ्ग्योऽर्थोऽन्यो वाच्यमात्रालङ्कारापेक्षया द्वितीयो लोकोत्तरश्चालङ्कार इत्यर्थः। एवमेव वृत्तौ द्विधा व्याख्यास्यति। विषमत्तीति विषादः। ऊर्ध्वप्रवृत्तमग्निमित्यत्र चार्थोमन्तव्यः। कम्पोऽपाम्पतिः को ब्रह्मा वा तव गुरुः। बलभिदा इन्द्रेण जृम्भितेन ऐश्वर्यमदमत्तेनेत्यर्थः। जृम्भितं च गात्र संमर्दनात्मकं बलं भिनत्ति आयासकारित्वात्। प्रत्याख्यानमिति वचसैवात्र द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत इति निवेदितम्। कारयित्वेति। सा हि कमला पुण्डरीकाक्षमेव हृदये निधायोत्थितेति स्वयमेव देवान्तराणां प्रत्याख्यानं करोति। स्वभावसुकुमारतया तु मन्दरान्दोलित जलधितरङ्गभङ्गपर्याकुलीकृतां तेन प्रतिबोधयात तत्समर्थाचरणमन्यत्र दोषोद्घाटनेन अत्र याहीति चाभिनयविशेषेण सकलगुणादरदर्शकेन कृतम्। अत एव मन्थमूढामित्याह। इत्युक्तप्रकारेण भयनिवारणव्याजेन सुराणां प्रत्याख्यानं मन्थमूढां लक्ष्मीं कारयित्वा पयोधिर्यस्मै तामदात्स वो युष्माकं दुरितं दहत्विति सम्बन्धः।

अम्बेति। अत्रैकैकस्य पदस्य व्यञ्जकत्वं सहृदयैः सुकल्प्यमिति स्वकण्ठेन नोक्तम्। व्याजशब्दोऽत्र स्वोक्तिः। एवमुपसंहारव्याजेन प्रकारद्वयं सोदाहरणं निरूप्य तृतीयं प्रकारमाह–उभयेति। शब्दशक्तिस्तावद्गोपरागादिशब्दश्लेषवशात्। अर्थशक्तिस्तु प्रकरणवशात्। यावदत्र राधारमणस्याखिलतरुणीजनच्छन्नानुरागगरिमास्प-

दत्वं न विदितं तावदर्थान्तरस्याप्रतीतेः, सलेशमितिचात्र स्वोक्तिः।।२३।।

एवमर्थशक्त्युद्भवस्य सामान्य लक्षणं कृतम्। श्लेषाद्यलङ्कारेभ्यश्चास्य विभक्तो विषय उक्तः। अधुनास्य प्रभेदनिरूपणं करोति। प्रौढोक्तीत्यादिना। योऽर्थान्तरस्य दीपको व्यञ्जनोऽर्थ उक्तः सोऽपि द्विविधः। न केवलमनुस्वानोपमो द्विविधः, यावत्तद्भेदो यो द्वितीयः सोऽपि व्यञ्जकार्थद्वैविध्यद्वारेण द्विविध इत्यपिशब्दस्यार्थः। प्रौढोक्तेरप्यवान्तरभेदमाह–कवेरिति। तेनैते त्रयो भेदा भवन्ति। प्रकर्षेण ऊढः सम्पादयितव्येन वस्तुना प्राप्तस्तत्कुशलः प्रौढः। उक्तिरपि समर्पयितव्यवस्त्वर्पणोचिता प्रौढेत्युच्यते।।

सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।
अभिनवसहकारमुखान्नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान्।।

अत्र वसन्तश्चेतनोऽनङ्गस्य सखासज्जयति केवलं न तावदपर्यतीत्येवंविधया समर्पयितव्यवस्त्वर्पणकुशलयोक्त्या सहकारोद्भेदिनी वसन्तदशा यत उक्ता अतो ध्वन्यमानं मन्मथोन्माथस्यारम्भं क्रमेण गाढगाढीभविष्यन्तं व्यनक्ति। अन्यथा वसन्ते सपल्लव सहकारोद्गम इति वस्तुमात्रं न व्यञ्जकं स्यात्। एषा च कवेरेवोक्तिः प्रौढा। शिखरिणीति। अत्र लोहितं बिम्बफलं शुको दशतीति न व्यञ्जकता काचित्। यदा तु कविनिबद्धस्य साभिलाषस्य तरुणस्य वक्तुरित्थं प्रौढोक्तिस्तदा व्यञ्जकत्वम्।

सादरवितीर्णयौवनहस्तालम्बं समुन्नमद्भ्याम्।
अभ्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम्।।

स्तनौ तावदिह प्रधानभूतौ ततोऽपि गौरवितः कामस्ताभ्यामभ्युत्थानेनो पचर्यते। यौवनं चानयोः परिचारकभावेन स्थितमित्येवं विधेनोक्तिवैचित्र्येण त्वदीयस्तनावलोकनप्रवृद्धमन्मथावस्थः को न भवतीति भङ्ग्या स्वाभिप्रायध्वननं कृतम्। तव तारुण्येनोन्नतौ स्तनाविति हि वचने न व्यञ्जकता। न केवलमिति। उक्तिवैचित्र्यं तावत्सर्वथोपयोगि भवतीति भावः।

शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गर्विणी भ्रमति।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम्।।

शिखिमात्रामारणमेव तदासक्तस्य कृत्यम्। अन्यासु त्वासक्तो हस्तिनोऽप्यमारयदिति हि वचनेनोक्तमुत्तमसौभाग्यम्। रचितानि विविधभङ्गीभिः प्रसाधनानीति तासां सम्भोगव्यग्रिमाभावात्तद्विरचनशिल्पकौशलमेव परमिति दौर्भाग्यातिशय इदानीमिति प्रकाशितम्। गर्वश्च बाल्याविवेकादिनापि भवतीति नात्र स्वोक्तिसद्भावः शङ्क्यः। एष चार्थो यथा यथा वर्ण्यते आस्तां वा वर्णना, वहिरपि यदि प्रत्यक्षादिनावलोक्यते तथा तथा सौभाग्यातिशयं व्याधवध्वा द्योतयति।।२४।।

प्रक्रान्त दोनों प्रकारों का उपसंहार और तीसरे प्रकार का सूचन एक ही यत्न से करता हूँ, इस आशय से वृत्तिकार साधारण अवतरण पद को देते हैं—और उस प्रकार—। अर्थात्

उन उक्त दोनों प्रकारों (शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूलध्वनि) के यह तीसरा प्रकार भी मानना चाहिये। शब्द, अर्थ और शब्दार्थ, यह 'एकशेष' है। वह अन्य ही—। अर्थात् वह ध्वनि नहीं है अपितु श्लेष आदि अलङ्कार है। अथवा ध्वनि शब्द अलक्ष्यक्रम (उक्त) है। उस अलङ्कार्य का वह व्यङ्ग्य अर्थ अन्य अर्थात् वाच्य अलङ्कार की अपेक्षा दूसरा वह लोकोत्तर अलङ्कार है। इसी प्रकार वृत्ति में दो प्रकार की व्याख्या करेंगे। विष भक्षण करते हैं, (विषमत्ति) विषाद (अर्थात् शिव)। ऊर्ध्वप्रवृत्त (ऊपर की ओर बढ़ा हुआ), यहाँ 'अग्नि' अर्थ मन्तव्य है। कम्प अर्थात् अपापति (जलपति वरुण), अथवा 'क' अर्थात् ब्रह्मा तुम्हारे गुरु हैं। बलभिद् अर्थात् इन्द्र जृम्भित अर्थात् ऐश्वर्यमदमत्त। और अंगों की ऐंठनरूप जम्भाई आयासकारी आयासकारी होने के कारण बलतोड़ देती है। 'निराकरण' (प्रत्याख्यान) इसके द्वारा वचन से ही दूसरा अर्थ अभिधान किया है, यह निवेदन किया। करा के—। क्योंकि वह कमला (लक्ष्मी) पुण्डरीकाक्ष (विष्णु) को ही हृदय में रखकर निकली हैं, अत: स्वयमेव वह इतर (अन्य) देवताओं का प्रत्याख्यान करती है। स्वभावत: सुकुमार होने के कारण मन्दर पर्वत से आन्दोलित समुद्र की तरङ्गों की भंगिमा से पर्याकुल हुई (लक्ष्मी) को शिक्षा देते हुये और अन्यत्र दोष के उद्घाटन द्वारा 'यहाँ (अर्थात् विष्णु में) गमन करो' इस समग्र गुणों के प्रति आदर दिखलाने वाले अभिनय विशेष से उसके समर्थ आचरण किया है। इसी कारण 'मन्थमूढा' अर्थात् (समुद्र के) 'मन्थन से डरी हुई' यह कहा है। सम्बन्ध यह है कि इस उक्त प्रकार से भय निवारण के बहाने (व्याज) से देवताओं का प्रत्याख्यान मन्थन से डरी हुई लक्ष्मी को समुद्र ने जिसके लिये उसको अर्पित किया वह (विष्णु) आपलोगों के दुरित का नाश करें।

यहाँ बूढ़ी—। यहां एक एक पद का व्यञ्जकत्व सहृदयों द्वारा सहज ही कल्पनीय है। इस कारण अपने कण्ठ से नहीं कहा है। 'व्याज' शब्द यहाँ (कवि की) अपनी उक्ति है। इस भाँति उपसंहार के व्याज से दोनों प्रकारों को सोदाहरण निरूपण कर के तीसरा प्रकार कहते हैं—उभय०—। 'गोपराग' आदि श्लेष के कारण शब्दशक्ति है, और अर्थ शक्ति प्रकरण के कारण है क्योंकि जब तक राधारमण (श्री कृष्ण) का सम्पूर्ण तरुणियों में छिपे ढंग से अनुराग-गरिमा का स्थानभूत होना विदित नहीं होता है तब तक दूसरे अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। 'सलेशं' यह (कवि की) अपनी उक्ति है॥२३॥

इस भाँति अर्थ शक्त्युद्भव का सामान्य लक्षण किया तथा श्लेष आदि अलङ्कारों से इसका विषय विभक्त कहा। अब इसके प्रभेद का निरूपण करते हैं—अन्य वस्तु० इत्यादि द्वारा। जो दूसरे अर्थ का दीपक अर्थात् व्यञ्जक अर्थ कहा है, वह भी दो प्रकार का है। न केवल अनुस्वानोपम दो प्रकार का है, उसका जो दूसरा भेद है, वह भी व्यञ्जक अर्थ के द्वैविध्य के द्वारा दो प्रकार का है, यह 'भी' ('अपि') शब्द का अर्थ है। प्रौढोक्ति का भी अवान्तर भेद कहते हैं—कवि की—। इस कारण ये तीन भेद होते हैं। प्रकर्ष से ऊढ अर्थात् सम्पादयितव्य वस्तु से प्राप्त, उसका कुशल प्रौढ है। समर्पयितव्य वस्तु के अर्पण में उचित उक्ति भी 'प्रौढ' कहलाती है।

'यह चेतन कामदेव का सखा वसन्त केवल तैयार कर रहा है, अर्पित नहीं कर रहा है', समर्पयितव्य वस्तु के अर्पण में कुशल इस प्रकार की उक्ति द्वारा आम (सहकार) पैदा करने

वाली वसन्त की स्थिति जिस कारण कही गई है उस कारण ध्वनित होते हुये और क्रम से गाढ-गाढतर होते हुये मन्मथोन्माथ के आरम्भ को व्यक्त करती है, अन्यथा वसन्त में पल्लवसहित सहकार (आम) का उद्गम यह वस्तुमात्र व्यञ्जक नहीं होगा। यह कवि की ही उक्ति प्रौढ है। शिवरिणि०। यहाँ लाल विम्बफल को तोता काटता है, यह कोई व्यञ्जकत्व नहीं है। किन्तु जब कवि द्वारा निबद्ध साभिलाष तरुण वक्ता की इस भाँति प्रौढ उक्ति होगी, तब व्यञ्जकत्व होगा।

'नायिका के दोनों स्तन यहाँ प्रधानभूत हैं, उनसे भी अधिक गौरववाला कामदेव उनके द्वारा अभ्युत्थानपूर्वक उपचरित हो रहा है, और यौवन इन दोनों (स्तनों) के परिचारक के रूप में स्थित है' इस प्रकार के उक्तिवैचित्र्य के द्वारा 'तुम्हारे स्तनों के अवलोकन से प्रबृद्ध कामावस्था वाला कौन नहीं हो जाता है, इस ढङ्ग (भङ्गी) से अपने अभिप्राय का ध्वनन किया है। 'युवावस्था के कारण तुम्हारे स्तन उन्नत हो गये हैं' इस कथन में व्यञ्जकता नहीं है। न केवल—। भाव यह है कि उक्तिवैचित्र्य सब प्रकार से उपयोगी होता है।

उसमें आसक्त नायक का केवल मयूरों का मारना ही कार्य रह गया तथा दूसरी सौतों में आसक्त वह हाथियों को भी मार डालता था, इस कथन से (अपना) उत्तम सौभाग्य अभिहित किया। विविध भङ्गियों जिनके प्रसाधन बनाये गये हैं, इससे प्रकाशित किया कि सम्भोग की व्यग्रता न होने के कारण प्रसाधन के बनाने का शिल्प-कौशल ही अधिक था, इस भाँति अब उनका अतिशय दुर्भाग्य है। अभिमान तो बाल्य के कारण अविवेक आदि से भी उत्पन्न हुआ करता है। अतएव यहाँ अपनी उक्ति के सद्भाव की शङ्का नहीं करनी चाहिये। यह अर्थ जैसे-जैसे वर्णन करते हैं अथवा वर्णना हो भी, यदि बाहर भी प्रत्यक्ष आदि द्वारा देखा जाता है उस-उस प्रकार व्याधवधू का अतिशय सौभाग्य द्योतन करता है।।२४।।

मंजूअशुबोधिनी

अर्थशक्त्युत्य ध्वनि–सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का दूसरा भेद है अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि। जहाँ अभिधा द्वारा इस प्रकार का अर्थ प्रतीत हुआ करता है जो शब्द-व्यापार के बिना (ध्वननव्यापार से) स्वतः ही तात्पर्यविषयीभूतरूप से दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त किया करता है।।२२।।

(तात्पर्य शब्द को पदार्थ संसर्गरूप वाक्यार्थबोध में उपक्षीण तात्पर्या नामक शक्ति का ग्राहक न समझकर ध्वनन-व्यापार का ग्राहक समझना चाहिये।)

जहाँ अर्थ (वाच्यार्थ) शब्द व्यापार के बिना अपने ध्वनन सामर्थ्य से दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त किया करता है वह अर्थ शक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि है। जैसे—

"देवर्षि (सप्तर्षिमण्डल) के ऐसा कहने (शिव के साथ पार्वती के विवाह की चर्चा तथा शिव की सहमति प्रकट करने) पर पिता (पर्वतराज हिमालय) के समीप बैठी हुई पार्वती अपने मुख को नीचा करके लीलाकमल की पंखुड़ियों को गिनने लगी।"

इस स्थल पर लीलाकमलपत्रों की गणना (रूप पार्वती का व्यापार) स्वयं गुणीभूतरूप होकर शब्दव्यापार के बिना ही (लोचनकार के मत में लज्जा तथा विश्वनाथ के मत से अवहित्थारूप) व्यभिचारीभावरूप दूसरे अर्थ को प्रकट करती है।

(आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे लज्जा नामक व्यभिचारीभाव का अभिव्यञ्जक माना है किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने इस (एवं वादिनि इत्यादि) श्लोक को अवहित्था के उदाहरण में उद्धृत किया है। 'अवहित्या' का लक्षण है:—

भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था।
व्यापारान्तरासक्तिरन्यथाभाषणविलोकनादिकरी।।

अर्थात् भय, गौरव, लज्जा आदि के कारण व्यापारान्तर, अन्यथाभाषण अथवा अन्यथा विलोकन आदि के उत्पादक आकारगोपन का नाम 'अवहित्था' है। इस अवहित्था में भी लज्जा का समावेश रहा करता है। अतएव आचार्य अभिनवगुप्त तथा आचार्य विश्वनाथ के मतों में कोई तात्विक भेद नहीं है।)

'एवंवादिनि' इत्यादि श्लोक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (रसादि) ध्वनि का ही उदाहरण (भी) नहीं है। जहाँ साक्षात् शब्द द्वारा वर्णित विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों से रसादि की प्रतीति हुआ करती है वही केवल उस (असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनि) का मार्ग हुआ करता है।

(पहिले यह लिखा जा चुका है कि वाचक शब्दों द्वारा व्यभिचारीभावों का कथन किया जाना उचित नहीं है और यहाँ उन व्यभिचारिभावों के साक्षात् शब्द निवेदित होने से ही रसादि प्रतीत हुआ करते हैं, ऐसा कहा है। ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। इस प्रकार की शङ्का उत्पन्न होने पर समाधान यह होगा—कि वाच्यार्थ की प्रतीति से अव्यवहित व्यभिचारिभाव की प्रतीति होना चाहिये, यही यहाँ साक्षात् शब्द निवेदितत्व से अभिप्रेत है। व्यभिचारिभाव का वाच्यत्व इष्ट नहीं है। जैसे—'कुमार सम्भव' के वसन्त वर्णन के प्रसङ्ग में वासन्ती पुष्पों के आभूषणों से अलङ्कृत पार्वती (आलम्बन विभाव) के आगमन से लेकर कामदेव के शरसन्धान पर्यन्त (अनुभाव वर्णन) तथा धैर्यच्युत शिव जी की चेष्टाविशेष वर्णनादि (व्यभिचारिभाव) साक्षात् शब्द निवेदित हैं। अतएव वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरस-ध्वनि है।

'एवंवादिन देवर्षौ' इत्यादि श्लोक में तो लीलाकमल के पत्रों की गणना द्वारा सामर्थ्य से आक्षिप्त (लज्जारूप) व्यभिचारिभाव द्वारा रस की प्रतीति होती है अतएव (रसध्वनिरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेद से पृथक् अर्थशक्तुद्भव संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यरूप) यह दूसरा ही ध्वनि का प्रकार है।

(इससे यह भी सूचित होता है कि रसादि सदैव व्यङ्ग्य ही हुआ करते हैं, वाच्य नहीं, किन्तु उनका असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होना आवश्यक नहीं है। वह कभी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के द्वारा भी प्रतीत हो सकते हैं। किन्तु उत्तरवर्ती आचार्य रसादिध्वनि को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही स्वीकार करते हैं। उनके द्वारा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के जितने भेद किये गये हैं उन सभी के उदाहरण वस्तुध्वनि अथवा अलङ्कारध्वनि में से ही दिये गये हैं।)

जिन स्थलों पर शब्दव्यापार की सहायता द्वारा अर्थ अन्य अर्थ को प्रकट किया करता है वह अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का विषय नहीं हुआ करता है। उन स्थलों पर गुणीभूतव्यङ्ग्य हो जाया करता है।

जैसे—

"इस श्लोक में 'विट' शब्द का प्रयोग हुआ है। वैसे तो नायक के शृङ्गार सहायक को भी विट कहा जाता है किन्तु यहाँ पर 'विट' का अर्थ उपपति है। नायक-नायिका के मिलन समय पर उपपति से सम्बन्धित जिज्ञासा को समझकर चतुरा (विदग्धा-नायिका) ने नेत्रों द्वारा अपने अभिप्राय को प्रकट करते हुये, हँसते हुये अपने हाथ के लीलाकमल को बन्द कर दिया।"

यहाँ लीलाकमल के निमीलन द्वारा सङ्केतकाल की व्यञ्जकता ('नेत्रार्पिताकूतं' पद ने) शब्द द्वारा ही सूचित कर दी है। अतएव यह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है॥२२॥

व्यङ्ग्यार्थ की स्वशब्दोक्ति होने पर ध्वनि नहीं–और इसी से कहा भी है कि:—

शब्दशक्ति, अर्थशक्ति अथवा शब्द, अर्थ उभयशक्ति से आक्षिप्त (व्यङ्ग्य) होने पर भी जहाँ कवि पुन: अपने वचन द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त कर दिया करता है वह (व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यसिद्धि का अङ्ग होकर गुणीभूत बन जाने के कारण) ध्वनि से भिन्न अन्य ही (श्लेष आदि) अलङ्कार हुआ करता है॥२३॥

शब्दशक्ति, अर्थशक्ति अथवा शब्दार्थोभयशक्ति से आक्षिप्त होने पर भी व्यङ्ग्य अर्थ को जहाँ कवि पुन: अपनी उक्ति द्वारा प्रकट कर दिया करता है वह इस अनुस्वानोपम (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) ध्वनि से पृथक् ही (श्लेष आदि) अलङ्कार हुआ करता है। अथवा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का यदि कोई इस प्रकार का उदाहरण मिलना सम्भव हो तो (वाच्यालङ्कार से भिन्न) वह उस प्रकार का (विशेष- चमत्कारजनक) दूसरा ही अलङ्कार हुआ करता है।

(प्रस्तुत कारिका से पूर्व संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य तथा अर्थशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य—ये दो भेद किये थे। किन्तु प्रस्तुत कारिका में उभयशक्त्युद्भव नामक तृतीय भेद भी सूचित किया है। "शब्दश्च अर्थश्च इति शब्दार्थौ" इतने विग्रह से शब्दशक्त्युत्थ तथा अर्थशक्त्युत्थ ये दो भेद और तदनन्तर 'शब्दार्थौ च शब्दार्थौ चेत्येकशेष:' इस भाँति द्वन्द समास में एक शेष करके 'शब्दार्थौ' पद से ही उभयशक्त्युत्थरूप तृतीय भेद का भी प्रतिपादन किया गया है।

'सान्यैवालङ्कृतिध्वने:' की व्याख्या भी वृत्तिकार द्वारा दो प्रकार से की गई है। एक पक्ष में 'ध्वने:' पद को पञ्चम्यन्त तथा संलक्ष्यक्रम का बोधक मानकर 'सोऽस्मादनुस्वानोपम-व्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कार:' इस प्रकार की व्याख्या की है तथा दूसरे पक्ष में "ध्वने:" को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का बोधक तथा षष्ठ्यन्त पद स्वीकार कर "असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वने: सति सम्भवे स तादृ-गन्योऽलङ्कार" इस प्रकार की व्याख्या की है। यदि स्वशब्द द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का कथन कर दिया जाता है तो उसकी प्रधानता नष्ट हो जाया करती है तथा श्लेषादि अलङ्कारों की प्रधानता हो जाया करती है। ऐसी स्थिति में व्यङ्ग्य के गुणीभूत हो जाने के कारण 'ध्वनि' व्यवहार न होकर श्लेषादि अलङ्कार का व्यवहार हो जाया करता है।)

उसमें शब्दशक्ति से (आक्षिप्त, शब्दशक्त्युद्भवव्यङ्ग्य, स्वशब्द द्वारा कथित हो जाने के कारण गुणीभूत और श्लेषालङ्कार प्रधान हो गया है—जैसे—

(वत्से मा गा इत्यादि) (समुद्र मन्थन के समय स्वभाव से ही सुकोमल होने के कारण समुद्र की भयङ्कर तरङ्गों को देखकर) मन्थन से भयभीत लक्ष्मी को (उसके पिता) समुद्र ने भय को दूर करने के बहाने (यह कहकर कि हे पुत्री! घबराओ नहीं, तेज़ गति से चलने वाली लम्बी उससों को बन्द करो, इतना अधिक काँप क्यों रही हो, शक्ति की विनाशक इन जँभाइयों को बन्द करो, वरुण तथा प्रजापति ब्रह्मा तो तुम्हारे गुरु, पितृ-समान हैं, ऐश्वर्य के मद में मस्त इन्द्र को भी छोड़ो, इस भाँति भय-शमन करने के बहाने अन्य सभी देवताओं के साथ विवाह करने का निषेध कराके, यहाँ विष्णु के समीप जाओ, ऐसा कहकर जिन विष्णु को अपनी पुत्री को वधूरूप में प्रदान कर दिया, ऐसे वे विष्णु तुम्हारे दु:खों को दूर करें। यह वाच्यार्थ है। यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है कि हे वत्से! लक्ष्मी! तुम विषभक्षक शिव को वरण न करो, वायु तथा अग्नि देवों को भी वरण न करो, वरुण तथा ब्रह्मा तो तुम्हारे पुज्य ही हैं, अत: उन दोनों का वरण न करो, परम ऐश्वर्यशाली इन्द्र से तुम्हें प्रयोजन ही क्या है? अतएव सर्वश्रेष्ठ विष्णु का ही तुम वरण करो, इस भाँति व्यञ्जना वृत्ति से भय को दूर करने के बहाने से अन्य देवों के वरण का निषेध कराके समुद्र ने अपनी पुत्री लक्ष्मी को जिसे प्रदान कर दिया, वह विष्णु तुम्हारे सम्पूर्ण पापों को दग्ध करें।

इस स्थल पर देवताओं के निषेध का अर्थ व्यङ्ग्य हो सकता था किन्तु "भयशमनछद्मना" में छद्मशब्द द्वारा कवि ने उसकी व्यङ्ग्यता को वाच्य बना दिया। इसी से चारुत्व के न रहने से यह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का उदाहरण न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है।

अब अर्थशक्तिमूल व्यञ्जना से व्यञ्जित होने वाले व्यङ्ग्य का गौणत्व बतलाते हैं:—
जैसे—कोई चतुर कामुकी पथिक से कह रही है:—

हे पान्थ! वृद्धा माता जी यहाँ पर शयन करती हैं और वृद्धों के अग्रगण्य पिता जी यहाँ। सम्पूर्ण घर का काम करने से अत्यधिक थकी हुई दासी यहाँ सोती है, मैं अभागिनी कि जिसके पति कुछ दिनों से परदेश चले गये हैं, इस (कमरे) में एकाकी पड़ी रहा करती हूँ। इस भाँति तरुणी ने अवसर बतलाने के लिये बहाने से पथिक को कहा।

यहाँ युवती की सम्भोगेच्छा और किसी प्रकार के बन्धन से रहित यथेष्ठ सम्भोग के अवसर का सूचनरूप जो व्यङ्ग्य है, उसको कवि ने 'अवसरव्याहृति-व्याजपूर्वम्' द्वारा अपने शब्दों में ही कह दिया है, अत: यह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि अथवा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का उदाहरण नहीं रह सका तथा व्यङ्ग्य के गुणीभूत तथा अलङ्कार के प्रधान हो जाने से श्लेष का ही उदाहरण बन गया है।

इसी भाँति उभयशक्ति से आक्षिप्त उभयशक्त्युत्थ व्यङ्ग्य भी शब्द द्वारा कथित होने से गुणीभूत और श्लेषालङ्कार प्रधान हो गया है:—जैसे—"दृष्ट्या केशव गोपराग०" इत्यादि में।

(इस श्लोक में उभयशक्त्युद्भव व्यङ्ग्यध्वनि में उभयशक्त्युत्थता का समन्वय लोचनकार द्वारा इस प्रकार से किया गया है कि गोपरागादि पदों में श्लेष होने से उस अंश में शब्दशक्त्युत्थता तथा प्रकरण की दृष्टि से अर्थशक्त्युत्थता के आने से यह उभयशक्त्युत्थता का उदाहरण बन गया है। किन्तु नये आचार्यों द्वारा इस प्रकार के स्थलों पर उभयशक्त्युत्थता का

समन्वय शब्दपरिवृत्ति सहत्व और शब्दपरिवृत्ति असहत्व के आधार पर किया गया है। उनके मतानुसार यहाँ 'केशव गोपरागहृतया' में 'केशव गोपराग' शब्दों के रहने पर ही ध्वनि की सत्ता विद्यमान रहा करती है। यदि उनको बदलकर राग के पर्यायवाची स्नेहादि शब्द रख दिये जायँ तो ध्वनि की सत्ता नहीं रहा करती है। अतएव शब्दपरिवृत्त्यसह होने के कारण यह ध्वनि शब्दशक्त्युत्थ है। किन्तु आगे 'स्खलितास्मि' इत्यादि में शब्द को बदलकर के 'पतितास्मि' आदि रख देने पर भी व्यङ्ग्य में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती है। अतएव उस अंश के परिवृत्तिसह हो जाने से अर्थशक्त्युत्थ व्यङ्ग्य हो जाता है। ऐसी दशा में एक अंश में 'शब्दशक्त्युत्थ' तथा दूसरे अंश में अर्थशक्त्युत्थ होने से यह उभयशक्त्युत्थ का उदाहरण हो जाता है। इस भाँति शब्दपरिवर्तन को सहन न कर सकने वाले गुण, अलङ्कार, ध्वनि आदि को शब्दनिष्ठ तथा शब्दपरिवर्तन को सहन करने वाले को अर्थनिष्ठ मानकर शब्दपरिवृत्ति असहत्व तथा शब्दपरिवृत्ति सहत्व के आधार पर ही नवीन आचार्यों द्वारा शब्दनिष्ठता अथवा अर्थनिष्ठता का निर्णय किया जाता है।)

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के प्रकार–इस भाँति संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के तीनों प्रकार दिखला दिये गये जिनमें शब्दशक्त्युत्थ का सविस्तार वर्णन किया जा चुका है। अब अर्थशक्त्युद्भव के स्वतःसम्भवी तथा (कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध—दोनों को मिलाकर) प्रौढोक्तिसिद्ध प्रकारों का वर्णन करते हैं।

"अन्य वस्तु (अलङ्कार अथवा वस्तु) का अभिव्यञ्जक अर्थ भी स्वतः-सम्भवी तथा प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध भेदों से दो प्रकार का है। (इनमें भी द्वितीय भेद के दो प्रकार होते हैं—(१) कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा (२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-सिद्ध।) इस भाँति अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के तीन प्रकार हो गये।"

(तीनों प्रकार के ये व्यञ्जक अर्थ, वस्तु और अलङ्कार के भेद से दो-दो प्रकार के होकर ३×२=६ व्यञ्जक अर्थ तथा उसी प्रकार ६ प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ, दोनों मिलाकर (६+६=१२) अर्थशक्त्युद्भव के बारह भेद हो गये।)

कवि प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से वस्तु-व्यङ्ग्य का उदाहरण–(कामदेव का मित्र) वसन्त-समय युवतिजनों की ओर लक्ष्य करके नूतन पल्लवों की पंखुड़ी रूप पंखों से युक्त, अत्यधिक सौरभ से युक्त नवीन आम्रमञ्जरी रूप कामदेव को बाणों को निर्माण करता है, किन्तु प्रहारार्थ उसको देता नहीं है।

यहाँ पर अचेतन वसन्त बाणों का निर्माता है, कामदेव उनका प्रयोग करने वाला धनुर्धारी है, आम्रमञ्जरी आदि बाण हैं तथा युवतियाँ उनका लक्ष्य हैं, इत्यादि अर्थ कविप्रौढोक्तिमात्र से सिद्ध है। लोक में इस प्रकार का कोई धनुर्धारी है और न उसके बाण। इसी से कवि प्रौढक्तिमात्र सिद्ध वस्तु से कामदेवोत्मथन का प्रारम्भ तथा उत्तरोत्तर उसका विजृम्भणरुप वस्तु व्यङ्ग्य है।

कवि निबद्ध वक्ता की प्रौढोक्तिवश निष्पन्न अर्थ से अभिव्यञ्जित ध्वनि का उदाहरण-शिखरिणि इत्यादि (प्रथम उद्योत, १३वां श्लोक)

इस श्लोक में जो चमत्कारोत्पादक व्यङ्ग्य-अर्थ है, उसकी प्रतीति कवि निबद्ध-साभिलाष तरुण रुप वक्ता की विशेषता से ही होती है। उसी बात को यदि केवल कवि के शब्द में अधर के समान विम्बफल को तोता काट रहा है इस रुप में कह दिया जाय तो इसमें कोई चमत्कार नही आता है। अतएव सहृदय व्यक्ति कविप्रौढोक्त सिद्ध की, अपेक्षा कवि निबद्ध वस्तु प्रौढोक्ति सिद्ध को अधिक चमत्कारोत्पादक कहते है तथा उसकी गणना भी कवि प्रौढोक्ति सिद्ध से पृथक् ही करते हैं। कवि में स्वतः रागाधाविष्टता नहीं हुआ करती है किन्तु कवि निबद्ध में रागाधाविष्टता हुआ करती है। इसी कारण उसका कथन अधिक चमत्कारोत्पादक हुआ करता है।

प्रस्तुत श्लोक में कामुक-नायक अनुनय विनयपूर्वक नायिका से कह रहा है—हे शोभनमुखवाली! प्रत्यधिक भाग्यशाली तोते के बच्चे ने किस पर्वत पर कितने दिनों तक कौन-सा तीव्र तप किया है कि जिसके कारण तुम्हारे लाल एवं सुस्वादु मधुर विम्बफल को बड़े चाव के साथ चख रहा है। यहाँ यह व्यङ्ग्य-अर्थ निकलता है कि "अतिभाग्यवान् पुण्यात्मा व्यक्ति ही तेरे अधर-रस का पान कर सकता है।"

यहाँ पर नायिका के अधरसदृश लोहित विम्बफल का आस्वादन रूप वस्तु उक्त व्यङ्ग्यात्मक वस्तु को प्रकट कर रहा है। अत: यह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के कवि-निबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध भेद का उदाहरण है।

अथवा जैसे—

"आदर के साथ सहारा देते हुये युवावस्था के सहारे उठने वाले तुम्हारे दोनों उन्नत स्तन कामदेव को अभ्युत्थान-सा प्रदान कर रहे हैं।

(इसमें भी कविकल्पित कामुक व्यक्ति की प्रौढोक्तिवश निष्पन्न होकर उक्त वाच्यार्थ उस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करता है।)

(कवि तथा कविनिबद्ध की कल्पना के लोक से) बाहर भी उचितरूप से जिनकी सत्ता की संभावना हो, केवल (कवि अथवा कविनिबद्ध के) कथनमात्र से ही सिद्ध न होता हो वह 'स्वत: संभवी' कहलाता है। जैसे 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि।

अथवा (कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध का तृतीय उदाहरण) जैसे—

"मोर पङ्ख का कर्णपूर धारण किये हुये व्याध की नववधू मुक्ताफलों के आभूषणों से अलङ्कृत सपत्नियों के मध्य अभिमान से फूली हुई घूम रही है।"

इस उद्धरण में वस्तु केवल कविकल्पनासिद्ध नहीं है, वस्तुत: लोक में भी उसका होना सम्भव है, इसलिये वह स्वत:सम्भवी है। अभिमान का कारण यह है कि जब सपत्नियों के दिन थे तब तो व्याध हाथी आदि को मारकर लाया करता था जिससे गज-मुक्ता के आभूषण बना करते थे किन्तु अब तो मेरे समीप से निकलने का अवकाश ही नहीं मिला करता है। यह सौभाग्यातिशय व्यङ्ग्य है।

उपर्युक्त पाँचों उदाहरणों में वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य है।।२४।।

ध्वन्यालोकः

अब आगे अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य ध्वनि का निरूपण करते हैं:—

अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः।।२५।।

जहाँ अर्थशक्ति से (वाच्यालङ्कार से भिन्न) दूसरे अलङ्कार की प्रतीति हुआ करती है वह ध्वनि (काव्य) का दूसरा (अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्य) संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य (नामक) भेद है॥२५॥

वाच्यालङ्कारव्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलङ्कारोऽर्थसामर्थ्यात्प्रतीयमानोऽवभासते सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानरूपव्यङ्ग्योऽन्यो ध्वनिः।।२५।।

जिस स्थल पर वाच्य-अलङ्कार से भिन्न दूसरा अलङ्कार अर्थ की सामर्थ्य से व्यङ्ग्यरूप से प्रतीत हुआ करता है वह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि (का अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्यरूप दूसरा भेद) अन्य है॥२५॥

(जहाँ पर वाच्यरूप अलङ्कार से भिन्न व्यङ्ग्यात्मक-अलङ्कार अर्थनिष्ठ व्यञ्जना द्वारा अभिव्यक्त हुआ करता है उसको अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अलङ्कारध्वनि कहा जाया करता है।)

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्येदमुच्यते–

उस (अर्थशक्तिमूल अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्यध्वनि) का विषय अति स्वल्प ही होगा। इस प्रकार की आशङ्का के उत्पन्न होने पर यह कहते हैं:—

रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः।
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदशितः।।२६।।

साधारणरूप से वाच्यरूप से प्रतीत होने वाला जो रूपक आदि अलङ्कार-समूह है वह (अन्य स्थलों पर, अन्य उदाहरण में) सब गम्यमानरूप में (भट्ट- उद्भट आदि ने अत्यधिक मात्रा में दिखलाया है॥२६॥

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र भवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। तथा च सन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्यलङ्कारान्तरस्यालङ्कारान्तरे व्यङ्ग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम्।।२६।।

अन्य उदाहरणों में वाच्यरूप से प्रसिद्ध जो रूपक आदि अलङ्कार-समूह है वह अन्य स्थलों पर प्रतीयमानरूप से भट्टोद्भट आदि ने अत्यधिक विस्तार से दिखलाया है। इसी कारण 'सन्देह' आदि अलङ्कारों में रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति आदि (दूसरे अलङ्कारों का प्रतीयमानत्व (व्यङ्ग्यत्व)) दिखलाया है। इसी दृष्टि-दृष्टि के कारण अलङ्कार का दूसरे अलङ्कार में व्यङ्ग्यत्व (अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य) हो सकता है, इसका प्रतिपादन प्रयत्नसाध्य (कठिन) नहीं है॥२६॥

लोचनम्

एवमर्थशक्त्युद्भवो द्विभेदो वस्तुमात्रस्य व्यञ्जनीयत्वे वस्तुध्वनिरूपतया निरूपितः। इदानीं तस्यैवालङ्काररूपे व्यञ्जनीयेऽलङ्कारध्वनित्वमपि भवतीत्याह-अर्थेत्यादि। न केवलं शब्दशक्तेरलङ्कार प्रतीयते पूर्वोक्तनीत्या यावदर्थशक्तेरपि। यदि वा न केवलं यत्र वस्तुमात्रं प्रतीयते यावदलङ्कारोऽपीत्यपि शब्दार्थः। अन्यशब्दं व्याचष्टे-वाच्येति।।२५।।

आशङ्क्येति शब्दशक्त्या श्लेषालङ्कारो भासत इति सम्भाव्यमेतत्। अर्थशक्त्या तु कोऽलङ्कारो भातीत्याशङ्काबीजम्। सर्व इति प्रदर्शित इति च पदेनासम्भावनात्र मिथ्यैवेत्याह।

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै सन्देहं विदुर्यथा।। इति।।
तस्याः पाणिरयं नु मारुतचलत्पत्रांगुलिः पल्लवः।

इत्यादावुपमा रूपकं वा ध्वन्यते। अतिशयोक्तेश्च प्रायशः सर्वालङ्कारेषु ध्वन्यमानत्वम्। अलङ्कारान्तरस्येति। यत्रालङ्कारोऽप्यलङ्कारान्तरं ध्वनति तत्र वस्तुमात्रेणालङ्कारो ध्वन्यत इति कियदिदम सम्भाव्यममिति तात्पर्येणालङ्कारान्तरशब्दो वृत्तिकृता प्रयुक्तो न तु प्रकृतोपयोगी; न ह्यलङ्कारेणालङ्कारो ध्वन्यत इति प्रकृतमदः; अर्थशक्त्युद्भवे ध्वनौ वस्त्विवावलङ्कारोऽपि व्यङ्ग्य इत्येतावतः प्रकृतत्वात्। यथा चोपसंहारग्रन्थे 'तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः' इत्यत्र श्लोके वृत्तिकृत 'ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्याम्' इत्युपक्रम्य तत्रेह प्रकरणाद्व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्' इति वक्ष्यति। अन्तरशब्दो वोभयत्रापि विशेष पर्यायः; वैषयिकी सप्तमी, न तु प्राग्व्याख्यायामिव निमित्तसप्तमी। तदयमर्थः-वाच्यालङ्कार विशेषविषये व्यङ्ग्यालङ्कारविशेषो भातीत्युद्भटादिभिरुक्तमेवेत्यर्थशक्त्यालङ्कारो व्यज्यत इति तैरुपगतमेव। केवलं तेऽलङ्कारलक्षणकारत्वाद्वाच्यालङ्कारविशेष-विषयत्वेनाहुरिति भावः।।२६।।

इस भाँति अर्थशक्त्युद्भव दो प्रकार का होता है, वस्तुमात्र के व्यञ्जनीय होने पर वस्तुध्वनिरूप से वह निरूपण किया गया, अब उसी के अलङ्काररूप के व्यञ्जनीय होने पर अलङ्कारध्वनित्व भी होता है, यह कहते हैं—अथ० इत्यादि। न केवल शब्दशक्ति से अलङ्कार की प्रतीति हुआ करती है अपितु पूर्वोक्त नीति से अर्थशक्ति से भी (अलङ्कार की प्रतीति हुआ करती है। यदि वा 'भी' (अपि) शब्द का अर्थ है कि न केवल जहाँ वस्तुमात्र प्रतीत होता है, अपितु अलङ्कार भी। 'अन्य' शब्द की व्याख्या करते हैं—वाच्य०॥२५॥

आशङ्का करके—। शब्दशक्ति से श्लेष आदि अलङ्कार भासित होता है, यह तो सम्भाव्य है, परन्तु अर्थशक्ति से कौन-सा अलङ्कार प्रतीत होता है! यह आशङ्का का बीज है। 'सब' और 'दिखाया गया है' इन दोनों से 'यहाँ असम्भावना मिथ्या ही है' यह कहते हैं।

उपमान के साथ (उपमेय का) अभेद और पुनः भेद कहते हुये कवि के ससन्देह वचन को स्तुति के लिये ससन्देह मानते हैं। जैसे—

उस (नायिका) का यह हाथ है अथवा वायु से चंचल पत्तों की उँगलियों वाला पल्लव है।

इत्यादि में उपमा अथवा रूपक ध्वनित होता है और अतिशयोक्ति प्राय: सभी अलङ्कारों में ध्वनित होती है। अलङ्कारान्तर का—। जहाँ अलङ्कार भी अन्य अलङ्कार को ध्वनित करता है वहाँ वस्तुमात्ररूप से अलङ्कार ध्वनित होता है, कितना असम्भाव्य ही है, इस तात्पर्य से वृत्तिकार ने 'अलङ्कारान्तर' शब्द का प्रयोग किया है न कि प्रकृत में (वह शब्द) उपयोगी है; क्योंकि यह प्रकृत नहीं कि अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनित होता है, अपितु इतना ही प्रकृत है कि अर्थशक्त्युद्भवध्वनि में वस्तु की भाँति अलङ्कार भी व्यङ्ग्य होता है, जैसा कि उपसंहार ग्रन्थ में 'वे अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग होकर अधिक छाया प्राप्त करते हैं' इस स्थल पर वृत्तिकार 'ध्वनि का अङ्गत्व दो प्रकारों से' यह उपक्रम करके 'वहाँ यह प्रकरण से व्यङ्ग्य होने के कारण यह जानना चाहिये' यह कहेंगे। अथवा 'अनन्तर' शब्द दोनों स्थलों में विशेष अर्थ का वाचक है, सप्तमी वैषयिकी अर्थात् विषयरूप अर्थ की याचिका है, न कि पहले की व्याख्या के समान निमित्तसप्तमी है। तो अर्थ यह है—वाच्य अलङ्कारविशेष के विषय में व्यङ्ग्य अलङ्कारविशेष प्रतीत होता है, ऐसा उद्भट आदि ने कहा है ही, अर्थात् अर्थशक्ति से अलङ्कार व्यञ्जित होता है, यह उन्होंने माना ही है। भाव यह है कि केवल उन्होंने अलङ्कार—लक्षणकार होने के नाते वाच्य अलङ्कारविशेष के विषयरूप से कहा है।।२६।।

मंजूआशुबोधिनी

इस प्रकार वस्तु ध्वनि का निरूपण कर देने के पश्चात् अब अलङ्कार ध्वनि का निरूपण करते हैं:—

जिस काव्य में वाच्यभूत अलङ्कार से भिन्न व्यङ्ग्यरूप अलङ्कार भी अर्थनिष्ठ व्यञ्जना से प्रतीत होता है वह वस्तुध्वनि से अतिरिक्त संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यात्मक अर्थ-शक्त्युद्भव अलङ्कार ध्वनि नामक प्रकार होता है।।२५।।

जिन स्थलों पर वाच्यरूप अलङ्कार से भिन्न व्यङ्ग्यात्मक अलङ्कार अर्थनिष्ठ व्यञ्जना द्वारा अभिव्यक्त हुआ करता हैं, उसको अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अलङ्कारध्वनि कहा जाता है।

कहने का अभिप्राय यह है, जिस भाँति कविप्रौढोक्तिसिद्ध आदि तीन प्रकार की वस्तुओं द्वारा अभिव्यंजित तीन प्रकार की वस्तुध्वनि हुआ करती है उसी भाँति तादृश तीन प्रकार के अलङ्कारों द्वारा अभिव्यंजित तीन प्रकार की अलङ्कार ध्वनि भी जाननी चाहिये।

पहले बतलाये गये प्रकार से शब्दशक्तिमूल श्लेषादि अलङ्कारध्वनि के संभव होने पर भी अर्थशक्तिमूल अलङ्कारध्वनि का होना प्राय: संभव नहीं है, इस शंका का निवारण अग्रिम कारिका द्वारा करते हैं:—

जो रूपक आदि अलङ्कार समूह वाच्यरूप से प्रसिद्ध हैं, उन सभी का भट्ट उद्भट आदि

ने अधिक स्थलों पर व्यङ्ग्यरूप में प्रतिपादन किया है। अतएव अर्थशक्तिमूल अलङ्कार ध्वनि की प्रविरलविषयता नहीं है॥२६॥

कहीं पर वाच्यरूप से व्यवहृत रूपक आदि अलङ्कार समूह को ही अन्य स्थलों पर वाच्यभूत अन्य अलङ्कार के प्रति अधिकतर व्यङ्ग्यरूप में अर्थशक्तिमूल व्यञ्जना के द्वारा भट्टा उद्भट आदि ने प्रतिपादन किया है।

जैसे भगवान् राम को दूर से ही आते देखकर ऋषिलोग सन्देह करने लगे कि क्या यह मरकतमणिरूप कोई हरा पर्वत है अथवा क्या यह एक विशाल तमाल का वृक्ष है? इस भाँति राम में मरकतमणिरूप पर्वतत्व एवं तरुण तमाल वृक्षत्वरूप विरुद्ध धर्मविषयक सन्देह शब्द द्वारा ही प्रतिपाद्य है। अतएव सन्देह नामक अलङ्कार की वाच्यरूप से ही प्रतीति होती है, उसी प्रकार राम में उक्त पर्वत एवं तमालवृक्ष के सादृश्य के कारण उपमा, तादात्म्य के आरोप से रूपक तथा तादात्म्य के अध्यवसाय से अतिशयोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्यरूप में भासित हो रहे हैं। अतएव एक वाच्यरूप अलङ्कार के प्रति दूसरे अलङ्कार का व्यङ्ग्यत्व सिद्ध करने के लिये अधिक क्लिष्ट कल्पना करने की आवश्यकता नहीं हुआ करती है॥२६॥

ध्वन्यालोक

अलङ्कारध्वनि में अलङ्कार की प्रधानता–इयत् पुनरुच्यते एव—

(फिर भी केवल) इतनी बात (तो विशेषरूप से) कहते ही हैं:—

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।

तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥२७॥

(एक वाच्य अलङ्कार से दूसरे) अलङ्कारान्तर की प्रतीति होने पर भी जहाँ वाच्य (अलङ्कार) तत्पर नहीं है (प्रतीयमान अलङ्कार को प्रधानरूप से बोधित नहीं करता है) हमारे मतानुसार उसे ध्वनि का विषय नहीं स्वीकार किया जा सकता है॥२७॥

((किन्तु) जिस काव्य में वाच्य से व्यतिरिक्त व्यङ्ग्यरूप अलङ्कार की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थ व्यङ्ग्य का उपकारक अथवा व्यङ्ग्य की अपेक्षा अप्रधानरूप से भासित नहीं हुआ करता है, वह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का विषय नहीं माना जाता है, अपितु गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का ही विषय स्वीकार किया जाता है।)

अलङ्कारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्य प्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः। तथा च दीपकालङ्कारे उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यवस्थानान्न ध्वनिव्यपदेशः। यथा–

(दीपक आदि) अन्य अलङ्कारों में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (उपमा आदि) दूसरे अलङ्कार की प्रतीति होने पर भी जहाँ वाच्य (दीपक आदि अलङ्कार) की व्यङ्ग्य (उपमा आदि) प्रतिपादन–चतुर्थ से ही चारुत्व की प्रतीति नहीं हुआ करती है, वह ध्वनि का मार्ग नहीं है। इसी से दोपक आदि अलङ्कार में उपमा के गम्यमान होने पर भी उस (उपमा) की प्रधानता से चारुत्व की व्यवस्था न होने से (वहाँ उपमालङ्कार में) ध्वनि का व्यवहार नहीं हुआ करता है। इसी बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं:—जैसे—

चन्दमऊएहिँ णिसा णलिनी कमलेहिँ कुसुमगुच्छेहिं लआ।
हँसेहिँ सरअसोहा कव्वकहा सज्जनेहिँ करइ गरुइ।।
(चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैर्लता।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वीः।। इतिच्छाया।।)

इत्यादिषूपमागर्भत्वेऽपि सति वाच्यालंकारमुखेनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते न व्यङ्ग्यालङ्कारतात्पर्येण। तस्मात्तत्र वाच्यालङ्कारमुखेनैव काव्यव्यपदेशो न्याय्यः।

चन्द्रमा की किरणों से रात्रि, कमल के फूलों से नलिनी, फूलों के गुच्छों से लता, हंसों से शरद-ऋतु और सज्जनों से काव्यकथा अत्यन्त रमणीय प्रतीत हुआ करती है।

दीपक के इस उदाहरण में अप्रस्तुत चन्द्रमा की किरण आदि का और प्रस्तुत सज्जनव्यक्ति का कर्त्ता के रूप में एवं निशा आदि अप्रस्तुत का तथा काव्यकथा रूप प्रस्तुत का कर्मरूप से रमणीयता के आपादनरूप एक धर्म के साथ सम्बन्ध बोधक दीपकालङ्कार के वाच्यरूप से भान होने पर भी चन्द्रकिरण आदि का सज्जन के साथ तथा 'रात्रि' आदि का काव्यकथा के साथ सम्बन्ध के बिना वाच्यार्थ संलग्न नहीं होता है। अतएव जैसे चन्द्रिका आदि से रात्रि आदि रमणीय हुआ करती है, उसी प्रकार सज्जन विद्वानों से काव्यकथा रमणीय बन जाया करती है। इस भाँति व्यञ्जना द्वारा उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्यरूप होते हुये भी उक्त वाच्यार्थ का पोषक रूप में ही प्रतीत होता है। अतएव उक्त व्यङ्ग्य की प्रधानता न होने से ध्वनि का व्यवहार नहीं हुआ करता है।

यत्र तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यङ्ग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्तः यथा—

और वाच्य-अलङ्कार की स्थिति व्यङ्ग्य-अलङ्कार परतया (व्यङ्ग्य की प्रधानता परक) ही हो वहाँ व्यङ्ग्य-अलङ्कार के अनुसार ही नामकरण करना उचित है। जैसे—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या–
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात–
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः।।

(अब आगे व्यङ्ग्य-अलङ्कार के अनुसार नामकरण अर्थात् व्यवहार होना ही उचित है। इस बात को स्पष्ट करने की दृष्टि से अलङ्कारध्वनि के ग्यारह उदाहरणों को देकर विस्तार के साथ इस विषय की विवेचना की गई है। अलङ्कारध्वनि के इस प्रसङ्ग में जहाँ वाच्य-अलङ्कार व्यङ्ग्य-अलङ्कार को प्रकट करता है, वहाँ अलङ्कार-से अलङ्कार व्यङ्ग्य हुआ करता है। कहीं-कहीं वाच्य-अलङ्कार की विद्यमानता तो रहा करती है, किन्तु वह व्यञ्जक नहीं हुआ करता है और कहीं पर वाच्य-अलङ्कार होता ही नहीं है। इन दोनों प्रकार की स्थितियों में अलङ्कार से भिन्न, वस्तुमात्र अभिव्यञ्जक हुआ करता है। अतएव उन उदाहरणों में वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य माना जाता है। आगे दिये गये अलङ्कार ध्वनि के ग्यारह उदाहरणों में दोनों ही प्रकार के उदाहरण हैं। उस व्यञ्जक सामग्री में स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध का भी भेद हुआ करता है। इन उदाहरणों का समन्वय करते समय आलोककार

ने इन भेदों का समन्वय नहीं किया है। किन्तु समन्वय करते समय इनका ध्यान रखना उचित ही होगा। इसी आधार पर नवीन आचार्यों द्वारा अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के १२ भेद किये गये हैं।)

कोई चापलूस राजा की प्रशंसा करते हुये कहता है—हे राजन्! आते ही आपके शौर्य-वीर्य-पराक्रमों से आश्चर्यान्वित होकर समुद्र सोचने लगा कि जब मैंने विष्णु को अपनी कन्या लक्ष्मी को ही प्रदान कर दिया है तब फिर वे मुझको क्यों मन्दर से मथन चाहते हैं। अभी तो इन (विष्णु) में आलस्य तथा निद्रा भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं, अतः मेरे अन्दर शयन करने की भी कोई सम्भावना नहीं है, और द्वीप द्वीपान्तरों के राजाओं से घिरे होकर फिर से सेतु को क्यों बाँधना चाहते हैं? इस प्रकार के अनेकों तर्क-वितर्क करते हुये समुद्र को मानों कम्प हो रहा हो? ऐसा प्रतीत होता है।

(इस स्थल पर उक्त रीति से सन्देह तथा उत्प्रेक्षा का सङ्करालङ्कार वाच्यरूप से प्रतीत हो रहा है और उसी से प्रस्तुत राजा में भगवान् का तादात्म्य प्रतीत होने से रूपकालङ्कार ध्वनित होता है। अतएव कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्ति वश निष्पन्न उक्त संकरालङ्कार व्यङ्ग्य रूपक-ध्वनि का विषय है।)

यथा वा ममैव—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्,
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि!।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये,
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः।।

"युवक कामिनी से कह रहा है—हे चञ्चलाक्षि! अपने सौन्दर्य की शोभा से दिगन्त को ही परिपूर्ण करने वाली, तुम्हारे तुम्हारे मुखरूप चन्द्रमा के मुस्कराने पर भी जो यह समुद्र जो यह समुद्र तनिक भी उछलता नहीं था अथवा यह पुरुष कामवासना से अधीर नहीं होता है, अतएव ऐसा ज्ञात होता है कि मानो वस्तुतः यह समुद्र का जल जड़-राशि ही है तथा यह युवक जड़ता से भरा हुआ पूर्णतया जड़ ही है।"

प्रस्तुत पद्य में श्लेष-अलङ्कार से परिपोषित होकर उत्प्रेक्षा अलङ्कार वाच्यरूप से प्रतीत हो रहा है। उदित चन्द्रदर्शन से अचेतन समुद्र भी जब उत्तरलित हो रहा है, तब मनुष्य होकर भी मुस्कुराते हुये तुम्हारे मुख के दर्शन से जो यह व्यक्ति क्षुभित नहीं होता है। अतएव ज्ञात होता है कि यह वस्तुतः जड़ ही है। एतावता तुम्हारा मुख चन्द्रमा है, इस प्रकार रूपकालंकार ध्वनित होता है।

(इस प्रकार के उदाहरणों में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यात्मक रूपक-अलङ्कार के आश्रयण से ही काव्य की रमणीयता प्रतीत हो रही है। अतएव रूपकध्वनि का व्यवहार होना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।)

उपमाध्वनिर्यथा–

वीराणं रमइ घुसिणरुणम्मि ण तहा पिआथणुच्छङ्गे।
दिट्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह बहरसिन्दूरे।।

(वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे।।इतिच्छाया।।)

उपमाध्वनि का उदाहरण—जैसे—

"अत्यधिक सिन्दूरों से रँगें हुये शत्रु के हाथियों कुम्भस्थल को देखने में वीरों का मन जितना रमता है उतना कुंकुम से लिये हुये अतिसुन्दर प्रेयसी के स्तन-तटों को देखने में नहीं रमता।"

(इस उदाहरण में वाच्यरूप से व्यतिरेकालङ्कार की प्रतीति हो रही है और उसी से प्रिया के स्तनतट और शत्रु के हाथी के कुम्भस्थल का परस्पर में उपमानोपमेय भाव ध्वनित होकर प्रधानरूप से चमत्कारोत्पादक प्रतीत होता है।)

यथा वा ममैव विषमबाणलीलायासुरपराक्रमे कामदेवस्य–

अथवा जैसे "विषमबाणलीला" नामक स्वरचित काव्य में त्रैलोक्यविजयी कामदेव के (असुरविषयक पराक्रम के वर्णन के प्रसङ्ग में 'उपमाध्वनि' का दूसरा उदाहरण है:—

तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम्।
विम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेन।।
(तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम्।
विम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन।। इति च्छाया।।)

अत्यधिक रक्तवर्ण की कौस्तुभ मणि को प्राप्त करने के लिये एकतान से संलग्न उन असुरों का जो मन तन्मय हो गया था उस मन को कामदेव ने उस कौस्तुभमणि से खींचकर अपनी-अपनी प्रिया के विम्बाफल सदृश अत्यन्त रमणीय रक्तवर्ण के अधर-रस का पान करने के लिये लालायित कर दिया।

(इस स्थल पर वाच्यभूत अतिशयोक्ति द्वारा कौस्तुभमणि तथा प्रिया के अधरविम्ब में उपमानोपमेय भाव ध्वनित होता है अर्थात् कौस्तुभमणि सदृश प्रिया के अधर की प्रतीति होती है। इस भाँति यहाँ उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है। अत: यह कविप्रौढोक्ति अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य उपमाध्वनि का उदाहरण है।)

आक्षेपध्वनिर्यथा–आक्षेपध्वनि का उदाहरण–जैसे–

स वक्तुमखिलान् शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान्।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः।।

जो व्यक्ति पानी के घड़ों को (नापकर) समुद्र का माप करने में समर्थ होगा वही हयग्रीव के सम्पूर्ण गुणों का वर्णन करने में समर्थ हो सकता है।

"अर्थात् जैसे घड़े से समुद्र के पानी के परिमाण को जान सकना असंभव है वैसे ही हयग्रीव के सम्पूर्ण गुणों का बखान करना भी असम्भव है।" इस वाच्यभूतअतिशयोक्ति द्वारा हयग्रीव गुणों का अशक्य कथन द्वारा "आक्षेप" अलङ्कार ध्वनित होता है।

अत्रातिशयोक्त्या हयग्रीवगुणानामवर्णनीयता प्रतिपादनरूपस्यासाधारणतद्विशेष प्रकाशनपरस्य आक्षेपस्य प्रकाशनम्।

प्रस्तुत श्लोक में अतिशयोक्ति से हयग्रीव गुणों के अवर्णनीयत्व प्रतिपादन द्वारा अद्वितीय वैलक्षण्य को सूचित करने वाला 'आक्षेप' अलङ्कार ध्वनित होता है।

अर्थान्तरन्यासध्वनिः शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्योऽर्थशक्तिमूलानुरणन-रूपव्यङ्ग्यश्च सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणम्–

अर्थान्तरन्यासध्वनि के शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि और अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि नामक भेदों से दो प्रकार का होता है:—

तत्राद्यस्योदाहरणम्–

उन दोनों में से प्रथम (शब्दशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि) का उदाहरण निम्नलिखित है:—

देव्वाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणा भणिमो।
कंकिल्लपल्लवाः पल्लवाणं अण्णाणं ण सरिच्छा।।
(दैवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत् पुनर्भणामः।
रक्ताशोकपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः।। इति च्छाया।।)

"भाग्य के अधीन फल है" इस विषय में अपना कोई भी वश नहीं चलता है। फिर भी इतना कह देना तो आवश्यक प्रतीत होता है कि रक्त अशोक के प्रति कोमल पल्लव आम्र आदि के पल्लवों के सदृश नहीं होते हैं।

पदप्रकाशश्चायं ध्वनिरिति वाक्यार्थान्तरतात्पर्येऽपि सति न विरोधः।

यह ध्वनि पदप्रकाश्य भी हुआ करता है। अतएव वाक्य का अर्थान्तर में (अप्रस्तुतप्रशंसा) तात्पर्य होने पर भी (अर्थान्तरन्यास के पद प्रकाश्य होने से) कोई विरोध नहीं होता है। अतएव वाक्य और पद के परस्पर में विभिन्न विषय होने से अर्थान्तरन्यास-ध्वनि के व्ययदेश होने में कोई विपत्ति नहीं आती है।

द्वितीयस्योदाहरणं यथा—दूसरे (अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) भेद का उदाहरण:—

हिअअट्ठाबिअमण्णुं अवरुण्णमुहं हि मं पसाअन्त।
अवरद्धस्स वि ण हु दे पहुजाणअ रोसिउं सक्कम्।।
(हृदयस्थापितमन्युमपरोषमुखीमपि मां प्रसादयन्।
अपराद्धस्यापि न खलु ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम्।। इति च्छाया।।)

(पहले नायक द्वारा किये गये अपराध से क्रोधित होकर भी अति चातुर्य के साथ उस नायक द्वारा मनायी जाने पर संतुष्ट होकर भी ईर्ष्या-कलुषित चित्तगत दुःख को मिटाने के लिए नायिका नायक से पहले उत्पन्न हुये क्रोध के अभाव को व्यक्त करती हुई कह रही है:—) "हे बहुज्ञ! प्रसन्न करने सम्बन्धी अनेकों कलाओं के ज्ञाता प्रिय! अन्दर ही अन्दर क्रोध से जलती रहने पर भी बाहर से केवल दिखावा के लिये ही मुख पर प्रसन्नता को धारण किये हुये मुझको तुम अत्यधिक विलक्षण अनुनन द्वारा प्रसन्न करने वाले दिखलाई देते हो। अतएव अपराधी होते हुये भी तुम पर क्रोध करने में मैं असमर्थ हो रही हूँ।"

इस स्थल पर 'अपराधी होते हुये भी अनुमयादि में पूर्ण कला-कौशल के ज्ञाता आदि चतुर व्यक्तियों पर क्रोध नहीं हो पाता' यह सामान्य अर्थ अर्थशक्ति-मूलव्यञ्जना द्वारा ध्वनित होकर 'अपराधी होते हुये भी नायिका को मनाने में पूर्ण कला के ज्ञाता तुम्हारे सदृश व्यक्ति पर मैं क्रोध नहीं कर सकती'। इस विशिष्ट अर्थ का समर्थन करता है। अतः इसको अर्थशक्तिमूल-अर्थान्तरन्यास-ध्वनि का उदाहरण मानना उचित ही है।

अत्र हि वाच्यविशेषेण सापराधस्यापि बहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकमर्थसामान्यमन्वितमन्यतात्पर्येण प्रकाशते।

उपर्युक्त उदाहरण में 'अपराधी होने पर भी उक्त चतुर बहुज्ञों के ऊपर क्रोध किया जाना असंभव है' ऐसा सामान्य अर्थ, समर्थक होने के कारण वाच्यार्थ से सम्बद्ध होकर भी वाच्यातिरिक्त रूप में ही अर्थशक्तिमूलव्यञ्जना द्वारा अभिव्यञ्जित होकर 'अपराधी होने पर भी तुम्हारे सदृश चतुर व्यक्ति पर क्रोध करना असंभव है' इस विशेष अर्थ का समर्थन करता है। अतएव यह अर्थशक्तिमूल अर्थान्तरन्यास ध्वनि है।

व्यतिरेकध्वनिरप्युभयरूपः सम्भवति। तत्राद्योस्योदाहरणं प्राक् प्रदर्शितमेव। द्वितीयस्योदाहरणं यथा–

व्यतिरेकध्वनि भी दो प्रकार की होती है—१. 'शब्दशक्तिमूल व्यतिरेक-ध्वनि' और २. 'अर्थशक्तिमूलव्यतिरेकध्वनि'। इनमें प्रथम का उदाहरण ''खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति'' इत्यादि पहले दिखालाया जा चुका है। दूसरे भेद अर्थशक्तिमूल व्यतिरेकध्वनि का उदाहरण—जैसे—

जाएज्ज वणुद्देसे खुज्ज व्विअ पाअवो गडिअवत्तो।
मा माणुसम्मि लोए ताएक्करसो दरिद्दो अ।।

(जायेय वनोद्देशे कुब्ज इव पादपोऽघिटितपत्रः।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च।। इति च्छाय।।)

(एकान्त निर्जन) वन में पत्तों से रहित कुबड़ा-वृक्ष बनकर भले ही पैदा हो जाऊँ किन्तु मर्त्यलोक में (जहाँ पर कि मांगने वाले अनायास ही मिलते रहा करते हैं) अति दानशील निर्धन मनुष्य होकर जन्म न लूँ।

प्रस्तुत श्लोक में दानशील निर्धनव्यक्ति के जन्म की निन्दा और पत्तों तथा शाखाओं से रहित कुब्ज (टेढ़े) वृक्ष के जन्मग्रहण की प्रशंसारूप अर्थ वाच्यरूप से भासित होता है। विष खाना अच्छा है किन्तु ऐसे व्यक्ति के घर में खाना उचित नहीं। इसी प्रकार उक्त वृक्ष और पुरुष में सादृश्य ज्ञानपूर्वक उस प्रकार के वृक्ष की अपेक्षा उस प्रकार के पुरुष के अधम जन्म की ही अधिक शोचनीय दशा व्यञ्जना द्वारा ध्वनित होती है। अतएव यहाँ अर्थशक्तिमूलक व्यतिरेक ध्वनि है।

अत्र हि त्यागैकरसस्यदरिद्रस्य जन्मानभिनन्दनम् त्रुटितपत्रकुब्जपादपजन्माभिनन्दनं च साक्षाच्छब्दवाच्यम्। तथाविधादपि पादपात् तादृशस्य पुंस उपमानोपमेयत्वप्रतीतिपूर्वकं शोच्यतायामाधिक्यं तात्पर्येण प्रकाशयति।

पूर्वोक्त बात को ही स्पष्ट करते हैं:—अत्यधिक दानी दरिद्रव्यक्ति के जन्म की निन्दा

और पत्र, शाखा रहित टेढ़े वृक्ष के जन्म की प्रशंसा साक्षात् शब्द द्वारा वाच्यरूप में जानी जाती है। उक्त वृक्ष से भी उस प्रकार के पुरुष के जन्म की उपमानोपमेय भाव का ज्ञानपूर्वक अधिक चिन्तनीयदशा व्यञ्जना वृत्ति द्वारा अभिव्यञ्जित होती है। अतएव यहाँ अर्थशक्तिमूल व्यतिरेकध्वनि है। (यहाँ वाच्य कोई अलङ्कार नहीं है, अतएव स्वतःसम्भवी वस्तु से व्यतिरेकालङ्कारध्वनि व्यङ्ग्य है।)

उत्प्रेक्षाध्वनिर्यथा—उत्प्रेक्षाध्वनि का उदाहरण—जैसे—

(९) चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः।।

चन्दन-वृक्ष पर बैठे हुये अति विषैले सर्पों के फूत्कार भरे निश्वास-वायुओं से वृद्धि को प्राप्त यह मलयवायु वसन्त-ऋतु में पथिकों को मूर्च्छित कर रहा है।

अत्र हि मधौ मलयमारुतस्य पथिकमूर्च्छाकारित्वं मन्मथोन्माथदायित्वेनैव। तत्तु चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितत्वेनोत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तापि वाक्यार्थ सामर्थ्यादनुरणनरूपा लक्ष्यते। न चैवंविधे विषये इवादिशब्दप्रयोगमन्तरेणा-सम्बद्धतैवेति शक्यते वक्तुम्। गमकत्वादन्यत्रापि तदप्रयोगे तदर्थावगतिदर्शनात्। यथा–

वसन्त-ऋतु में कामोद्दीपन द्वारा कष्टप्रद होने से मलयवायु पथिकों के लिये मूर्च्छाकारी हुआ करता है, यह वस्तु स्थिति है। किन्तु यहाँ पर चन्दन वृक्ष में लिपटे हुये अति विषैले सर्पों के निःश्वास-वायु जनित सम्पर्क से ही विषाक्त होकर मानो बढ़ा हुआ दक्षिणवायु कामदेव-मथन-जनित पीड़ा द्वारा विधुरित पथिकों को मूर्च्छित कर रहा है, इस प्रकार की उत्प्रेक्षा (सम्भावना) की गई है। किन्तु उत्प्रेक्षावाचक 'इव' आदि शब्दों के न होने से सम्पूर्ण वाक्यार्थ द्वारा उक्त उत्प्रेक्षा-अलङ्कार व्यङ्ग्यरूप से ध्वनित होता है क्योंकि विषसंसर्ग के बिना मलयवायु मूर्च्छाकारी नहीं हुआ करता है, अतः विष के सम्पर्क के कारण ही ऐसा हो रहा है, यह उप्रेक्षा (सम्भावना) की गई है। जैसे—नायक के द्वारा किये गये अपराध से रूठी हुई मानिनी नायिका मनाता हुआ नायक कह रहा है:—

ईसाकलुसस्स वि तुह मुहस्स णं एस पुण्णिमाचन्दो।
अज्ज सरिसत्तणं पाविऊण अङ्गे विअ ण माइ।।
(ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्रः।
अद्य सदृशत्वं प्राप्याङ्ग एव न माति।। इति च्छाया।।)

अयि मानिनी! देखो, यह सामने दिखलाई पड़ने वाला पूर्णिमा का पूर्णचन्द्र मद्विषयक ईर्ष्या के कारण कुछ कलुषित होकर मलिनता को प्राप्त हुये तुम्हारे मुख की समानता को प्राप्त कर मानो अपने अङ्गों में आनन्द के मारे फूला न समाकर दशों दिशाओं को प्रकाश से भर रहा हो, ऐसा ज्ञात हो रहा है। लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि कोई भी व्यक्ति अलभ्यवस्तु को प्राप्तकर आनन्द के मारे अङ्गों में नहीं समाया करता है। इस स्थल पर भी उत्प्रेक्षा वाचक 'इव' आदि शब्दों के बिना भी उक्त रीति से उत्प्रेक्षालंकार प्रधानरूप से ध्वनित हो रहा है।

यथा वा—अथवा जैसे—

त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्,
पुम्भिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि।
तस्थौ तथाऽपि न मृगः क्वचिदङ्गनाना—
माकर्णपूर्णनयनेषुहतेक्षणश्रीः।।

"सैनिक लोगों के दर्शन से भय के मारे घबराकर शिविरों के चारों ओर भागता हुआ हरिण यद्यपि किन्हीं भी धनुर्धारी पुरुषों के द्वारा नहीं खदेड़ा (पीछा किया) गया, तथापि उन सुन्दरियों के कानों तक फैली हुई विशाल नेत्रों के तिरछे कटाक्ष-बाणों से अपनी आँखों को नष्ट हुई शोभा के कारण मानों पराजित होकर लज्जा के कारण कहीं भी ठहर न सका।"

इस स्थल पर भी उत्प्रेक्षावाचक इव आदि शब्दों के बिना ही कामिनी-कटाक्ष बाणों के आघात से मृग-नेत्र की नष्ट हुई शोभा को ही उसके न ठहरने का कारण सम्भावितकर उत्प्रेक्षालङ्कार ध्वनित होता है।

शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में उत्प्रेक्षा के अभाव का सन्देह नहीं करना चाहिये। क्योंकि शब्द और अर्थ के व्यवहार में कवि-जगत की अनादि परम्परा प्रसिद्धि ही मुख्य कारण हुआ करती है। अतएव उपर्युक्त स्थलों में अर्थ-प्रतीति में सहृदयों की अनुभवसिद्ध प्रसिद्धि ही प्रमाण है।

श्लेषध्वनिर्यथा—श्लेषध्वनि का उदाहरण—जैसे—

(१०) रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं बधूभिर्वलभीर्युवानः।।

महाकवि माघ द्वारा द्वारकापुरी का वर्णन किया जा रहा है:—जिस द्वारिकापुरी में युवकजन (नवयुवक) नवयुवतियों के साथ बलभियों (महल के ऊपरी निजी कमरे) में रमण करते हुये आनन्द प्राप्त करते हैं (लूटते हैं)। अब उन बलभियों तथा युवतियों की श्लेष द्वारा विशेषता को कहते हैं, क्योंकि वे (बलभियाँ) अत्यन्त रमणीय हैं, अतएव पताकाओं से युक्त हैं एवं वे युवतियाँ अति सुन्दर हैं, अतएव ख्याति और सौभाग्य को प्राप्त कर चुकी हैं। वे बलभियाँ एकान्त अथवा जनशून्य स्थान हैं एवं वे युवतियाँ अत्यन्त निर्मल हैं। अतएव सुरताभिलाष को बढ़ाने वाली हैं एवं वे (बलभियाँ) झुके हुये पटलप्रान्त से (छज्जों से) सुशोभित हैं तथा वे युवतियाँ उदर पर स्थित त्रिवलियों से मनोहर प्रतीत होती हैं।

अत्र बधूभिः सह वलभीरसेवन्तेति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं, वध्व इव वलभ्य इति श्लेषप्रतीतिरशब्दाऽप्यर्थसामर्थ्यान्मुख्यत्वेन विवर्तते।

प्रस्तुत उदाहरण में पताका, विविक्त और नमद्वलीक इन तीन शब्दों से श्लेष द्वारा क्रमशः प्रसिद्धि, निर्मल तथा त्रिवलिरूप अन्य अर्थ का बोध होकर विशेष चमत्कृति उत्पन्न होती है। अतएव वधू के सदृश यह बल भी है, इस औपम्य का निर्वाहक श्लेषालङ्कार ध्वनित होता है।

यथासंख्यध्वनिर्यथा—यथासंख्यध्वनि का उदाहरण—जैसे—

अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च सहकारः।

अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च हृदि मदनः।।

कवि द्वारा वसन्त-ऋतु का वर्णन किया जा रहा है:— जैसे-जैसे बाह्य-जगत् में आम्रवृक्ष मंजरी आने के समय पर क्रमशः पहले प्रस्फुटित हुआ, तदनन्तर पल्लवित हुआ और बाद में मुकुलित हुआ और (अन्त में) मंजरियों से लद गया। उसी क्रम से युवकों के हृदय में मदन (काम)-विकार भी पहले जाग्रत हुआ और तदनन्तर कुछ अधिक होकर जानने योग्य हुआ, बाद में अभिलाष का विषय होने लगा और बाद में पूर्ण-विलास को प्राप्त हुआ।

वसन्त के इस वर्णन प्रसङ्ग में प्रस्तुत कामदेव और आम्रवृक्ष का अङ्कुरण आदि समानधर्म के साथ सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता तथा प्रस्तुत कामदेव और आम्रवृक्ष दोनों के अंकुरण आदि का एक साथ ही ज्ञान होने से समुच्चय नामक अलङ्कार वाच्यरूप से प्रतीत हो रहा है। बाद में वाच्यार्थ-बोध में जिस क्रम से उक्त धर्म आदि का ऊपर में उत्तरोत्तर उपादान हो, उसी क्रम से नीचे भी समझने से यथासंख्य अलङ्कार ध्वनित होता है।

अत्र हि यथोद्देशे यच्चारुत्वमनुरणनरूपं मदन विशेषण भूताङ्कुरितादिशब्दगतं तन्मदनसहकारयोस्तुल्ययोगितासमुच्चयलक्षणाद्वाच्यादति-रिच्यमानमालक्ष्यते।

उक्त स्थल में जो क्रम प्रथम उच्चरित सहकार सम्बन्धी अङ्कुरादिगत है, वही क्रम बाद में उच्चरित मदन सम्बन्धी अङ्कुरादिगत भी प्रतीत होता है। अतएव वह क्रम मदन और सहकार का समुच्चय और तुल्ययोगितारूप वाच्यार्थ के अतिरिक्त ही व्यङ्ग्य नामक पदार्थ व्यञ्जना से अभिव्यक्त होने वाला समझा जा रहा है।

एवमन्येऽप्यलङ्कारा यथायोगंयोजनीयाः।।२७।।

उक्तरीति से ही अनुदाहृत अलङ्कारों को भी यथोचित सोचविचार कर काव्य वाक्यों में प्रयुक्त करना चाहिये।

लोचनम्

ननु पूर्वैरेव यदीदमुक्तं किमर्थं तव यत्न इत्याशङ्क्याह–इयदिति। अस्माभिरिति वाक्यशेषः। पुनःशब्दस्तदुक्ताद्विशेषद्योतकः। चन्दमऊ इति। चन्द्रमयूखादीनां न निशादिना विना कोऽपि परभागलाभः। सज्जनानामपि काव्यकथां विना कीदृशी साधुजनता। चन्द्रमयूखैश्च निशाया गुरुकीकरणं भास्वरत्वसेव्यत्वादि यत्क्रियते; कमलैर्नलिन्याः शोभापरिमललक्ष्म्यादि, कुसुमगुच्छैर्लताया अभिगम्यत्वमनोहरत्वादि, हंसैः शरदशोभायाः श्रुतिसुखकरत्वमनोहरत्वादि, तत्सर्वंकाव्यकथायाः सज्जनैरित्ये-तावानयमर्थो गुरुः क्रियत इति दीपकबलाच्चकास्ति। कथाशब्द इदमाह–आसतां तावत्काव्यस्य केचन सूक्ष्मा विशेषाः, सज्जनैर्विना काव्यमित्येष शब्दोऽपि ध्वंसते। तेषु तु सत्स्वास्ते सुभगं काव्यशब्दव्यपदेशभागपि शब्दसंदर्भमात्रम्; तथा तैः क्रियते यथादरणीयतां प्रतिपद्यत इति दीपकस्यैव प्राधान्यं नोपमायाः। एवं तु कारिका-र्थमुदाहरणेन प्रदर्श्यास्या एव कारिकाया व्यवच्छेद्यबलेन योऽर्थोऽभिमतो यत्र तत्परत्वं

स ध्वनेर्मार्ग इत्येवंरूपस्तं व्याचष्टे–यत्र त्विति। तत्र च वाच्यालङ्कारेण कदाचिद् व्यङ्ग्यमलङ्कारान्तरं, यदि वा वाच्यालङ्कारस्य सद्भावमात्रं न व्यञ्जकता, वाच्यालङ्कारस्याभाव एव वेति त्रिधा विकल्पः। एतच्च यथायोगमुदाहरणेषु योज्यम्। उदाहरति–प्राप्तेति। कस्मिंश्चिदनन्तबलसमुदायवति नरपतौ समुद्र-परिसरवर्तिनि पूर्णचन्द्रोदयतदीयबलावगाहनादिना निमित्तेन पयोधेस्तावत्कम्पो जातः। सोऽनेन सन्देहेनोत्प्रेक्ष्यत इति ससन्देहोत्प्रेक्षयोः सङ्करात्सङ्करालङ्कारो वाच्यः। तेन च वासुदेवरूपता तस्य नृपतेर्ध्वन्यते। यद्यपि चात्र व्यतिरेको भाति, तथापि स पूर्ववासुदेवस्वरूपात् नाद्यतनात्। अद्यतनत्वे भगवतोऽपि प्राप्तश्रीकत्वेनानालस्येन सकलद्वीपाधिपतिविजयित्वेन च वर्त्तमानत्वात्।

न च सन्देहोत्प्रेक्षानुपपत्तिबलाद्रूपकस्याक्षेपः, येन वाच्यालङ्कारोपस्कारकत्वं व्यङ्ग्यस्य भवेत्। यो योऽसम्प्राप्तलक्ष्मीको निर्व्याजविजिगीषाक्रान्तः स स मां मथ्नीयादित्याद्यार्थसम्भवनात्। न च पुनरपीति पूर्वामिति भूय इति च शब्दैरयमाकृष्टोऽर्थः। पुनरर्थस्य भूयोरर्थस्य च कर्तृभेदेऽपि समुद्रैक्यमात्रेणाप्युपपत्तेः। यथा पृथ्वी पूर्वं कार्तवीर्येण जिता पुनरपि जामदग्न्येनेति। पूर्वानिद्रा च सिद्धा राजपुत्राद्यवस्थायामपीति सिद्धं रूपकध्वनिरेवायमिति। शब्दव्यापारं विनैवार्थसौन्दर्यबलाद् रूपणाप्रतिपत्तेः। यथा च–

ज्योत्स्नापूरप्रसरधवले सैकतेऽस्मिन्सरय्वा
वादद्यूतं सुचिरमभवत्सिद्धयूनोः कयोश्चित्।
एकोऽवादीत्प्रथमनिहतं केशिनं कंसमन्यो
मत्त्वा तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम्।।

इति केचिदुदाहरणमत्र पठन्ति तदसत्; भवतेत्यनेन शब्दबलेनात्र त्वं वासुदेव इत्यर्थस्य स्फुटीकृतत्वात्।

लावण्यं संस्थानमुग्धिमा, कान्तिः प्रभाताभ्यां परिपूरितानि संविभक्तानि हृद्यानि सम्पादितानि दिङ्मुखानि येन। अधुना कोपकालुष्यादनन्तरं प्रसादौन्मुख्येन। स्मेरे ईषद्विहसनशीले तरलायते प्रसादान्दोलनविकाससुन्दरे अक्षिणी यस्यास्तस्या आमन्त्रणम्। अथ चाधुना न एति, वृत्ते तु क्षणान्तरे क्षोभमगमत्। कोपकषायपाटलं स्मेरं च तव मुखं संध्यारुणपूर्णशशधरमण्डलमेवेति भाव्यं क्षोभेण चलचित्ततया सहृदयस्य। न चैति तत्सुव्यक्तमन्वर्थतायं जलराशिर्जाड्यसंञ्चयः। जलादयः शब्दा भावार्थप्रधाना इत्युक्तं प्राक्। तत्र च क्षोभो मदनविकारात्मा सहृदयस्य त्वन्मुखावलोकनेन। भवतीतीयत्यभिधाया विश्रान्ततया रूपकं ध्वन्यमानमेव। वाच्यालङ्कारश्चात्र श्लेषः, स च न व्यञ्जकः। अनुरणनरूपं यद्रूपकमर्थशक्तिव्यङ्ग्यं तदाश्रयेणेह काव्यस्य चारुत्वं व्यवतिष्ठते। ततस्तेनैव व्यपदेश इति सम्बन्धः। तुल्ययोजनत्वादुपमाध्वन्युदाहरणयोर्लक्षणं स्वकण्ठेन न योजितम्।

वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे।।

प्रसाधितप्रियतमाश्वासनपरतया समनन्तरीभूतयुद्धत्वरितमनस्कतया च दोलायमानदृष्टित्वेऽपि युद्धे त्वरातिशय इति व्यतिरेको वाच्यालङ्कारः। तत्र तु येयं ध्वन्यमानोपमा प्रियाकुचकुड्मलाभ्यां सकलजनत्रासकरेष्वपि शात्रवेषु मर्दनोद्यतेषु गजकुम्भस्थलेषु तद्वशेन रतिमाददानानामिव बहुमान इति सैव वीरतातिशय चमत्कारं विधत्त इत्युपमायाः प्राधान्यम्। असुरपराक्रमण इति। त्रैलोक्यविजयो हि तत्रास्य वर्ण्यते। तेषामसुराणां पातालवासिनां यैः पुनः पुनरिन्द्रपुरावमर्दनादि किं किं न कृतं तद्धृदयमिति यत्तेभ्यस्तेभ्योऽति दुष्करेभ्योऽप्यकम्पनीयव्यवसायं तच्च। श्रीसहोदराणामत एवानिर्वाच्योत्कर्षाणामित्यर्थः। तेषां रत्नानामा समन्ताद्धरणे एकरसं तत्परं यद्धृदयं तत्कुसुमबाणेन सुकुमारतरोपकरणसम्भारेण प्रियाणां बिम्बाधरे निवेशितम्, तदवलोकनपरिचुम्बनदर्शनमात्रकृतकृत्यताभिमानयोगि तेन कामदेवेन कृतम्। तेषां हृदयं यदत्यन्तं विजिगीषाज्वलनजाज्वल्यमानमभूदिति यावत्। अत्रातिशयोक्तिर्वाच्यालङ्कारः। प्रतीयमाना चेपमा। सकलरत्नसारतुल्यो बिम्बाधर इति हि तेषां बहुमानो वास्तव एव। अत एव न रूपकध्वनिः। रूपकस्यारोप्यमाणत्वेनावास्तवत्वात्। तेषामसुराणां वस्तुवृत्त्यैव सादृश्यं स्फुरति। तदेव च सादृश्यं चमत्कारहेतुः प्राधान्येन। अतिशयोक्त्येति। वाच्यालङ्काररूपयेत्यर्थः। अवर्णनीयताप्रतिपादनमेवाक्षेपस्य रूपमिष्टप्रतिषेधात्मकत्वात्। तस्य प्राधान्यं विशेषणद्वारेणाह–असाधारणेति।

सम्भवतीत्यनेन प्रसङ्गाच्छब्दशक्तिमूलस्यत्र विचार इति दर्शयति।

दैवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत्पुनर्भणामः।
रक्ताशोकपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः।।

अशोकस्य फलमाम्रादिवन्नास्ति, किं क्रियताम्, पल्लवास्त्वतीव हृद्या इतीयताभिधा समाप्तैव। अत्र फलशब्दस्य शक्तिवशात्समर्थकमस्य वस्तुनः पूर्वमेव प्रतीयते। लोकोत्तरजिगीषातदुपायप्रवृत्तस्यापि हि फलं सम्पल्लक्षणं दैवायत्तं कदाचिन्न भवेदपीत्येवंरूपं सामान्यात्मकम्। नन्वस्य सर्ववाक्यस्याप्रस्तुतप्रशंसा प्राधान्येन व्यङ्ग्या तत्कथमर्थान्तरन्यासस्य व्यङ्ग्यता, द्वयोर्युगपदेकत्र प्राधान्ययोगादित्याशङ्क्याह–पदप्रकाशेति। सर्वोहि ध्वनिप्रपञ्चः पदप्रकाशो वाक्यप्रकाश्चेति वक्ष्यते। तत्र फलपदेऽर्थान्तरन्यासध्वनिः प्राधान्येन। वाक्ये त्वप्रस्तुतप्रशंसा। तत्रापि पुनः फलपदोपात्तसमर्थ्यसमर्थकभाव प्राधान्यमेव भातीत्यर्थान्तरन्यासध्वनिरेवायमिति भावः।

हृदये स्थापितो न तु बहिः प्रकटितो मन्युर्यया। अतएवाप्रदर्शितरोषमुखीमपि मां प्रसादयन् हे बहुज्ञ, अपराद्धस्यापि तव न खलु रोषकरणं शक्यम्। अत्र बहुज्ञेत्यामन्त्रणार्थो विशेषे पर्यवसितः। अनन्तरं तु तदर्थपर्यालोचनाद्यत्सामान्यरूपं समर्थकं प्रतीयते तदेव चमत्कारकारी। सा हि खण्डिता सती वैदग्ध्यानुनीता तं प्रत्यसूयां

दर्शयन्तीत्थमाह। यः कश्चिद्बहुज्ञो धूर्त्तः स एवं सापराधोऽपि स्वापराधावकाशमाच्छादयतीति मा त्वमात्मनि बहुमानं मिथ्या ग्रहीरिति। अन्वितमिति। विशेषे सामान्यस्य संबद्धत्वादिति भावः।

प्राचीनों द्वारा जब यह कहा जा चुका है तो फिर तुम्हारा यह यत्न किस लिये है? उत्तर में कहते हैं:—इतना। 'हम भी' यह वाक्यशेष है। 'पुनः' शब्द उस कहे हुये से विशेष का द्योतक है। चन्द्रकिरणों—। चन्द्रकिरण आदि का रात्रि आदि के बिना कोई महत्त्व का लाभ नहीं है, सज्जनों की भी काव्यकथा के बिना कैसी साधुजनता? चन्द्रकिरणों के द्वारा रात्रि का जो गुरुकीकरण अर्थात् भास्वर होना तथा सेव्य होना आदि किया जाता है, कमलों से नलिनी की शोभा, परिमल, लक्ष्मी आदि जो होती है, फूल के गुच्छों से लता का जो अभिगम्यत्व, मनोहरत्व आदि होता है और हंसों से शरत्काल की शोभा का श्रुतिसुखकर तथा मनोहर होना आदि जो हुआ करता है वह सबकुछ काव्यकथा का सज्जनों द्वारा सम्पन्न हुआ करता है, इतना अर्थ 'गौरवान्वित किया जाता है' इस दीपक के बल से प्रकाशित हुआ करता है। 'कथा' शब्द यह कहता है—काव्य के कोई सूक्ष्म विशेष हों, (किन्तु) सज्जनों के बिना 'काव्य' यह शब्द भी नष्ट होता है। उन सज्जनों के विद्यमान रहने पर केवल 'काव्य' शब्द के व्यपदेश को धारण करने वाला भी शब्दसन्दर्भमात्र सुभग है; उस प्रकार उनके द्वारा किया जाता है अर्थात् आदरणीयता को प्राप्त करता है, इस भाँति दीपक की ही प्रधानता है 'उपमा' की नहीं। इस प्रकार कारिका के अर्थ को उदाहरण द्वारा प्रदर्शित करके इसी कारिका का व्यवच्छेद्य के बल से जो अर्थ अभिमत है कि 'जहाँ तात्पर्य है, वह ध्वनि का मार्ग है', उसकी व्याख्या करते हैं—परन्तु, जहाँ—। वहाँ। वहाँ तीन प्रकार का विकल्प है—वाच्य अलङ्कार से व्यङ्ग्य अलङ्कारान्तर, अथवा वाच्य-अलङ्कार का सद्भावमात्र है, व्यञ्जकता नहीं है अथवा वाच्य अलङ्कार का अभाव है। इसे जिस भाँति ठीक बैठे, उदाहरणों में घटाना चाहिये। उदाहरण देते हैं—जब कि इसे०—। किसी अनन्त बलसमुदाय सम्पन्न राना के समुद्रतट पर उपस्थित होने पर पूर्ण चन्द्रोदय अथवा उसकी सेना के अवगाहन आदि के कारण समुद्र का कम्पन उत्पन्न हुआ। वह (कम्पन) इस सन्देह से उत्प्रेक्षित हुआ है, इसलिये ससन्देह तथा उत्प्रेक्षा के सङ्कर होने से सङ्करालङ्कार वाच्य है। उससे राजा का वासुदेव (श्रीकृष्ण) रूपत्व ध्वनित होता है। यद्यपि यहाँ 'व्यतिरेक' अलङ्कार की प्रतीति होती है तथापि वह पूर्व वासुदेव के स्वरूप से न कि अद्यतन से, अनालस्य और सम्पूर्ण द्वीपाधिपतियों के विजयी रूप से वर्त्तमान है।

ससन्देह और उत्प्रेक्षा अलङ्कार दोनों अनुपपन्न हो जाएगें। इस भाँति (उनकी अनुपपत्ति के बल से) 'रूपक' का आक्षेप होगा, जिससे व्यङ्ग्य का उपस्कारकत्व बन जायगा, यह नहीं (कह सकते), क्योंकि इस अर्थ का सम्भावन करेंगे कि जिसे-जिसे लक्ष्मी प्राप्त न होगी और निर्व्याज विजिगीवा (विजय करने की इच्छा) से आक्रान्त होगा वह-वह मुझे मथन करेगा, इत्यादि। ऐसा नहीं कह सकते कि यह अर्थ 'फिर भी' 'पहली' और 'फिर से' इन शब्दों से लाया गया है क्योंकि कर्तृभेद होने पर भी समुद्र के एक होने से 'फिर' इस अर्थ की उपपत्ति हो जायगी। जैसे पृथ्वी को पहले कार्तवीर्य ने जीता फिर जामदग्न्य ने भी। राजपुत्रादि अवस्था में भी प्रथम निद्रा सिद्ध है, इस भाँति यह रूपक-'ध्वनि' ही है यह बात सिद्ध हुई। क्योंकि

शब्द-व्यापार के बिना ही अर्थ-सौन्दर्य के बल से रूपणा की प्रतिपत्ति (अभेद का ज्ञान) होता है। और जैसे—

'चाँदनी के प्रवाह से सफेद सरयू के इस सैकत में किन्हीं सिद्ध युवक-युवति का देर तक विवाद (बहसबाजी) चलता रहा, एक ने कहा कि केशी को पहले मारा, दूसरे ने कहा कि कंस को। ठीक समझकर कहिये कि आपने उनमें पहले किसको मारा।'

कुछ लोग इस उदाहरण को यहाँ पढ़ते हैं, वह ठीक नहीं क्योंकि 'आपने' इस शब्द के बल से यहाँ 'तुम वासुदेव हो' यह अर्थ स्फुट कर दिया गया है।

लावण्य अर्थात् संस्थानमुग्धिमा, कान्ति अर्थात् प्रभा, इनसे परिपूरित-संविभक्त—अर्थात् हृद्य, बनाया है दिशाओं को जिसने। अभी अर्थात् कोषकालुष्य से, अनन्तर प्रसन्नता के प्रति उन्मुखता के कारण। स्मेर अर्थात् कुछ विहसनशील और तरलायत अर्थात् प्रसन्नता के आन्दोलनजनित विकास से सुन्दर आँखें जिसकी हैं, उसका यह आमन्त्रण (संबोधन) है। और इस समय (क्षोभ) प्राप्त नहीं करता, अभी क्षणभर पहले क्षोभ प्राप्त किया। कोपकषायपाटल तथा स्मेर तुम्हारा मुख संध्यारूण और पूर्ण चन्द्रमण्डल ही है। चलचित्त होने के कारण सहृदय व्यक्ति को क्षोभ उचित है लेकिन वह समुद्र को नहीं हुआ, अतएव यह स्पष्ट हो गया कि यह (समुद्र) जलराशि है अर्थात् यथार्थरूप से जाड्यराशि है। यह पहले कह चुके हैं कि 'जल' आदि शब्द भावार्थप्रधान (जाड्य)आद्यर्थक हैं। यहाँ सहृदय व्यक्ति को तुम्हारे मुख के अवलोकन से मदनविकार रूप क्षोभ होता है, इतने में अभिधा के विश्रान्त हो जाने के कारण 'रूपक' ध्वन्यमान ही है। यहाँ वाच्य अलङ्कार श्लेष, पर वह व्यंजक नहीं है। अनुरणन रूप अर्थशक्ति से व्यङ्ग्य जो 'रूपक' है उसके आश्रय से यहाँ काव्य का चारुत्व व्यवस्थित होता है। अतएव उसी से व्यपदेश है। योजना के समान होने के कारण (अर्थात् ऊपर के ही ढंग से बात होने के कारण) उपमाध्वनि के दोनों उदाहरणों का लक्षण अपने शब्द द्वारा प्रस्तुत नहीं किया है।

सजी-धजी (प्रसाधित) प्रियतमा के आश्वासन में लगे होने के कारण और तुरन्त होने वाले युद्ध के लिये त्वरितमनस्क होने के कारण दृष्टि के दोलायमान होने पर भी युद्ध में (वीरों की) अतिशय त्वरा होती है, यह 'व्यतिरेक' वाच्य अलङ्कार है। जो यह प्रिया के कुच-कुड्यलों से उपमा ध्वनित हो रही है, सम्पूर्ण जनों को भीत करने वाले भी, मर्दनोयत शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थलों में उस उपमा के कारण रति धारण करते हुये (वीरों) का बहुमान है, इस कारण वही (ध्वन्यमान उपमा) वीरातिशय का चमत्कार उत्पन्न करती है, अतः उपमा का प्राधान्य है। असुरों पर पराक्रम के अवसार में—। वहाँ इस (कामदेव) की त्रैलोक्यविजय वर्णन करते हैं। जिन्होंने बार-बार इन्द्रपुरी (अमरावती) अवमर्दन आदि क्या-क्या नहीं किया उन पातालवासी असुरों का हृदय और जो उन-उन अतिदुष्कर कार्यों से अविचलनीय व्यवसायवाला है वह। लक्ष्मी के साथ पैदा होने वाले, अर्थात् जिनके उत्कर्ष का वर्णन नहीं किया जा सकता। उन रत्नों के पूर्णतया हरण में एकरस अर्थात् तत्पर जो हृदय वह सुकुमारतर उपकरण-सम्भार वाले (अर्थात् पुष्पों के बाण वाले) कामदेव ने प्रियाओं के विम्बाधर में संलग्न कर दिया, अर्थात् उस कामदेव ने (उनके हृदय को) उसके अवलोकन, परिचुम्बन और दर्शनमात्र में

अपने आपको कृतकृत्य मान लेने वाला बना दिया है। उनका हृदय, जो अत्यधिक विजयेच्छा की अग्नि से प्रज्वलित हो रहा था। यहाँ अतिशयोक्ति वाच्य अलङ्कार है, तथा उपमा प्रतीयमान है क्योंकि उनका यह बहुमान कि विम्बाधर सम्पूर्ण रत्नों के सार के समान है, वास्तव है। अतएव रूपक ध्वनि नहीं है क्योंकि आरोप्यमाण होने के कारण वास्तव नहीं होता। उन असुरों के वस्तुतः ही सादृश्य स्फुरित होता है। और वही सादृश्य प्रधानरूप से चमत्कार का हेतु है। अतिशयोक्ति से—। अर्तात् वाच्यालङ्कार रूप अतिशयोक्ति से। अवर्णनीयता का प्रतिपादन ही आक्षेप का लक्षण है, क्योंकि वह इष्ट का प्रतिषेधरूप हुआ करता है। विशेषण द्वारा उसका प्राधान्य कहते हैं—उन (गुणों) की विशेषता—।

'सम्भव है' इस प्रसङ्ग से शब्दशक्तिमूल का यहाँ विचार है, यह दिखलाते हैं।

अशोक का फल आम इत्यादि की भाँति नहीं है, क्या किया जाय? किन्तु पल्लव अतीव हृद्य है, यहाँ तक अभिधा समाप्त ही है। यहाँ फल शब्द के शक्तिवश इस वस्तु का समर्थक पहले ही प्रतीत होता है। लोकोत्तर विजयेच्छा और उसके उपाय में प्रवृत्त का सम्पत् रूप फल कदाचित् न भी हो, इस प्रकार का सामान्यरूप (समर्थक) है। इस सम्पूर्ण वाक्य का प्रधानरूप से व्यङ्ग्य अप्रस्तुतप्रशंसा है, तो अर्थान्तरन्यास का व्यङ्ग्यत्व कैसे? क्योंकि दोनों का एक समय प्राधान्य नहीं होगा। इस प्रकार की आशंका करके कहते हैं—पद प्रकाश—। यह कहेंगे कि सारा ध्वनिप्रपञ्च पदप्रकाश तथा वाक्यप्रकाश होता है। वहाँ 'फल' पद में अर्थान्तरन्यास-ध्वनि प्रधानरूप से है। वाक्य में अप्रस्तुतप्रशंसा है। भाव यह है कि वहाँ भी फिर 'फल' पद से उपात्त समर्थ्य समर्थकभाव का प्राधान्य ही प्रतीत होता है, अतः यह अर्थान्तरन्यासध्वनि है।

हृदय में स्थापित किया है न कि बाहर प्रगट किया है मन्यु (क्रोध) का जिसने। अतएव रोष को प्रदर्शित न करने वाली भी मुझे प्रसादन करता हुआ, हे बहुत समझदार, अपराधी होने पर भी तुम पर रोष करना सम्भव नहीं। यहाँ 'बहुत समझदार' यह आमन्त्रणार्थ विशेष में पर्यवसित है। बाद में उसके अर्थ के पर्यालोचन से जो सामान्यरूप समर्थक प्रतीत होता है वही चमत्कारकारी है। वह खण्डिता (नायक द्वारा) विदग्धा से अनुनय किये जाने पर उसके प्रति असूया दिखलाती हुई इस प्रकार कहती है। जो कोई बहुत समझदार धूर्त है वह इस प्रकार अपराधी होकर भी अपने अपराध का स्थान ढँकता है, अतएव तुम अपने में मिथ्या बहुमान न रखो। अन्वित—। भाव यह है कि विशेष से समान्य सम्बद्ध हुआ करता है।

व्यतिरेकध्वनिरपीति। अपिशब्देनार्थान्तरन्यासवदेव द्विप्रकारत्वमाह। प्रागिति। 'खं ये अत्युज्ज्वलयन्ति' इति। 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः' इति। जायेय, वनोद्देश एव वनस्यैकान्ते गहने यत्र स्फुटतरबहुवृक्षसम्पत्त्या प्रेक्षतेऽपि न कश्चित्। कुब्ज इति रूपघटनादावनुपयोगी। गलितपत्त्र इति। छायामपि न करोति तस्य का पुष्पफलवत्तेत्यभिप्रायः। तादृशोऽपि कदाचिदाङ्गारिकस्योपयोगी भवेदुलूकादीनां वा निवासायेति भावः। मानुष इति। सुलभार्थिजन इति भावः। लोक इति। यत्र लोक्यते सोऽर्थिभिस्तेन चार्थिजनो न च किंचिच्छक्यते कर्तुं तन्महद्वैशसमिति भावः। अत्र

वाच्यालङ्कारो न कश्चित्। उपमानेत्यनेन व्यतिरेकस्य मार्गपरिशुद्धिं करोति। आधिक्यमिति। व्यतिरेकमित्यर्थः। उत्प्रेक्षितमिति। विषवातेन हि मूच्छितो बृंहित उपचितो मोहं करोति। एकश्च मूर्च्छितः पथिकमध्येऽन्येषामपि धैर्यच्युतिं विदधन्मूर्च्छां करोतीतीत्युभयथोत्प्रेक्षा। नन्वत्र विशेषणमधिकीभवद्धेतुतयैव सङ्गच्छते। ततः किं? न हि हेतुता परमार्थतः। तथापि तु हेतुता उत्प्रेक्ष्यत इति यत्किञ्चिदेतत्। तदिति। तस्येवादेरप्रयोगेऽपि तस्यार्थस्येत्युत्प्रेक्षारूपस्यावगतेः प्रतीतेर्दर्शनात्। एतदेवोहरति–यथेति। ईर्ष्याकलुषस्यापीषदरुणच्छायाकस्य। यदि तु प्रसन्नस्य मुखस्य सादृश्य-मुद्वहेत्सर्वदा वा तत्किं कुर्यात्त्वन्मुखं त्वेतद्भवतीति मनोरथानामप्यपथमिद-मित्यपिशब्दस्याभिप्रायः। अङ्ग स्वदेहे न मात्येव दश दिशः पूरयति यतः। अद्येयता कालेनैकं दिवसमामित्यर्थः। अत्र पूर्णचन्द्रेण दिशां पूरणं स्वरससिद्धमेवमुत्प्रेक्ष्यते।

ननु ननुशब्देन वितर्कोत्प्रेक्षारूपमाचक्षाणेनासम्बद्धता निराकृतेति सम्भावयमान उदाहरणान्तरमाह–यथा वेति परितः सर्वतो निकेतान् परिपतन्नाक्रमन्न कैश्चिदपि चापपाणिभिरसौ मृगोऽनुबद्धस्तथापि न क्वचित्तस्थौ त्रासचापलयोगात्स्वाभाविकादेव। तत्र चोत्प्रेक्षा ध्वन्यते–अङ्गनाभिराकर्णपूर्णैर्नित्रशरैर्हता ईक्षणश्रीः सर्वस्वभूता यस्य यतोऽतो न तस्थौ। नन्वेतदप्यसम्बद्धमस्वित्याशङ्क्याह–शब्दार्थेति। पताकाध्वजपटान् प्राप्तवती। रम्या इति हेतोः। पताकाः प्रसिद्धि प्राप्तवतीः। किमाकाराः प्रसिद्धीः रम्या इत्येवमाकाराः। विविक्ता जनसङ्कुलत्वाभावादित्यतो हेतो रागं सम्भोगाभिलाषं वर्धयन्तीः। अन्ये तु रागं चित्रशोभामिति। तथा रागमनुरागं वर्धयन्तीः। यतो हेतोः विविक्ता विभक्ताङ्ग्यो लटभाः याः। नमन्ति बलीकानि छदिपर्यन्तभागायासु। नमन्त्यो वल्ल्यस्त्रिवलीलक्षणा यासाम्। सममिति सहेत्यर्थः। ननु समशब्दात्तुल्यार्थोऽपि प्रतीतः। सत्यम्; सोऽपि श्लेषबलात्। श्लेषश्च नाभिधावृत्तेराक्षिप्तः, अपि त्वर्थ-सौन्दर्यबलादेवेति सर्वथा ध्वन्यमान एव श्लेषः। अतएव वध्व इव बलभ्य = इत्य-भिदधतापि वृत्तिकृतोपभाध्वनिरिति नोक्तम्। श्लेषस्यैवात्र मूलत्वात्। समा इति हि यदि स्पष्टं भवेत्तदोपमाया एव स्पष्टत्वाच्छलेषस्तदाक्षिप्तः स्यात्। सममिति निपातोऽञ्जसा सहार्थवृत्तिर्व्यञ्जकत्वबलेनैव क्रियाविशेषत्वेन शब्दश्लेषतामेति। न च तेन विना-भिधाया अपरिपुष्टता काचित्। अतएव समाप्तायामेवाभिधायां सहृदयैरेव स द्वितीयो-ऽर्थोऽपृथक्प्रयत्नेनैवावगम्यः। यथोक्तं प्राक्–'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव' इत्यादि। एतच्च सर्वोदाहरणेष्वनुसर्तव्यम्। 'पीनश्चैत्रो दिवा नात्ति' इत्यत्रभिधैवापर्यवसितेति सैव स्वार्थनिर्वाहायार्थान्तरं शब्दान्तरं वाकर्षतीत्यनुमानस्य श्रुतार्थापत्तेर्वा तार्किक-मीमांसकयोर्न ध्वनिप्रसङ्ग इत्यलं बहुना। तदाह–अशब्दापीति। एवमन्येऽपीति। सर्वेषामेवार्थालङ्काराणां ध्वन्यमानता दृश्यते। यथा च दीपकध्वनिः–

मा भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परशुर्वा।
वज्रमिन्द्रकर विप्रसृतं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष।।

इत्यत्र बाधिष्टेति गोप्यमानादेव दीपकादत्यन्तस्नेहास्पदत्वप्रतिपत्या चारुत्वनिष्पत्तिः। अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनिरपि–

ढुण्ढुल्लन्तो मरिहिसि कण्टअकलिआइंकेअइवणाइं।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमन्तो ण पाविहिसि।।

प्रियतमेन साकमुद्याने विहरन्ती काचिन्नायिका भ्रमरमेवाहेति भृङ्गस्याभिधायां प्रस्तुतत्वमेव। न चामन्त्रणादप्रस्तुतत्वावगतिः, प्रत्युतामन्त्रणं तस्या मौग्ध्यविजृम्भितमिति अभिधया तावन्नाप्रस्तुतप्रशंसा समाप्या। समाप्तायां पुनरभिधायां वाच्यार्थबलादन्यापदेशता ध्वन्यते। यत्सौभाग्यभिमानपूर्णा सुकुमारपरिमलमालतीकुसुमसदृशी कुलवधूर्निर्व्याजप्रेमपरतया कृतकवैदग्ध्य लब्ध प्रसिद्ध्यतिशयानि शम्भलीकण्टकव्याप्तानि दूरामोदकेतकीवनस्थानीयानि वेश्याकुलानीतश्चेतश्च चञ्चूर्यमाणं प्रियतममुपालभते। अपह्नुतिध्वनिर्यथास्यदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य–

यः कालागुरुपत्त्रभङ्गरचनावासैकसारायते
गौराङ्गीकुचकुम्भभूरिसुभगाभोगे सुधाधायनि।
विच्छेदानलदीपितोत्कवनिता चेतोधिवासोद्भवं
सन्तापं विनिनीषुरेष विततैरङ्गैर्नताङ्गि स्मरः।।

अत्र चन्द्रमण्डलमध्यवर्तिनोलक्ष्मणो वियोगाग्निपरिचितवनिताहृदयोदितप्लोषमलीमसच्छविमन्मथकारतयापह्नवो ध्वन्यते। अत्रैव ससन्देहध्वनिः–यतश्चन्द्रवर्तिनस्तस्य नामापि न गृहीतम्। अपितु गौराङ्गीस्तनाभोगस्थानीये चन्द्रमसि कालागुरुपत्त्रभङ्गविच्छित्त्यास्पदत्वेन यः सारतामुत्कृष्टतामाचरतीति तन्न जानीमः किमेतद्वस्त्विति ससन्देहोऽपि ध्वन्यते। पूर्वमनङ्गीकृत प्रणयामनुतप्तां विरहोत्कण्ठितां वल्लभागमनप्रतीक्षापरत्वेन कृतप्रसाधनादिविधितया वासकसज्जीभूतां पूर्णचन्द्रोदयावसरे दूतीमुखानीतः प्रियतमस्त्वदीयकुचकलशन्यस्तकालागुरुपत्त्रभङ्गरचना मन्मथोद्दीपनकारिणीति चाटुकं कुर्वाणश्चन्द्रवर्तिनी चेयं कुवलय दलश्यामलकान्तिरेवमेव करोतीति प्रतिवस्तूपमाध्वनिरपि सुधाधामनीति चन्द्रपर्यायतयोपात्तमपि पदं सन्तापं विनिनीषुरित्यत्र हेतुतामपि व्यनक्तीति हेत्वलङ्कारध्वनिरपि। त्वदीयकुचशोशा मृगाङ्कशोभा च सह मदनमुद्दीपयत इति सहोक्तिध्वनिरपि। त्वत्कुचसदृशश्चन्द्रश्चन्द्र समस्त्वत्कुचाभोगः' इत्यर्थप्रतीतेरूपमेयोपमाध्वनिरपि। एममन्येऽप्यत्रभेदाः शक्योत्प्रेक्षाः। महाकविवावाचोऽस्याः कामधेनुत्वात्। यतः–

हेलापि कस्यचिदचिन्त्यफलप्रसूत्यै कस्यापि नालमणवेऽपि फलाय यत्नः।
दिग्दन्तिरोमचलनं धरणीं धुनोति खात्सम्पतन्नपि लतां चलयेन्नभृङ्गः।।

एषां तु भेदानां संसृष्टित्वं सङ्करत्वं च यथायोगं चिन्त्यम्। अतिशयोक्ति ध्वनिर्यथा ममैव–

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोर्माधुर्यं वपुस्ते दृशौ

भङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः।
आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः
सत्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारस्त्वमेकाकृतिः।।

अत्र हि मधुमासमदनासवानां त्रैलोक्ये सुभगतान्योन्यं परिपोषकत्वेन। ते तु त्वयि लोकोत्तरेण वपुषा सम्भूय स्थिता इत्यतिशयोक्तिर्ध्वन्यते। आपातेऽपि विकार-कारणमित्यास्वादपरम्पराक्रिययापि विना विकारात्मनः फलस्य सम्पत्तिरिति विभावनाध्वनिरपि। विभ्रममधोधुर्यमिति तुल्ययोगिताध्वनिरपि। एवं सर्वालङ्काराणां ध्वन्यमानत्वमस्तीति मन्तव्यम्। न तु यथा कैश्चिन्नियतविषयीकृतम्। यथायोगमिति। क्वचिदलङ्कारः क्वचिद्वस्तु व्यञ्जकमित्यर्थो योजनीय इति।

व्यतिरेक ध्वनि भी—। 'भी' शब्द से अर्थान्तरन्यास की भाँति ही दो प्रकार का होना कहा है। पहले—। 'खं येऽत्युज्ज्वल यन्ति०' और 'रक्तस्त्वं नवपल्लवै०' पैदा हो, जंगल के प्रदेश में ही वन के एकान्त गहन में जहाँ स्पष्टरूप से बहुत वृक्षों के कारण कोई दिखलाई नहीं देता। कुबड़ा अर्थात् रूपघटना आदि के सम्बन्ध में अनुपयोगी। गलितपत्र—। अभिप्राय यह कि छाया भी नहीं करता है उसके पुष्पित-फलित होने की बात ही कौन? भाव यह कि उस प्रकार का भी (वृक्ष) कदाचित् आङ्गारिक के उपयोग में आ जाय अथवा उल्लू पक्षियों के निवास के लिये हो। मनुष्य—। भाव यह कि जहाँ अर्थिजन सुलभ हैं। लोक—। भाव यह कि जहाँ अर्थिजनों से वह और उससे अर्थिजन देखे जाते हैं, (वहाँ यदि) नहीं कुछ कर सकते हैं तब वह बड़ा अपराध है। यहाँ कोई वाच्य अलङ्कार नहीं है। 'उपमान' इसके द्वारा व्यतिरेक के मार्ग का परिशोधन करते हैं। आधिक्य—। अर्थात् व्यतिरेक। उत्प्रेक्षा की है—। क्योंकि विषवात से मूर्च्छित, वृंहित अथवा उपचित होकर मोह उत्पन्न करता है। और एक मूर्च्छित होकर पथिकों के मध्य अन्य लोगों का भी धैर्य च्युत करता हुआ मोह उत्पन्न करता है। इस भाँति दोनों प्रकार से उत्प्रेक्षा है। यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यहाँ विशेष अधिक होने के कारण हेतुरूप से संगत होता है। इस शंका का समाधान—तब क्या परमार्थतः हेतुत्व नहीं है। तब भी हेतुत्व उत्प्रेक्षित होता है, अतः यह कुछ ही है। उनका—। क्योंकि उन 'इव' आदि का प्रयोग न होने पर उत्प्रेक्षारूप उस अर्थ की अश्वगति अथवा प्रतीति देखी जाती है। इसका ही उदाहरण देते हैं—जैसे—। ईर्ष्या से कलुष अर्थात् ईषदरुण छाया वाला भी। किन्तु यदि प्रसन्नमुख का सादृश्यधारण करता सब समय क्या कर डालता। तेरा मुख वह होता है, अर्थात् चन्द्र होता है। यह बात मनोरथों का भी विषय नहीं हो सकती, यह 'भी' (अपि) शब्द का अभिप्राय है। अङ्ग में अर्थात् अपने शरीर में नहीं समाता है जिस कारण दस दिशाओं को पूरित करत है। आज अर्थात् इतने समय से एक दिन मात्र। यहाँ स्वभावतः सिद्ध पूर्णचन्द्र द्वारा दिशाओं का पूरण इस प्रकार उत्प्रेक्षित होता है।

मानो (ननु) इस शब्द से वितर्करूप उत्प्रेक्षा का अभिधान करते हुये 'असम्बद्धता निराकरण की गई है' यह संभावना करते हुये दूसरा उदाहरण कहते हैं—अथवा जैसे—। चारों ओर घरों में दौड़ता अर्थात् चौकड़ी भरता हुआ यह मृग किसी धनुर्धारी द्वारा पीछा नहीं किया

गया तथापि कहीं नहीं ठहरा, भय के कारण स्वाभाविक चापलयोग से ही। वहाँ उत्प्रेक्षा ध्वनित हो रही है कि अङ्गनाओं के कानतक खींचे हुये नेत्रबाणों से सर्वस्वभूत जिसकी नेत्रशोभा हत हो गई है। जिस कारण उस कारण नहीं रुका। यह भी असम्बद्ध है, इस प्रकार की आशङ्का करके कहते हैं—शब्द और अर्थ—। पताका अर्थात् ध्वजपटों को प्राप्त करती हुई। रम्य होने के कारण। पताका अर्थात् प्रसिद्धियाँ प्राप्त करती हुई। किस आकार की प्रसिद्धियाँ? रम्य आकार की। विविक्त अर्थात् लोगों की भीड़भाड़ न होने के कारण राग अर्थात् सम्भोग की अभिलाषा बढ़ाती हुई। दूसरे (कहते हैं) राग अर्थात् चित्रशोभा। उस प्रकार राग अर्थात् अनुराग बढ़ाती हुई। जिस कारण से विविक्त अर्थात् विभक्त अङ्गों वाली लटभाएँ (सुन्दरियाँ)। झुक रहे हैं वलीक अर्थात् छज्जे जिनमें। झुक रही हैं बलियाँ अर्थात् त्रिबलियाँ जिनकी। समं (साथ) अर्थात् साथ। शंका करते हैं कि 'सम' शब्द तुल्य अर्थ में भी मालूम है? (समाधान करते हैं कि) ठीक है, वह भी श्लेष के बल से (अर्थात् यहाँ 'समं' का तुल्य अर्थ भी श्लेष के बल से है प्रतीत होगा)। और श्लेष (यहाँ) अभिधावृत्ति से आक्षिप्त नहीं, अपितु अर्थ-सौन्दर्य के बल से ही (आक्षिप्त है), अतएव सर्वथा श्लेष ध्वन्यमान ही है। इसी कारण 'बधुओं के समान बल भी' यह कहते हुये भी वृत्तिकार ने 'उपमाध्वनि' यह नहीं कहा, क्योंकि यहाँ श्लेष ही मूल है। यदि (समं के स्थान पर) 'समा:' यह स्पष्ट हो जाय तब उपमा के स्पष्ट हो जाने से श्लेष उसके द्वारा आक्षिप्त होता। 'समं' यह निपात झटिति 'साथ' अर्थ का बोध करके व्यंजकत्व के बल से ही क्रिया विशेषण होने के कारण शब्दश्लेषत्व को प्राप्त कर लेना है। उसके बिना अभिधा का कोई अपरिपोष नहीं होता। अतएव अभिधा के समाप्त होने पर ही सहृदयों के ही वह दूसरा अर्थ बिना पृथक् प्रयत्न के अवगत होता है। जैसा कि पहले कहा है—'शब्द और अर्थ के शासन के ज्ञानमात्र से ही०'—इत्यादि। यह सब उदाहरणों में समझ लेना चाहिये। 'मोटाचैत्र (नाम का व्यक्ति) दिन में भोजन नहीं करता है' यहाँ अभिधा ही पर्यवसित न होकर अपने अर्थ के निर्वाह के लिये (रात्रिभोजनरूप) दूसरे अर्थ अथवा ('रात्रि में भोजन करता है') इस रूप शब्द को आकृष्ट करती है, इस भाँति अनुमान के अथवा श्रुतार्थापत्ति के होने से तार्किक अथवा मीमांसक के मत में ध्वनि का प्रसङ्ग नहीं है, इत्यलं बहुना। तो कहते हैं—शब्दजनित न होकर भी—। इस प्रकार अन्य भी—। सभी अर्थालङ्कारों की ध्वन्यमानता देखी जाती है जैसे—दीपकध्वनि—

हे वृक्ष! तुम्हें अनल, अथवा पवन अथवा मतवाला हाथी अथवा परशु अथवा इन्द्र के हाथ से छोड़ा हुआ बज्र मत (बाधित करे), लता के साथ तुम्हारा कल्याण हो।

यहाँ 'बाधित करे' इस छिपाये जाते हुये ही 'दीपक' से अत्यन्त स्नेह के आस्पद होने की प्रतीति के द्वारा चारुत्व की निष्पत्ति होती है। 'अप्रस्तुतप्रशंसा ध्वनि' भी—

हे भ्रमर कटीले केतकी के बनों को ढूँढता-ढूँढता तू मर जायगा पर घूमता हुआ मालती के पुष्प के सदृश को नहीं प्राप्त करेगा।

प्रियतम के साथ उद्यान में विहार करती हुई किसी नायिका ने भ्रमर से इस प्रकार कहा, इस भाँति भ्रमर अभिधा में प्रस्तुत ही है। आमन्त्रण के कारण (भ्रमर के अप्रस्तुत होने का) ज्ञान नहीं होता (अर्थात् यह कहना कि भ्रमर का आमन्त्रण संभव नहीं, अत: निश्चय ही वह अप्रस्तुत

है, ऐसी बात नहीं।) बल्कि आमन्त्रण उस (नायिका) की मुग्धता का विजृम्भित है, अतएव अभिधा से अप्रस्तुतप्रशंसा समाप्त नहीं की जा सकती। फिर अभिधा के समाप्त होने पर वाच्यार्थ के बल से अन्यापदेशता ध्वनित होती है कि सौभाग्य के अभिमान से भरी सुकुमार एवं परिमल वाली मालती के पुष्प के सदृश कुलवधू अपने छलरहित प्रेम की तल्लीनता से प्रियतम को उलाहना देती है जो अपने कृत्रिम बैदग्ध्य से अतिशय प्रसिद्धि प्राप्त, कुट्टनियों के काँटों से भरे एवं दूर तक फैली सुरभि वाली केतकी-वनों के सदृश वेश्याकुलों में इधर-उधर भटका करता है।

अपह्नुतिध्वनि, जैसे हमारे उपाध्याय भट्ट इन्दुराज का—

जो (कामदेव) गोरे अङ्गोंवाली (नायिका) के समान विशेष विस्तार वाले सुधा के धाम, अर्थात् चन्द्रमा में कालागुरु की पत्रभङ्ग की रचना के रूप में सार (अर्थात् उत्कृष्ट) हो रहा है वह हे नताङ्गि, वियोगाग्नि से प्रदीप्त उत्कण्ठित वनिताओं के चित्त में रहने से उत्पन्न सन्ताप को वितत अङ्गों से निवारण करना चाहता है।

यहाँ चन्द्रमण्डल के मध्य रहने वाले चिह्न का, वियोग की अग्नि में पके वनिता के हृदय से उत्पन्न ज्वाला से मलिन कान्तिवाले कामदेव के आकार के रूप में अपह्नव ध्वनित हो रहा है। यहाँ ही 'ससन्देहध्वनि' है—क्योंकि चन्द्र में रहनेवाले उस (चिह्न) का नाम भी नहीं लिया है, अपितु गोरे अङ्गों वाली के स्तन-विस्तार के सदृश चन्द्रमा में कालागुरु पत्रभङ्गविच्छित्ति के आस्पदरूप में सारता अर्थात् उत्कृष्टता का आचरण कर रहा है, हम नहीं जानते कि यह क्या वस्तु है, इस प्रकार 'ससन्देह' भी ध्वनित हो रहा है। पहले प्रणय को स्वीकार नहीं किया, बाद में अनुतप्त, विरह से उत्कण्ठित, प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा में संलग्न होने के कारण बनाव-सिंगार के विधान से वासकसज्जा बनी हुई नायिका को पूर्णचन्द्र के उदय के अवसर में दूती के द्वारा लाया गया प्रियतम तुम्हारे कुचकलश में लगी हुई पचभङ्गरचना काम को उद्दीप्त करने वाली है' यह चाटु (चापलूसी) करते हुये और चन्द्र में रहने वाली यह कुवलयदल के समान श्यामलकान्ति इसी प्रकार (काम को उद्दीप्त) करती है, यह 'प्रतिवस्तूपमाध्वनि' भी है। 'सुधा का धाम' यह चन्द्र के पर्याय के रूप में उपात्त होकर भी 'सन्ताप को निवारण करना चाहता है' इसमें हेतुभाव को व्यक्त करता है, इस प्रकार 'हेतु' अलङ्कार का ध्वनि भी है। तुम्हारे स्तनों की शोभा और मृगाङ्क चन्द्र की शा.. एक साथ काम को उद्दीप्त करती है, यह सहोक्तिध्वनि भी है। तुम्हारे स्तन के सदृश चन्द्र है और चन्द्र के सदृश तुम्हारा कुचाभोग है, इस अर्थ की प्रतीति होने से 'उपमेयोपमाध्वनि' भी है। इस भाँति यहाँ अन्य भी भेद उत्प्रेक्षित हो सकते हैं क्योंकि यह महाकवि की वाणी कामधेनु भी हुआ करती है। क्योंकि—

किसी की लीला (मात्र) भी वह काम कर देती है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती और यत्न कुछ भी काम नहीं कर पाता। दिग्गज के रोम का कम्पन धरती को कम्पित कर डालता है, परन्तु भ्रमर आकाश से गिरकर भी लता को नहीं हिला पाता।

इन भेदों का संसृष्टित्व और सङ्करत्व यथोचितरूप से समझ लेना चाहिये। 'अतिशयोक्तिध्वनि', जैसे मेरा ही—

विलासी जनों की क्रीडा से अङ्कुरित होने वाले विभ्रमवसन्त के कार्यभार को धारण करने वाला शरीर तेरी आँखे हैं, यह कामदेव का रचनाविशेष से टेढ़ा धनुष तेरी भौं के लीलाकर्म का प्रकार है। तेरे मुखकमल में विद्यमान आसव (मद्य) कुछ भी आस्वाद कर लेने पर (विभिन्न) विकारों को उत्पन्न कर देता है, ठीक है, हे सुन्दरी! तेरे एकरूप में विधाता के तीनों जगत् का सार है।

यहां वसन्त, काम और मद्य ये तीनों त्रैलोक्य में एक दूसरे के परिपोषक होने के कारण सुभग हैं। वे तुझमें लोकोत्तर शरीर में मिलकर विद्यमान हैं ,यह अतिशयोक्ति ध्वनित हो रही है। 'कुछ आस्वाद कर लेने पर ही विकारों को उत्पन्न कर देता है' यहाँ लगातार अस्वाद के बिना हुये हुये ही विकाररूप फल का लाभ है, इस प्रकार विभावनाध्वनि भी है। 'विभ्रम-वसन्त के कार्यभार को धारण करने वाला' यहाँ तुल्ययोगिताध्वनि भी है। इस प्रकार यह मानना चाहिये कि सब अलङ्कार ध्वनित होते हैं, ऐसा नहीं कि किसी ने विषय नियत कर दिया है (कि केवल इतने ही अलङ्कार ध्वनित होते हैं, अन्य नहीं)। यथोचितरूप से। 'कहीं अलङ्कार व्यञ्जक होता है तो कहीं वस्तु' यह अर्थ लगाना चाहिये।।२७।।

मंजूआशुबोधिनी

अलङ्कारध्वनि में अलङ्कार की प्रधानता–अलङ्कारध्वनि के प्रसङ्ग में जहाँ वाच्य-अलङ्कार व्यङ्ग्य-अलङ्कार को व्यक्त किया करता है वहाँ अलङ्कार से अलङ्कार-व्यङ्ग्य हुआ करता है। इसको स्पष्ट करने की दृष्टि से अलङ्कार-ध्वनि के ग्यारह उदाहरणों को देकर विस्तार के साथ उक्त विषय की विवेचना कीगई है। किसी किसी स्थान पर वाच्य-अलङ्कार तो रहा करता है किन्तु वह व्यञ्जक नहीं हुआ करता है तथा किसी किसी स्थान पर वाच्यालङ्कार हुआ ही नहीं करता है। इन दोनों ही प्रकार की स्थितियों में अलङ्कार से भिन्न वस्तुमात्र अभिव्यंजक हुआ करता है। अतएव इस प्रकार के उदाहरणों में वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य माना जाया करता है। इस सम्बन्ध में अलङ्कारध्वनि के ग्यारह उदाहरणों में दोनों ही प्रकार के उदाहरण हैं। पुनः उस व्यञ्जक सामग्री में स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध का भी भेद हुआ करता है। ध्वन्यालोककार ने उदाहरणों का समन्वय करते समय इन भेदों का समन्वय नहीं किया है। इस आधार पर नवीन आचार्यों द्वारा अर्थशक्त्युद्भव के बारह भेद किये गये हैं।

(एक वाच्य-अलङ्कार से अन्य—) अलङ्कारान्तर की प्रतीति होने पर भी वाच्य-अलङ्कार तत्पर नहीं (प्रतीयमान अलङ्कार को प्रधानतया बोधित नहीं करता) है (हमारे मत में) उसे ध्वनि का विषय स्वीकार नहीं किया जा सकता है।।२७।।

दीपक आदि अन्य अलङ्कारों में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (उपमादि) दूसरे अलङ्कार की प्रतीति होने पर भी जहाँ वाच्य (दीपक आदि अलङ्कार) की व्यङ्ग्य (उपमादि) प्रतिपादन की प्रवणता से ही चारुत्व की प्रतीति नहीं हुआ करती है, वह ध्वनि का मार्ग नहीं हुआ करता है। इसी दृष्टि से दीपक आदि अलङ्कार में उपमा के गम्यमान होने पर भी उस उपमा की प्रधानता से चारुत्व की व्यवस्था न होने से (वहाँ उपमालङ्कार में) ध्वनि का व्यवहार नहीं हुआ करता है। जैसे—

"चन्द्रमा की किरणों से रात्रि, कमल के पुष्पों से नलिनी, पुष्पों के गुच्छों से लता, हंसों से शरद के सौन्दर्य तथा सज्जनों से काव्यकथा की गौरव-वृद्धि हुआ करती है।"

इत्यादि (दीपक-अलङ्कार के उदाहरण) में (गुरुकरणरूप एकधर्माभिसम्बन्ध सादृश्य के कारण) उपमा के मध्यपतित होने पर भी वाच्य (दीपक) अलङ्कार के कारण ही चारुत्व स्थित होता है, व्यङ्ग्य (उपमा) अलङ्कार के तात्पर्य (प्राधान्य) से नहीं। अतएव यहाँ वाच्य (दीपक) अलङ्कार के द्वारा ही काव्यव्यवहार करना उचित है।

और जहाँ वाच्य (अलङ्कार) की स्थिति व्यङ्ग्य (अलङ्कार) परतया (व्यङ्ग्य की प्रधानतापरक) ही हो वहाँ व्यङ्ग्य के अनुसार ही व्यवहार (नामकरण) करना उचित है। जैसे—

१. इसको (तो पहले ही) लक्ष्मी प्राप्त है फिर यह मुझे वह पूर्वानुभूत मन्थन से उत्पन्न दुःख क्यों देगा। (इस समय) आलस्यरहित मन के होने के कारण इसकी पहले के समान (दीर्घकालीन) निद्रा की भी कोई सम्भावना नहीं जान पड़ती। सम्पूर्ण द्वीपों के राजा (तो) इसके अनुचर हो रहे हैं फिर यह दोबारा सेतुबन्धन क्यों करेगा? हे राजन्! तुम्हारे (समुद्र के तट पर) आने से मानो इस भाँति के सन्देहों के धारण करने से ही समुद्र काँप रहा है।

(इस स्थल पर समुद्र के स्वाभाविक अथवा चन्द्रोदयादिनिमित्तक जल की चंचलतारूप कम्प में विशाल-सेना सहित समुद्र के किनारे पर आये हुये राजा को देखकर मथन अथवा सेतुबन्ध आदि सन्देह निमित्तक भय से उत्पन्न कम्पनरूप कम्पतया उत्प्रेक्षा की गई है। अतएव यहाँ सन्देह तथा उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभावसङ्कर-अलङ्कार (कविप्रौढोक्तिसिद्ध) वाच्यालङ्कार है। उससे राजा की वासुदेवरूपता अर्थात् राजा में वासुदेव का आरोपमूलक रूपक अलङ्कार व्यङ्ग्य है। इस भाँति यह कवि प्रौढोक्ति सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्य रूपक-ध्वनि का उदाहरण है।)

इस स्थल पर यह शङ्का तो हो सकती है कि वासुदेव की अपेक्षा राजा में प्राप्तश्रीकत्व, अनलसमनस्कत्व तथा द्वीपनाथानुगतत्व आदि धर्मों का आधिक्य प्रतीत होने से वासुदेवाभेदरुप रूपकालङ्कार न होकर व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य हो सकता है। किन्तु यह व्यतिरेक वास्तव नहीं है। वासुदेव का जो स्वरूप वर्त्तमान में प्रसिद्ध है उसमें उनके साथ भी प्राप्तश्री आदि यह सम्पूर्णधर्म तो विद्यमान हैं ही। ऐसी दशा में व्यतिरेक के वास्तविक रूप में न होने से तथा अभेदारोय में कोई बाधक न होने से इस स्थल पर रूपकध्वनि ही है। व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य नहीं है।

अथवा जैसे मेरा ही—

२. (प्रसन्नता के कारण चञ्चलता एवं विकास से युक्त अतएव) हे चञ्चल तथा दीर्घनेत्रधारिणी प्रिये, अब (कोपकालुष्य के पश्चात् प्रसादोन्मुख मुख के) लावण्य (संस्थानसौष्ठव) एवं कान्ति से दिशाओं और दिशाओं के अन्तराल भाग को (पूर्णिमा के चन्द्रमा के सदृश) परिपूर्ण कर देने वाले तुम्हारे मुख के मन्दमुस्कान युक्त (स्मेरे) होने पर भी इस समुद्र में तनिक भी चंचलता दृष्टिगोचर नहीं होती है, अतएव यह स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहा है कि यह समुद्र पूर्णरूप से जलराशि (जाड्यसमूह तथा जलसमूह मात्र) है।

(यदि यह समुद्र जड़ न होकर सहृदय रहा होता तो पूर्णचन्द्र के समान तुमाहारे मुख का अवलोकन कर उसमें मदनविकाररूप क्षोभ और समुद्र में यदि चन्द्रमा और तुम्हारे मुख के सौन्दर्यगत तारतम्य को समझने की बुद्धि रही होती तो उस (समुद्र) में चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर तुम्हारे को देखकर जल की चंचलतारूप क्षोभ अवश्य रहा होता।)

(यह कबिनिबद्धनायक का कथन है। जलराशि में श्लेषालङ्कार वाच्य है, उससे नायिका के मुख पर पूर्णिमा के चन्द्र का आरोपरूप रूपकालङ्कार व्यङ्ग्य है। अतएव यह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्य का उदाहरण है।)

इस प्रकार के उदाहरणों में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूपक के आश्रय से ही काव्य का चारुत्व व्यवस्थित होता है। अतएव इस उदाहरण में रूपकध्वनि व्यवहार (नामकरण) ही उचित है।

उपमाध्वनि (के उदाहरण) जैसे—

३. वीरों की दृष्टि प्रियतमा के कुङ्कुमरञ्जित स्तनों में उतनी नहीं रमती कि जितनी सिन्दूर से लिप्त हाथियों के कुम्भस्थलों में (रमा करती है)।

इस स्थल पर वीरपुरुषों की दृष्टि प्रिया के स्तनोंत्सङ्ग में रमण की अपेक्षा शत्रु के हाथियों के कुम्भस्थलों में रमण करने में अतिशय के प्रतिपादन से स्वतः-सम्भवी व्यतिरेकालङ्कार से हाथियों के कुम्भस्थलों में (गजकुम्भ स्थलानुयोगिक) प्रिया के स्तनों के (प्रियाकुचकुड्मलप्रतियोगिक) सादृश्यरूप उपमा व्यङ्ग्य है। उसके कारण उन कुम्भस्थलों के मर्दन में वीरों को अधिक आनन्द की उपलब्धि हुआ करती है। इस भाँति व्यङ्ग्य उपमामूलक वीरातिशय के चमत्कारोत्पादक होने से स्वतःसम्भवी अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्य उपमाध्वनि का उदाहरण है।

अथवा जैसे 'विषमबाणलीला' (नामक स्वरचित काव्य) में (त्रैलोक्यविजयी) कामदेव के (असुरविषयक) पराक्रम (वर्णन प्रसङ्ग) में मेरे ही द्वारा रचित यह श्लोक उदाहरण के रूप में है:—

४. लक्ष्मी के सहोदर (अति उत्कृष्ट) रत्न के आहरण में तत्पर उन असुरों के उस सर्वदा युद्ध के लिये तैयार हृदय को कामदेव द्वारा प्रियाओं के अधरविम्ब के रस का आस्वादन करने में संलग्न कर दिया गया।

इस उदाहरण में अतिशयोक्ति अलङ्कार वाच्य है। उससे प्रिया का अधरविम्ब सम्पूर्ण रत्नों का साररूप कौस्तुभमणि के सदृश है, यह उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है। अतः कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्य उपमाध्वनि का उदाहरण है।

५. आक्षेपध्वनि का उदाहरण—जैसे—जो व्यक्ति पानी के घड़ों से नाप कर समुद्र के परिमाण को जान लेने में समर्थ हो सकता है वही व्यक्ति हयग्रीव के सम्पूर्ण गुणों का वर्णन कर सकने में समर्थ हो सकता है।

इस उदाहरण में 'अतिशयोक्ति' वाच्यालङ्कार है। इस वाच्यालङ्कार से हयग्रीव के सम्पूर्ण गुणों की अवर्णनीयता प्रतिपादनरूप (गुणों की) असाधारण विशेषता प्रकाशनपरक 'आक्षेप' नामक अलङ्कार व्यङ्ग्य है। अतः यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्य आक्षेपध्वनि का उदाहरण हुआ।

अर्थान्तरन्यासध्वनि शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (दोनों ही प्रकार का) हो सकता है। इसमें से शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का उदाहरण यह है—

६. फल (तो) भाग्य के आधीन है, इस बारे में हम क्या करें (अर्थात् हम कुछ भी कर सकने में असमर्थ हैं)। फिर भी इतना तो कहते ही हैं कि रक्ताशोक वृक्ष के पल्लव अन्य (वृक्षों के) पल्लवों के सदृश नहीं होते हैं।

शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि पदप्रकाश्य भी हुआ करता है। अतएव वाक्य का दूसरा अर्थ (अप्रस्तुतप्रशंसा) में तात्पर्य होने पर भी (अर्थान्तरन्यास के पदप्रकाश्य होने से) किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं हुआ करता है।

(इस स्थल पर अप्रस्तुतप्रशंसा और अर्थान्तरन्यास में दो अलङ्कार व्यङ्ग्य हो सकते हैं। सामान्य तथा विशेष के समर्थ्यसमर्थक भाव होने से अर्थान्तरन्यास तथा गम्यगमकभाव के होने से अप्रस्तुतप्रशंसा हुआ करती है।)

अर्थान्तरन्यासध्वनि पदप्रकाश्य तथा अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनि वाक्यप्रकाश्य हुआ करती है। अत: कोई विरोध नहीं है।

दूसरे (अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि) का उदाहरण—जैसे—

७. हृदयस्थित क्रोध के होने पर भी मुख पर उस क्रोध का भाव प्रकट न करने वाली मुझ को भी तुम मना रहे हो, अतएव (प्रकट भाव की अपेक्षा हृदयस्थित भाव के भी ज्ञाता) हे बहुज्ञ! तुम्हारे अपराधी होने पर भी तुमसे रूठा जा सकना सम्भव नहीं है।

यहाँ वाच्यार्थ विशेष से बहुज्ञ के अपराधी होने पर भी उनपर क्रोध क्रोध का किया जाना सम्भव नहीं है, यह समर्थक अर्थ सामान्य तात्पर्य से सम्बद्ध अन्य विशेष को अभिव्यक्त करता है। अत: अर्थान्तरन्यास ध्वनि है।

व्यतिरेकध्वनि भी दोनों प्रकार की (शब्दशक्त्युत्थ तथा अर्थशक्त्युत्थ) हो सकती है। इन दोनों प्रकारों में प्रथम (शब्दशक्त्युत्थ) का उदाहरण ''खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति'' इत्यादि पहिले दिखलाया जा चुका है। अर्थशक्त्युत्थ का उदाहरण यह है—

८. ''एकान्त निर्जन वन में पत्तों से रहित कुबड़ा बनकर भले ही उत्पन्न हो जाऊँ किन्तु दान की भावना अथवा रुचि से युक्त तथा दरिद्र होकर मानवलोक में उत्पन्न न होऊँ।''

इस श्लोक में दानसम्बन्धी रुचि को रखने वाले दरिद्र पुरुष के जन्म की निन्दा और पत्रों से रहित कुब्ज-वृक्ष के जन्म का अभिनन्दन शब्दों से साक्षात् वाच्य है। यह वाच्य उस प्रकार के वृक्ष से भी उस भाँति के पुरुष की शोचनीयता के आधिक्य को वाक्य द्वारा उपमानोपमेयभाव (सादृश्य) प्रतीतिपूर्वक तात्पर्यरूप से व्यञ्जना द्वारा प्रकाशित करता है। अतएव यहाँ अर्थशक्तिमूल व्यतिरेकध्वनि है। यहाँ वाच्य में कोई अलङ्कार नहीं है। अत: स्वत:सम्भवी वस्तु से व्यतिरेकालङ्कार ध्वनी व्यङ्ग्य है।

उत्प्रेक्षाध्वनि—जैसे—

९. ''चन्दन के वृक्ष में लिपटे हुये सर्पों के निश्वास वायु से (मूर्च्छित) वृद्धि को प्राप्त यह मलय-वायु वसन्त-ऋतु के समय पथिकों को मूर्च्छित करता है।''

वसन्त ऋतु में कामोद्दीपक होने से पीड़ाकारी होने से मलयवायु पथिकों के लिये मूर्च्छाकारी हुआ करता है। किन्तु यह वह (मूर्च्छाकारित्व) चन्दन के वृक्ष में लिपटे हुये सर्पों के निश्वास वायु से मूर्च्छित (वृद्धि को प्राप्त) होने के कारण उत्प्रेक्षित किया गया है। (विषाक्त वायु के मिल जाने के कारण मलयवायु मूर्च्छाकारी हो जाया करता है। अथवा पथिकों में से एक की मूर्च्छा दूसरों के भी धैर्यच्युति द्वारा उनकी मूर्च्छा का कारण बन सकती है।) इस भाँति उत्प्रेक्षा साक्षात् (उत्प्रेक्षावाचक 'इव' आदि शब्दों से) कथित न होने पर भी वाक्यार्थ की सामर्थ्य से संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यरूप में प्रतीत हुआ करती है। अतएव यहाँ कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से उत्प्रेक्षालङ्कारध्वनि व्यङ्ग्य है।

इस भाँति के उदाहरणों अथवा विषयों में उत्प्रेक्षावाचक 'इव' आदि शब्दों के प्रयोग के बिना (उत्प्रेक्षा) आदि का सम्बन्ध नहीं हुआ करता है, यह कहा जाना संभव नहीं है। बोद्धा की प्रतिभा के सहयोग से चन्दनासक्त इत्यादि विशेषण के उत्प्रेक्षा-बोधक होने से अन्य उदाहरणों में भी उन 'इव' आदि के प्रयोग के बिना भी उस उत्प्रेक्षा की प्रतीति देखी जाती है। जैसे—

"आज यह पूर्णिमा का चाँद तुम्हारे ईर्ष्या के कारण मलिन मुख की समानता को प्राप्त कर मानों अपने शरीर में समाता ही नहीं है।"

'सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाश से भरदेना' यह पूर्णिमा के चाँद का स्वाभाविक कार्य है, वह मुख के सादृश्य को प्राप्त करने के कारण उत्प्रेक्षित है। इस उदाहरण में श्लोक में 'विअ' पाठ है। उसकी छाया में 'एव' पाठ दिया है। इसका तो 'इव' अनुवाद भी हो सकता है। किन्तु इस श्लोक को इसी बात की सिद्धि के लिये उद्धृत किया गया है। इस श्लोक में 'इव' शब्द का प्रयोग न किये जाने पर भी 'उत्प्रेक्षा' है। 'विअ' का 'एव' अनुवाद किये जाने पर अर्थ की सङ्गति और अधिक बलवती हो जाती है। फिर भी यदि इस पर कोई पाठक आपत्ति करे तो उसके सन्तोष के निमित्त अन्य उदाहरण भी दिया जाता है—

अथवा—(वाचक के अभाव में भी उत्प्रेक्षा का अन्य उदाहरण) जैसे—

"भय के कारण व्याकुलता को प्राप्त, घरों के चारों ओर भ्रमण करते हुए इस हरिण का किन्हीं धनुर्धारी लोगों ने पीछा नहीं किया, फिर भी स्त्रियों के कानों तक फैले हुये नेत्रों के बाणों से (अपनी सर्वस्वभूत) नेत्र की शोभा को नष्ट कर दिये जाने के कारण ही मानों कहीं रुक नहीं सका।"

शब्द एवं अर्थ के व्यवहार में सहृदयानुरूप प्रसिद्धि ही अर्थ की प्रतीति में प्रमाण है। इस दृष्टि से यहाँ 'इव' आदि के अभाव में भी सहृदय-जन उत्प्रेक्षा का अनुभव करते हैं। अतएव शब्दार्थ के व्यवहार में प्रसिद्धि अर्थात् सहृदयजनों का अनुभव ही प्रमाण है। इस अनुभव के आधार पर 'इव' आदि के न होने पर भी प्रतीति होने से असम्बद्धार्थकता की प्रतीति नहीं हो सकती है।

श्लेषध्वनि (का उदाहरण)—जैसे—

१०. जिस (द्वारिका नामक) नगरी में नवयुवकगण अपने सौन्दर्य के लिये प्रसिद्ध थे, एकान्त अथवा शुद्ध उज्ज्वल वेषभूषा आदि होने से अनुराग को बढ़ाने वाली, त्रिबली युक्त अपनी बधुओं के साथ, रमणीयता के कारण पताकाओं से सुशोभित, एकान्त होने से

कामोद्दीपक तथा झुके हुये छज्जों से युक्त अपने कूटागारों (बलभियों—महल के ऊपर के निजी कमरों का सेवन किया करते थे।

इस उदाहरण में वहाँ के नवयुवक बलभियों (कूटागारों) का सेवन किया करते थे। इस वाक्यार्थ—प्रतीति के पश्चात् बधुओं के सदृश कूटागारों, इस श्लेष की प्रतीति भी अर्थ की सामर्थ्य से मुख्यरूप में हुआ करती है। अतः यहाँ स्वतः-सम्भवी वस्तु से अलङ्कारव्यङ्ग्यरूप श्लेष ध्वनि है।

यथासंख्य-अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण—जैसे—

११. आम्र के वृक्ष में जैसे पहले पत्तों के अङ्कुर निकले, तत्पश्चात् वे पल्लव बन गये, पुनः बौर की कली निकली और वह खिल गई। इसी क्रम से उसी के साथ-साथ हृदय में कामदेव अङ्कुरित, पल्लवित, मुकुलित तथा विकसित हुआ।

इस स्थल पर प्रथम वाक्यपठित क्रम के अनुसार अङ्कुरित आदि शब्दों को उसी क्रम से दुबारा कथन किये जाने से मदन-विशेषणरूप अङ्कुरित आदि शब्दों में जो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यचारुत्व की प्रतीति होती है वह कामदेव और आम्र वृक्ष के तुल्ययोगिता अथवा समुच्चयलक्षण वाच्यचारुत्व से उत्कृष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। अतएव प्रस्तुत श्लोक में स्वतःसम्भवी अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्यरूप यथासंख्य-अलङ्कारध्वनि स्पष्टरूप से प्रतीत हो रही है।

इसी भाँति अन्य ध्वनि रूप अलङ्कार भी यथोचितरूप से स्वयं ही समझ लेने चाहिये॥२७॥

ध्वन्यालोकः

एवमलङ्कारध्वनिमार्गं व्युत्पाद्य तस्य प्रयोजनवत्तां स्थापयितुमिदमुच्यते—

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम्।

तेऽलङ्कारः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः।।२८।।

ध्वन्यङ्गता चोभाम्यां प्रकाराम्यां व्यञ्जकत्वेन व्यङ्ग्यत्वेन च। तत्रेह प्रकरणात् व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्। व्यङ्ग्यत्वेऽप्यलङ्काराणां प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः। इतरथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं प्रतिपादयिष्यते।।२८।।

अलङ्कार-ध्वनि का प्रयोजन

इस भाँति अलङ्कार-ध्वनि के मार्ग का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करके अब उस उत्पादन की सार्थकता सिद्ध करने के लिए यह कहते हैं—

कटक-कुण्डल आदि स्थानीय जो अलङ्कार वाच्यावस्था में रहकर शरीर-रूपता को भी प्राप्त कर सकने में समर्थ नहीं हो पाते हैं, वे ही अलंकार ध्वन्यात्मक काव्य की व्यङ्ग्यत्व दशा को प्राप्त कर अति उत्तम काव्यात्मता को प्राप्त कर लिया करते हैं ॥२८॥

(अलङ्कारों की) ध्वन्यङ्गता व्यञ्जक और व्यङ्ग्य दोनों ही रूपों में हो सकती है। उनमें से प्रकरणवश व्यङ्ग्यता ही ध्वन्यङ्गता जाननी चाहिये। अलङ्कारों के व्यङ्ग्य होने पर भी व्यङ्ग्य

की ही प्रधानता का कथन होने पर ही ध्वनि में अन्तर्भाव का होना संभव है, अन्यथा अप्रधान होने की स्थिति में गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व ही माना जायगा ॥२८॥

अङ्गित्वेन व्यङ्ग्यतायामपि अलङ्काराणां द्वयीगतिः। कदाचिद् वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते कदाचिदलङ्कारेण। तत्र–

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।

ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासाम्

अत्र हेतुः–

काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥२९॥

यस्मात्तत्र तथाविध व्यङ्ग्यालङ्कारपरत्वेन काव्यं प्रवृत्तम्। अन्यथा तु तद् वाक्यमात्रमेव स्यात्॥२९॥

प्रधानरूप से प्रतीयमान व्यङ्ग्यरूप अलङ्कारों के भी दो प्रकार हैं। कभी वस्तुमात्र से व्यक्त हुआ करते हैं और कभी अलङ्कार से (वस्तुव्यङ्ग्य अलङ्कार और अलङ्कारव्यङ्ग्य अलङ्कार) उनमें से—

जब केवल वस्तुमात्र से अलङ्कार अभिव्यञ्जित हुआ करते हैं तब उनकी ध्वन्यङ्गता (प्रधानता) निश्चित है.(अर्थात् तब वे अलङ्कार वाच्यभूत वस्तु की अपेक्षा निश्चितरूप से अधिक चमत्कारोत्पादक होने के कारण ध्वनिपद वाच्य हुआ करते हैं।)।

इसका कारण (यह है कि—)

(वहाँ) काव्य का व्यापार ही उस (अलङ्कार) के आश्रित है ॥२९॥

क्योंकि वहाँ उस प्रकार के व्यङ्ग्य-अलङ्कार के बोधन के लिए ही काव्य प्रवृत्त हुआ है। अन्यथा तो वह (वस्तुमात्र का प्रतिपादक चमत्काररहित) केवल वाक्यमात्र ही रह जायगा अर्थात् काव्य ही नहीं रहेगा।

तासामेवालङ्कृतीनाम्–

अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्याभावे,

पुनः

ध्वन्यङ्गता भवेत्।

चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते॥३०॥

उक्तंह्येतत्–चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्योः प्राधान्यविवक्षा इति। वस्तुमात्रव्यङ्ग्यत्वे चालङ्काराणमिनन्तरोपदर्शितेभ्य एवोदाहरणेभ्यो विषय उन्नेयः। तदेवमर्थमात्रेणालङ्काररूपेण वार्थन, अर्थान्तरस्यालङ्कारस्य वा प्रकाशने, चारुत्वोत्कर्षनिबन्धने सति प्राधान्ये, अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनिरवगन्तव्यः॥३०॥

उन्हीं अलङ्कारों की—

दूसरे अलङ्कारों से व्यङ्ग्य होने पर,

फिर—

(व्यङ्ग्य अलङ्कार) ध्वनिरूपता (ध्वन्यङ्गता) होती है।

यदि चारुत्व के उत्कर्ष से व्यङ्ग्य की प्रधानता प्रतीत होती हो तो ॥३०॥

यह कहा जा चुका है कि वाच्य तथा व्यङ्ग्य के प्रधानता की विवक्षा (उनके) चारुत्व के उत्कर्ष के कारण ही हुआ करती है। वस्तुमात्र से व्यङ्ग्य अलङ्कारों (उदाहरण पृथक नहीं दिखलाये हैं, अतएव उन) का विषय पूर्वप्रदर्शित उदाहरणों में से ही समझ लेना चाहिये। इस भाँति वस्तुमात्र से अथवा अलङ्कार विशेषरूप अर्थ से दूसरे वस्तुमात्र अथवा अलङ्कार के प्रकाशन में चारुत्व के उत्कर्ष के कारण प्रधानता होने पर अर्थशक्त्युद्भवरूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि समझना चाहिये।

यहाँ यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वस्तु और अलङ्कार दोनों व्यङ्ग्य और दोनों व्यञ्जक ही हो सकते हैं। अतएव वस्तु से (१) वस्तुव्यङ्ग्य, (२) वस्तु से अलङ्कारव्यङ्ग्य, (३) अलङ्कार से वस्तुव्यङ्ग्य तथा (४) अलङ्कार से अलङ्कार-व्यङ्ग्य—ये चार भेद हो जाते हैं। पहले अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के (१) स्वतः-सम्भवी (२) कवि प्रौढोक्तिसिद्ध तथा (३) कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद किये जा चुके हैं। इन तीनों में से प्रत्येक के उपर्युक्त चार चार भेद होकर (३×४=१२) कुल बारह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त शब्दशक्त्युत्थ के वस्तु और अलङ्कार रूप दो भेद उभयशक्त्युत्थ का एक भेद और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का एक—कुल मिलाकर सोलह भेद विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूल-ध्वनि के हुये। अविवक्षितवाच्यध्वनि अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। इस भाँति सभी भेदों को मिलाकर ध्वनि के कुल अठारह भेद हो गये।

लोचनम्

ननूक्तास्तावच्चिरन्तनैरलङ्कारास्तेषां तु भवता यदि व्यङ्ग्यत्वं प्रदर्शितं किमियतेत्याशङ्क्याह—एवमित्यादि। येषामलङ्काराणां वाच्यत्वं शरीरीकरणं शरीरभूतात्प्रस्तुतादर्थान्तरभूततया अशरीराणां कटकादिस्थानीयानां शरीरता पादनं व्यवस्थितं सुकवीनामयत्नसम्पाद्यतया। यदि वा वाच्यत्वे सति येषां शरीरतापादनमपि न व्यवस्थितं दुर्घटमिति यावत्। तेऽलङ्कारा ध्वनेर्व्यापारस्य काव्यस्य वाङ्गतां व्यङ्ग्यरूपतया गताः सन्तः परां दुलभां छायां कान्तिमात्मरूपतां यान्ति। एतदुक्तं भवति सुकविविदग्धपुरन्ध्रीवद्भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसम्पाद्या कुङ्कुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का सम्भावनापि। एवम्भूता चेयं व्यङ्ग्यता या अप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालङ्कारेभ्य उत्कर्षमलङ्काराणां वितरति।

बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्यमुमर्थं मनसि कृत्वाह—इतरथा त्विति ।।२८।।

तत्रेति। द्वय्यां गतौ सत्याम्। अत्र हेतुरित्ययं वृत्तिग्रन्थः। काव्यस्य कविव्यापारस्य वृत्तिस्तदाश्रयालङ्कारप्रवणा यतः। अन्यथेति। यदि न तत्परत्वमित्यर्थः। तेन तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यता नैव शङ्क्येति तात्पर्यम्। तासामेवास्कारः। ध्वन्यङ्गतेति। ध्वनिभेदत्वमित्यर्थः।

व्यङ्ग्यप्राधान्यमिति। अत्र हेतुः–चारुत्वोत्कर्षत इति। यदीति। तदप्राधान्ये तु वाच्यालङ्कार एव प्रधानमिति गुणीभूतव्यङ्ग्यतेति भावः। नन्वलङ्कारो वस्तुना व्यज्यते अलङ्कारान्तरेण च व्यज्यत इत्यत्रोदाहरणानि किमिति। न दर्शितानीत्या शङ्क्याहवस्त्विति। एतत्संक्षिप्योपसंहरति-तदेवमिति। व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकस्य च प्रत्येकं वस्त्वलङ्काररुपतया द्विप्रकारत्वाच्चतुर्विधोऽयमर्थशक्त्युद्भव इति तात्पर्यम्॥२९-३०॥

प्राचीन आचार्यों द्वारा अलङ्कारों का वर्णन किया गया है। यदि उन अलङ्कारों का व्यङ्ग्यत्व आप द्वारा दिखलाया गया है तो इतने से क्या? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं— "इस प्रकार" इत्यादि। जिन अलङ्कारों वाच्यरूप से शरीररूप होना (शरीरीकरण) अर्थात् शरीरभूत प्रस्तुत से अर्थान्तररूप होने के कारण 'कटक' आदि की भाँति शरीरभिन्न का शरीरतापादन सुकवियों द्वारा अयत्नसम्पाद्य होने के कारण व्यवस्थित है। अथवा यदि वाच्य होने पर जिनका शरीरतापादन भी नहीं बन सकता। वे अलङ्कारध्वनि के व्यापार की अथवा काव्य की व्यङ्ग्य के प्रकार से अङ्गता को प्राप्त होते हुये दुलर्भछाया अर्थात् कान्ति को प्राप्त करते हैं, आत्मारूप हो जाया करते हैं। बात यह कही गई—यद्यपि सुकवि विदग्ध पुरन्ध्री की भाँति श्लिष्ट (एक में एक सक्त) योजना करता था, तथापि कुंकुम के पीलेपन की भाँति इस (उपमा आदि अलङ्कार) का शरीरतापादन बहुत कष्ट से हो पाता है। इस प्रकार की यह व्यङ्ग्यता, जो अप्रधानभूत होकर भी वाच्यमात्र जो अलङ्कार है उनसे अलङ्कारों का अधिक उत्कर्ष वितरण करती है।

'लड़कों की क्रीडा में राजपने की भाँति' यह बात मन में रखकर कहते हैं— अन्यथा—॥२८॥

उनमें—। दो स्थितियों के होने पर। 'यहाँ कारण' यह वृत्तिग्रन्थ है। क्योंकि काव्य की अर्थात् कवि के व्यापार की प्रवृत्ति उसके आश्रित अर्थात् अलङ्कार प्रवण है। अन्यथा—अर्थात् यदि तात्पर्य न हो। अतएव वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग की शङ्का (संभावना) नहीं करनी चाहिये, यह मतलब है। 'उन्हीं अलङ्कारों की' यह आगे पढ़ी जाने वाली कारिका का उपस्कार है। 'फिर' यह कारिका के बीच में उपस्कार है। ध्वन्यङ्गतेति। ध्वनि का भेद होना-यह अर्थ है। व्यङ्ग्य की प्रधानता—। इसमें कारण है—चारुत्व के उत्कर्ष के कारण। यदि—। भाव यह कि उसका (अर्थात् व्यङ्ग्य की) प्रधानता न होने पर वाच्यालङ्कार ही प्रधान है, इस भाँति गुणीभूत-व्यङ्ग्यता होगी। अलङ्कार वस्तु से व्यञ्जित हुआ करता है और अलङ्कारान्तर से व्यंजित से हुआ करता है। इनमें उदारहण क्यों नहीं दिखलाये हैं? यह आशङ्का करके कहते हैं— वस्तु०—। इसे संक्षेप करके उपसंहार करते हैं—तो इस प्रकार—। व्यङ्ग्य के तथा व्यञ्जक के प्रत्येक वस्तुरूप तथा अलङ्काररूप होने के कारण दो प्रकार होने से यह अर्थशक्त्युद्भव चार प्रकार का होता है यह तात्पर्य है॥२९-३०॥

मंजूआशुबोधिनी

प्राचीन कवियों द्वारा कथित अलङ्कारों के ही ध्वनित्व की स्थापना करने में कोई विशेष

लाभ ज्ञात नहीं होता है। अतएव अलङ्कारध्वनि के विशेष व्युत्पादन के पश्चात् उसके प्रयोजन का कथन करते हैं:—

जो अलङ्कार वाच्यावस्था में रहकर कटककुण्डल आदि स्थानापन्न होने के कारण शरीरत्व रूप को भी प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो पाया करता है वही अलङ्कार ध्वन्यात्मक काव्य की व्यङ्ग्यत्व अवस्था को प्राप्तकर अतिउत्कृष्ट शोभास्पद काव्यात्यता को प्राप्त कर लिया करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त अलङ्कारों के प्राचीनों द्वारा वाच्यरूप से प्रतिपादित होने पर भी ध्वनिरूप में परिणत होने पर सहृदयों द्वार उनमें अनुभूयमान चमत्कारविशेष की उत्पादकता का अपलाप नहीं किया जा सकता है। अतएव अलङ्कारध्वनि का निरूपण करना निरर्थक नहीं है।

उक्त अलङ्कार व्यञ्जक और व्यङ्ग्य—इन दो प्रकारों से ध्वनि के अङ्ग हुआ करते हैं, उसमें वाच्यभूत अलङ्कार व्यञ्जकरूप से ही ध्वनि के उपकारक होने से अङ्ग गिने जाया करते हैं किन्तु व्यङ्ग्यात्मक अलङ्कार तो स्वयं अलङ्कार्य हो जाया करते हैं, अत: वे ध्वनि के साथ तादात्म्य को प्राप्त कर ध्वन्यात्मक होने से ही ध्वनि के अङ्ग कहलाते हैं, प्रकृत में तो अन्तिम प्रकार का ही विस्तृत विवेचन किया गया है, अत: वर्णित उक्त प्रयोजन का बाध नहीं हुआ।

प्रधानरूप से व्यज्यमान अलङ्कार ही उक्त अलङ्कारध्वनि के अभ्यन्तर गृहीत हुआ करते हैं तथा अप्रधानरूप से व्यज्यमान अलङ्कार तो गुणीभूतव्यङ्ग्य के अन्दर ही गृहीत होते हैं। अतएव दीपक आदि वाच्यभूत अलङ्कार में उपमा आदि अप्रधान रूप से ही व्यङ्ग्यरूप में ही भान होने के कारण ध्वनि में ग्रहण नहीं हुआ करता है।

प्रधानरूप से प्रतीयमान व्यङ्ग्यरूप अलङ्कारों के दो भेद हैं—'वस्तुव्यङ्ग्य अलङ्कार' और 'अलङ्कारव्यङ्ग्य अलङ्कार'। उनमें—

जब केवल वस्तुमात्र से अलङ्कार अभिव्यंजित हुआ करते हैं तब वे अलङ्कार वाच्यभूत वस्तु की अपेक्षा निश्चितरूप से अधिक चमत्कारोत्पादक होने के कारण 'ध्वनि' शब्द से कथित हुआ करते हैं क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ को प्रगट करने की दृष्टि से ही काव्यरचना में कवियों की प्रवृत्ति हुआ करती है अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ बोधन द्वारा ही सहृदयों को आह्लादित करने से कवि का उद्देश्य सिद्ध हुआ करता है। अन्यथा कविता करना ही व्यर्थ हो जायगा।

उसी को संक्षेप में स्पष्ट करते हैं—क्योंकि उपर्युक्त काव्य में वाच्यवस्तु की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थरूप अलङ्कार विषयक बोध को प्रमुखरूप को अभिव्यक्त करने के तात्पर्य से ही काव्य का निर्माण हुआ है। अन्यथा यदि व्यङ्ग्यबोध में मुख्य तात्पर्य न हो तो वह काव्य ही न हो सकेगा, अपितु साधारण वाक्य के सदृश ही हो जायगा।

इस भाँति वस्तुव्यङ्ग्य अलङ्कार का ध्वनिरूप स्थापितकर अब अलङ्कारव्यङ्ग्य-अलङ्कार का ध्वनिरूप स्थापित करते हैं:—अलंकारेति। व्यङ्ग्य भिन्न वाच्यात्मक अलङ्कारों से अभिव्यञ्जित होने वाले व्यङ्ग्यरूप अलङ्कार यदि सहृदयों को मुख्यरूप से अधिक चमत्कारोत्पादक प्रतीत होते हों, तो वे भी ध्वनिपदवाच्य हुआ करते हैं, किन्तु प्रमुखरूप से व्यङ्ग्यभूत अलङ्कारों के बोध न होने पर वाच्यात्मक अलङ्कार विषयक बोध की ही प्रधानता होने से गुणी भूतव्यङ्ग्य काव्य का ही व्यवहार हुआ करता है। क्योंकि अधिक रमणीयता की

प्रतीति के अनुसार ही वाच्य और व्यङ्ग्यों में प्रधानता और अप्रधानता की विवक्षा की जाया करती है।

उक्त वस्तुमात्र व्यङ्ग्य अलङ्कारध्वनि का 'प्राप्तश्रीरेष.....' इत्यादि द्वारा वस्तुव्यङ्ग्यरूपकध्वनि आदि उदाहरण समझ लेना चाहिये। तथा अलङ्कारव्यङ्ग्य अलङ्कारध्वनि का 'काकतीयविभो....' इत्यादि से निदर्शनाव्यङ्ग्य अधिकालङ्कार ध्वनि आदि उदाहरण जानना चाहिये।

इस विवरण से यह भी स्पष्ट हो गया है कि वस्तु तथा अलङ्कार दोनों व्यङ्ग्य तथा दोनों व्यञ्जक हो सकते हैं। अतएव १. वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य, २. वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य, ३. अलङ्कार से वस्तुव्यङ्ग्य तथा ४. अलङ्कार से अलङ्कर व्यङ्ग्य—ये चार भेद हो जाते हैं। पहले अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कवि निबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद किये थे। इन तीनों भेदों में से प्रत्येक के उपर्युक्त ४-४ भेद होकर ३×४=१२ भेद अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त शब्दशक्त्युत्थ के वस्तु तथा अलङ्काररूप दो भेद, उभयशक्त्युत्थ का एक तथा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—एक—ये चार भेद पहले कहे जा चुके हैं। इस प्रकार इन चारों को मिलाकर १६ भेद विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूलध्वनि के हुये। दो भेद अविवक्षितवाच्यध्वनि के (अर्थान्तर सङ्क्रमित वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य)। इस भाँति कुल मिलाकर ध्वनि के अठारह भेद हो गये ॥३०॥

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासविवेकं कर्तुमुच्यते-

इस प्रकार ध्वनि प्रभेदों का प्रतिपादन करके उस (ध्वनि) के आभास ध्वन्यामास गुणीभूतव्यङ्ग्य को समझने (पृथक् ज्ञान, भेदज्ञान कराने) के लिये कहते हैं—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते ।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ।।३१।।

जिस काव्य में प्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ अत्यधिक गूढ़ रूप से भासित होता है, अथवा वाच्यार्थ के पोषकरूप से ही भासित हुआ करता है, वह (काव्य) संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यध्वनि में व्यवहृत न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य में ही व्यवहृत हुआ करता है। क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ के स्पष्टरूप से मुख्यतया अतिशय चमत्कारोत्पादक होने पर ही ध्वनि का व्यवहार हुआ करता है, अन्यथा नहीं।

द्विविधो प्रतीयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च । तत्र य एव स्फुटः शब्दशक्त्यार्थ-शक्त्या वा प्रकाशते, स एव ध्वनेर्मार्गः नेतरःस्फुटोऽपि योऽभिधेयस्याङ्गत्वेन प्रतीयमानोऽवभासते सोऽस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरगोचरः । यथा-

कमलाअराणँ मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा! ।
केण वि गामतड़ाए अब्भं उत्ताणअं फलिहम् ।।

(कमलाकरा न मलिता हंसा उड्डायिता न च पितृष्वसः ।
केनापि ग्रामतडागे अभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥ इति च्छाया ॥)

अत्र हि प्रतीयमानस्य मुग्धवध्वाजलधरप्रतिबिम्बदर्शनस्यवाच्याङ्गत्वमेव ।

प्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ स्फुट और अस्फुट (गूढ़) के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें जो शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल व्यञ्जना द्वारा स्फुटरूप से प्रकाशित हुआ करता है, वही ध्वनि का विषय हुआ करता है। दूसरा (अस्फुटरूप से प्रतीत होने वाला ध्वनि का विषय) नहीं हुआ करता है। वह ध्वन्याभास हुआ करता है। किन्तु स्फुटरूप से भासमान होने पर भी जो वाच्यार्थ के ही उपकारकरूप से प्रतीत हुआ करता है वह इस (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि) का विषय नहीं हुआ करता है, अर्थात् स्फुट तथा प्रधान व्यङ्ग्य ही ध्वनि का विषय समझा जाया करता है। (वाच्य का अङ्गरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण)—जैसे—

"मुग्धा नायिका अपनी बुआ से कहती है—हे पितृष्वसः! इस सरोवर में कमलसमूह भी खण्डित नहीं हुआ और हंसों को भी उड़ाकर नहीं भगाया गया, अतएव ऐसा ज्ञात होता है कि किसी अत्यन्त चतुरव्यक्ति ने ही इस सरोवर में उत्तान कर मेघ को धीमे से रख दिया है।"

वास्तविकता तो यह है कि "मुग्धा नायिका ने सरोवर के जल में मेघ की परछाहीं देखी"। इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर उक्त वाच्यार्थ की अपेक्षा गौणरूप में ही उक्त व्यङ्ग्यार्थ भासित हो सका क्योंकि सरोवर के जल के अधस्तल पर पड़ती हुई मेघ की परछाहीं को देखकर किसी व्यक्ति द्वारा स्थापित किये हुये साक्षात् मेघ को ही समझने वाली मुग्धा-नायिका का कथन ही अत्यधिक रमणीय ज्ञात होता है। अर्थात् मेघ का प्रतिबिम्ब दर्शनात्मक व्यङ्ग्यअर्थ को छिपा देने से ही मुग्धा के अतिशय मुग्धापन की प्रतीति द्वारा उक्त वाच्यार्थ अधिक चमत्कारोत्पादक हो गया है। अतः उक्त व्यङ्ग्यार्थ उस प्रकार के वाच्य का उपपादक होने से गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य से ही व्यवहृत होता है।

उक्त उदाहरण में व्यङ्ग्यरूप में प्रतीयमान 'मुग्धा नायिका कर्तृक मेघ प्रतिबिम्ब दर्शन' उक्त वाच्यार्थ का पोषक होने से ध्वनि शब्द द्वारा व्यवहृत न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का ही विषय माना गया है क्योंकि उक्त वाच्यार्थ-ज्ञान से ही चकित होने वाली मुग्धा नायिका का अतिशय मुग्धापन जनित चारुता प्रतीत होती है।

एवंविधे विषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यङ्ग्यापेक्षयावाच्यस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते, तत्र व्यङ्ग्यस्याङ्गत्वेन प्रतीतेर्ध्वनेरविषयत्वम्। यथा–

वाणीरकुडङ्गोड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं।।

(वानीरकुञ्जोडीन शकुनिकुलकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया बध्वाः सीदन्त्यङ्गानि।। इति छाया।।)

एवंविधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्ग्य स्योदाहरणत्वेन निर्देक्ष्यते।

इन्हीं प्रकार अन्य भी गुणीभूतव्यङ्ग्य-स्थलों में यदि व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य ही प्रमुखरूप से अधिक रमणीयता का प्रतिपादन करनेवाला हो, तो वहाँ भी गुणी-भूतव्यङ्ग्य काव्य ही समझना चाहिये। जैसे—

कोई व्यक्ति कुलटा के चरित्र का चित्रण करते हुये कहता है—घर के समीप में स्थित वेतस-लता की झाड़ी से सहसा झुण्ड के झुण्ड पक्षियों के उड़ पड़ने के कारण उत्पन्न हुये कलकलशब्द को सुनकर गृहकार्यों में संलग्न कामुकी युवती के सभी शारीरिक अङ्ग काम-वासना से उद्दीप्त होकर शिथिलता को प्राप्त होने लगे।

(इस उदाहरण में 'रति सभोग के लिये कृत संकेतित कामुक पुरुष लताकुञ्ज में आ गया' इस व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा 'पक्षियों की कलकल-ध्वनि के शब्द को सुनते ही आवश्यक-गृहकार्यों में संलग्न रहने पर भी अत्यधिक काम-संचारजनित रतिवासना से पीड़ित होकर वह युवती अपने तक को भी न संभाल सकी, गृहकार्यों का करना तो दूर रहा।' यह वाच्यार्थ ही विज्ञ रसिकों को अधिक रुचिकर प्रतीत होने लगता है, अतएव इसको भी ध्वनि का विषय न मानकर 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य का ही विषय समझना उचित है।)

इसी भाँति वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्य आदि सम्पूर्ण अप्रधान विषय प्राय: गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के अन्दर ही गृहीत हो जाया करते हैं। किन्तु जिस काव्य में पहले व्यङ्ग्य-अर्थ के गौण होने पर भी प्रकरण आदि की पर्यालोचना के बाद निर्णीत होकर वाच्यार्थ ही प्रधानीभूत व्यङ्ग्य के उपपादक रूप से प्रतीत हुआ करता है, उस काव्य को संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का ही विषय समझना चाहिये। जैसे—

उच्चिणसु पडिअ कुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुह्ने।
अह दे विषमविरावो ससुरेण सुओ वलअसद्दो।।

(उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनी हि शेफालिकां हालिकस्नुषे।
एष ते विषमविराव: श्वशुरेण श्रुतो बलयशब्द:॥ इति च्छाया॥)

"उद्धत कामुक-पुरुष साथ रति-क्रीडा करती हुई नायिका के कङ्कणों ध्वनि को बाहर से सुनती हुई उसकी सखी उसको चेताते हुये कहती है—हे कृषक की पुत्रवधू! स्वयं भूमि पर गिरे हुये शेफालिका के फूलों को चुन लो, किन्तु उसकी शाखाओं को फूल गिराने के लिये न हिलाओ-डुलाओ, अन्यथा ठीक नहीं होगा क्योंकि मेरे द्वारा भी सुने गये तुम्हारे कङ्कणों के अति उत्कट (टनटनाहट के) शब्द को तुम्हारे श्वसुर ने सुन लिया है॥"

(इस उदाहरण द्वारा अत्यधिक धृष्ट कामुक-व्यक्ति के साथ उद्धतता पूर्वक यथेच्छ रति-क्रीडा में आसक्त युवती के कंकणों की ध्वनि को बाहर से ही श्रवणकर रहस्य-भंग के भय से चतुर सखी उसको इस प्रकार समझा रही है कि जिससे वह कामुकी रति-क्रीडा से भी निवृत्त हो जाय तथा रहस्य भी न खुल सके। इस दृष्टि से 'तुम्हारा श्वसुर शेफालिका के फूलों के वृक्ष में अत्यधिक स्नेह रखता है, उसके हिलाने से वह असन्तुष्ट हो जायगा, अत: इसे हिलाओ-डुलाओ नहीं'—यह प्रतीयमान व्यङ्ग्य यद्यपि पहले उक्त वाच्यार्थ का ही पोषक प्रतीत होता है, तथापि बाद में विचार कर अप्रासङ्गिक शेफालिका के कंपन के मना करने में तात्पर्य नहीं है। अपितु नायिका के रहस्य के छिपाने में ही तात्पर्य है। ऐसा निश्चय हो जाने पर उक्त निषेधात्मक वाच्यार्थ, उस प्रकार से उद्धत रति-क्रीड़ा के निषेधरूप व्यङ्ग्यार्थ का ही पोषक हो जाया करता है, अतएव अन्त में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का ही विषय बन जाता है।)

अत्र ह्यविनयपतिना सह रममाणा सखी बहिःश्रुतवलयकलकलया सख्या प्रतिबोध्यते। एतदपेक्षणीयं वाच्यार्थप्रतिपत्तये। प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे तस्याविनय-प्रच्छादनतात्पर्येणाभिधीयमानत्वात्पुनर्व्यङ्ग्यव्यङ्ग्याङ्गत्वमेवेत्यस्मिन्ननुरणरूपव्यङ्ग्यध्व-नावन्तर्भावः ।।३१।।

उपर्युक्त स्थल में 'उद्धत-नायक के साथ रमण करती हुई नायिका को बाहर से ही कङ्कण की ध्वनि को सुनकर उसकी सखी सावधान कर रही है'—यह व्यङ्ग्यभूत प्रकरण वाच्यार्थ की स्पष्टता के लिये, पहले अपेक्षित होने पर भी बाद में स्पष्टरूप से ज्ञात हो जाने पर उद्धत केलिक्रीड़ा को छिपाने के अभिप्राय से ही उक्त वाच्य प्रतिपादित किया गया है, अतः वही व्यङ्ग्यार्थ का पोषक हो जाता है। अतएव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में ही इसका अन्तर्भाव हो जाता है ।।३१।।

लोचनम्

एवमिति। अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्य इति द्वौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च। द्वितीयस्य द्वौ भेदौ—अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविधः—शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविधः—कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-कृतशरीरः स्वतस्सम्भवी च। ते च प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरूक्तभेदनयेन चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः। आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदाः। ते च पदवाक्यप्रकाश्यत्वेन प्रत्येकं द्विविधा वक्ष्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपद-वाक्यसङ्घटनाप्रबन्ध प्रकाश्यत्वेन पञ्चत्रिंशद्भेदाः। तदाभासेभ्यो ध्वन्याभासेभ्यो विवेको विभागः। अस्येत्यात्मभूतस्य ध्वनेरसौ काव्यविशेषो न गोचरः, इति विषय इत्यर्थः।

कमलाकरा न मलिता हंसा उड्डायिता न च सहसा।
केनापि ग्रामतडागेऽभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ।। इति च्छाया ।।

अन्ये तु पिउच्छा पितृष्वसः इत्थमामन्त्र्यते। केनापि अतिनिपुणेन। वाच्यङ्गत्वमेवेति। वाच्येनैव हि विस्मयविभावरूपेण मुग्धिमातिशयः प्रतीयत इति वाच्यादेव चारुत्वसम्पत्। वाच्यं तु स्वात्मोपपत्तयेऽर्थान्तरं स्वोपकारवाच्छया व्यनक्ति।

वेतसलतागहनोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वत्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ।। इति च्छाया ।।

अत्र दत्तसङ्केतचौर्यकामुकरतसमुचितस्थानप्राप्तिर्ध्वन्यमाना वाच्यमेवो-पस्कुरुते। तथा हि गृहकर्मव्यापृताया इत्यन्यपराया अपि, वध्वा इति सातिशाय-लज्जापारतन्त्र्यबद्धाया अपि, अङ्गानीत्येकमपि न तादृगङ्गं यद्गाम्भीर्यावहित्थवशेन संवरीतुं पारितम्, सीदन्तीत्यास्तां गृहकर्मसम्पादनं स्वात्मानमपि धर्तुं न प्रभवन्तीति।

गृहकर्मयोगेन स्फुटं तथा लक्ष्यमाणानीति। अस्मादेव वाच्यात्सातिशयमदनपरवशता प्रतीतेश्चारुत्वसम्पत्तिः। यत्र त्विति। प्रकरणमादिर्यस्यशब्दान्तरसन्निधानसामर्थ्य-लिङ्गादेस्तदवगमादेव यत्रार्थो निश्चितसमस्त स्वभावः। पुनर्वाच्यः पुनरपि स्वशब्दे-नोक्तोऽत एव स्वात्मावगतेः सम्पन्नपूर्वत्वादेव तावन्मात्रपर्यवसायी न भवति तथाविधश्च प्रतीयमानस्याङ्गतामेतीति सोऽस्य ध्वनेर्विषय इत्यनेन व्यङ्ग्यतात्पर्यनिबन्धनं स्फुटं वदता व्यङ्ग्यगुणीभावे त्वेतद्विपरीमेव निबन्धनं मन्तव्यमित्युक्तं भवति।

उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनीहि शेफालिकां हालिकस्नुषे!।
एष ते विषमविपाकः श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्दः।। (इति च्छाया।।)

यतः श्वशुरः शेफालिकालतिकां प्रयत्नै रक्षंस्तस्याः आकर्षणधूननादिना कुप्यति। तेनात्र विषमपरिपाकत्वं मन्तव्यम्। अन्यथा स्वोक्त्यैव व्यङ्ग्याक्षेपः स्यात्। अत्र च 'कस्स वाण होइ रोसो' इत्येतदनुसारेण व्याख्या कर्तव्या। वाच्यार्थस्य प्रतिपत्तयेलाभाय एतद्व्यङ्ग्यमपेक्षणीयम्। अन्यथा वाच्योऽर्थो न लभ्येत। स्वतस्सिद्धत या अवचनीय एवसोऽर्थः स्यादिति यावत्। नन्वेवं व्यङ्ग्यस्योपस्कारता प्रत्युतोक्ता भवेदित्याशङ्क्याह–प्रतिपन्ने चेति। शब्देनोक्त इति यावत्।।३१।।

इस प्रकार—। अविवक्षित वाच्य विवक्षितान्यपरवाच्य ये दो मूल भेद हैं। प्रथम के दो भेद—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य तथा अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य। द्वितीय के दो भेद—अलक्ष्यक्रम तथा अनुरणनरूप। प्रथम के भेद अनन्त हैं। दूसरा दो प्रकार का १. शब्दशक्तिमूल और २. अर्थशक्तिमूल। इनमें अन्तिम अर्थात् अर्थशक्तिमूल तीन प्रकार का है—१. कवि की प्रौढोक्ति से बना, २. कविद्वारा निबद्धवक्ता की प्रौढोक्ति से बना और ३. स्वतःसम्भवी। ये प्रत्येक व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के कहे हुये प्रकार के अनुसार (अर्थात् वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलङ्कार, अलङ्कार से वस्तु तथा अलङ्कार से अलङ्कार) चार प्रकार के होकर बारह प्रकार का अर्थशक्तिमूल होता है। पहले के चार भेद (अर्थात् शब्दशक्त्युत्थ के वस्तु तथा अलङ्कार रूप दो भेद, उभयशक्त्युत्थ का एक और असंलक्ष्यक्रम का एक—इस प्रकार सब मिलाकर) सोलह मुख्य भेद हैं। वे पदप्रकाश्य तथा वाक्यप्रकाश्य के रूप से प्रत्येक दो प्रकार के कहेंगे। अलक्ष्यक्रम के वर्णप्रकाश (पदप्रकाश, वाक्यप्रकाश) संघटनाप्रकाश और प्रबन्धप्रकाश होने के कारण पैंतीस भेद हुये। उनके प्रभासों अर्थात् ध्वनि के आभासों से विवेक अर्थात् विभाग। इसका अर्थात् आत्मभूतध्वनि का वह काव्य-विशेष गोचर नहीं अर्थात् विषय नहीं।

किन्तु दूसरे (के अनुसार) 'पिउच्छा' अर्थात् 'बुआ' (पिता की बहन) इस प्रकार आमन्त्रण किया गया है। किसी ने अर्थात् अति चालाक ने। वाच्य का अङ्ग ही—। विस्मयविभाव रूप वाच्य से ही अतिशय मुग्धिमा (सुन्दरता) प्रतीत होती है। अतएव वाच्य से ही चारुत्वनिष्पत्ति है। क्योंकि वाच्य अपनी उपपत्ति के लिये अर्थान्तर को अपने उपकार की इच्छा से व्यक्त करता है।

(वेतसलता......में......) यहाँ दत्तसङ्केत चौर्यकामुक का रत के योग्य स्थान में पहुँचना यह ध्वनित होता हुआ वाच्य को ही उपस्कृत करता है। जैसाकि 'घर के कार्यों में लगी हुई'

अर्थात् अन्य कार्यों में संलग्न हुई भी, 'बहू की' को अत्यधिक लज्जा तथा परतन्त्रता में बँधी हुई भी, (सम्पूर्ण) अङ्ग अर्थात् शरीर का एक भी अङ्ग उस प्रकार का नहीं था, जो गम्भीरता से आकारगोपन के ढङ्ग से संवरण किया जा सके, 'शिथिल पड़े जा रहे हैं' घर के कार्य करना तो दूर रहे, अपने आपको सम्हाल भी नहीं पा रहे हैं। घर के कार्यों में उस प्रकार स्पष्टरूप से लक्षित नहीं होते। इसी वाच्य से सातिशय कामदेव की परवशता की प्रतीति होने से चारुता सम्पन्न होती है। परन्तु जहाँ—। प्रकरण आदि में है जिसके अर्थात् शब्दान्तरसन्निधान, सामर्थ्य, लिङ्ग आदि के अवगत होने से ही जहाँ अर्थ के सम्पूर्ण स्वभाव का निश्चय हो जाता है। पुन: वाच्य अर्थात् फिर भी अपने शब्द से उक्त अतएव अपनी अवगति हो जाने के कारण हो उतने मात्र में पर्यवसन्न होने वाला नहीं होता है और उस प्रकार का (वह वाच्य अर्थ) प्रतीयमान का अङ्ग हो जाता है, अत: वह ध्वनि का विषय है, इस कथन से व्यङ्ग्य में तात्पर्य का निबन्धन स्पष्ट कहते हुये यह कहा कि व्यङ्ग्य के गुणीभाव में इसके विपरीत निबन्धन मानना चाहिये।

क्योंकि श्वसुर हरसिंगार की लता की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता है, आकर्षण-धूनन आदि से कुपित होता है। अतएव यहाँ परिणाम में विषय (अर्थात् अनिष्टकर) समझना चाहिये। अन्यथा अपनी उक्ति से ही व्यङ्ग्य का आक्षेप होगा। यहाँ 'कस्स वा ण होइ रोसो०' के अनुसार व्याख्या करनी चाहिये। वाच्य-अर्थ की प्रतिपत्तिरूप लाभ के लिये यह व्यङ्ग्य अपेक्षणीय है, अन्यथा वाच्य-अर्थ लब्ध नहीं होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि स्वत: सिद्ध होने के कारण वह अर्थ अवचनीय ही होगा। तब तो इस प्रकार प्रत्युत व्यङ्ग्य की उपस्कारता कही गई, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—वाच्य-अर्थ के प्रतिपन्न—। अभिप्राय यह कि शब्द द्वारा उक्त होने पर ॥३१॥

मंजूआशुबोधिनी

इस भाँति ध्वनि के प्रभेदों का प्रतिपादन करके उस ध्वनि के आभास (ध्वन्याभास गुणीभूतव्यङ्ग्य) को समझाने (पृथक् ज्ञान, भेदज्ञान कराने) के लिये कहते हैं—

जहाँ प्रतीयमान अर्थ अस्फुट (अम्लिष्ट) रूप से प्रतीत हुआ करता है अथवा वाच्य का अङ्ग बन जाया करता है वह इस ध्वनि का विषय नहीं हुआ करता है ॥३१॥

अभिधामूलध्वनि का गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व-

(अविवक्षितवाच्य अथवा लक्षणामूलध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य अथवा अभिधामूलध्वनि) दोनों ही प्रकार का व्यङ्ग्य-अर्थ स्फुट और अस्फुट (दो प्रकार का) हुआ करता है। उनमें से शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति से जो स्फुटरूप से प्रतीत हुआ करता है वही ध्वनि का विषय हुआ करता है। दूसरा (अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाला ध्वनि का विषय) नहीं हुआ करता है (अपितु वह ध्वन्याभास ही हुआ करता है)। स्फुट (व्यङ्ग्य) से भी जो वाच्य के अङ्गरूप में प्रतीत हुआ करता है वह इस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि कि विषय नहीं हुआ करता है जैसे—

(कमलाअरा णं—इत्यादि) अरी (पितृष्वस:) बुआ जी! (देखो तो) न तालाब ही मैला

हुआ और न हंस ही उड़े। (फिर भी) इस ग्राम के तालाब में किसी ने बादल को उलटा करके (कितनी सफाई से) रख दिया है।

इस श्लोक में भोली-भाली (ग्राम की) बधू का मेघप्रतिबिम्ब व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य का ही अङ्ग (बना हुआ गुणीभूत व्यङ्ग्य) है।

इस भाँति के उदाहरणों में अन्य स्थानों पर भी जहाँ चारुत्व के उत्कर्ष के कारण व्यङ्ग्य-अर्थ की अपेक्षा वाच्य-अर्थ की प्रधानता फलित हुआ करती है वहाँ व्यङ्ग्य-अर्थ की अङ्ग अर्थात् अप्रधानरूप में प्रतीति होने के कारण वह ध्वनि का विषय नहीं हुआ करता है। (अपितु वाच्यसिद्ध्यङ्ग नामक गुणी भूत व्यङ्ग्य का ही भेद हुआ करता है।) जैसे—

("अपने प्रणयी से मिलने का स्थान तथा समय निश्चित करके भी समय पर निश्चित स्थान पर न पहुँच सकने वाली नायिका के) वेतसलताकुञ्ज के उड़ते हुये पक्षियों के शोर (कोलाहल) को सुनकर गृहकार्यों में संलग्न बहू के अङ्ग शिथिल हुये जाते हैं।

इस प्रकार का विषय प्राय: गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरणों में प्रदर्शित किया जायगा।

इसी दृष्टि से काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार ने इस प्रस्तुत श्लोक को गुणीभूतव्यङ्ग्य के असुन्दर व्यङ्ग्य नामक भेद का उदाहरण माना है। इसमें दत्तसङ्केत पुरुष लतागृह में पहुँच चुका है, यह व्यङ्ग्यार्थ है। किन्तु उसकी अपेक्षा "बध्वा:सीदन्त्यङ्गानि" यह वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारोत्पादक प्रतीत होता है। अत: इसे ध्वनि का विषय नहीं कहा जा सकता है। इसे ध्वन्याभास अर्थात् असुन्दर व्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही उदाहरण माना जा सकता है।

जिन स्थलों पर प्रकरण आदि की प्रतीति द्वारा विशेष अर्थ का निर्धारण करके वाच्यार्थ पुन: प्रतीयमान अर्थ के अङ्गरूप में भासता है वह इसी संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि का विषय हुआ करता है। जैसे—

हे कृषक की पुत्रबधू! नीचे गिरे हुये पुष्पों का ही चयनकर, शेफालिका (हरसिंगार) की डाल को न हिला। तीव्रता के साथ बोलने वाले तेरे कंकणों के शब्द (आवाज़) को (तेरे) श्वसुर जी ने सुन लिया है।

इस स्थल पर किसी जार (अविनयपति) के साथ सम्भोग करती हुई नायिका को बाहर से उसके कंकणों की आवाज़ को सुनकर उसकी सखी उसको सावधान करने हेतु कह रही है। यह व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की प्रतीति के लिये अपेक्षित है। उस वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने पर उस वाच्यार्थ के (सखी के परपुरुषोपभोगरूप) व्यङ्ग्य-अर्थ का ही अङ्ग हो जाता है। इस दृष्टि से इसका अन्तर्भाव संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यध्वनि में ही हो जाता है ॥३१॥

ध्वन्यालोकः

एवं विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेस्तदाभासविवेके प्रस्तुते सत्यविवक्षितवाच्यस्यापि तं कर्तुमाह–

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः ॥३२॥

स्खलद्गतेरुपचरितस्य शब्दस्य अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स च न ध्वनेर्विषयः ।

इस भाँति विवक्षितवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के ध्वन्याभास (गुणीभूतत्व) विवेक के प्रसङ्ग में (उसके निरूपण के पश्चात्) अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि की भी अभासता (गुणीभूतत्व) का विवेचन करने के बारे में कहते हैं—

लक्षणामूलध्वनि का गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व-

प्रतिभा अथवा शक्ति के अभाव में जो लाक्षणिक अथवा गौण (स्खलद्गति—बाधित विषय—) शब्द का प्रयोग हो तो उसको भी विद्वानों को ध्वनि का विषय नहीं समझना चाहिये ॥३२॥

स्खलद्गति अर्थात् गौण शब्द का प्रतिभा अथवा शक्ति के न होने पर जो प्रयोग है वह भी ध्वनि का विषय नहीं हुआ करता है॥३२॥

यतः—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।
यद्व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ।।३३।।

तच्चोदाहृतविषयमेव ।

इति राजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके द्वितीय उद्योतः ।

क्योंकि—

ध्वनि के सभी भेदों में प्रधानभूतध्वनि की जो स्फुटरूप से प्रतीति हुआ करती है, ध्वनि का पूर्ण लक्षण वही है ।

उसके विषय में (पहले ही) उदाहरण दिये जा चुके हैं ।

इस प्रकार श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा विरचित ध्वन्यालोक का द्वितीय— उद्योत समाप्त हुआ ।

लोचनम्

तदाभासविवेके प्रस्तुत इति सप्तमी हेतौ । तदाभासविवेकप्रस्तावलक्षणात्प्रसङ्गादिति यावत् । कस्य तदाभास इत्यपेक्षायामाह–विवक्षितवाच्यस्येति । स्पष्टे तु व्याख्याने प्रस्तुत इत्यसङ्गतम् । परिसमाप्तौ हि विवक्षिताभिधेयस्य तदाभासविवेकः । न त्वधुना प्रस्तुतः । नाप्युत्तरकालमनुबध्नाति । स्खलद्गतेरिति । गौणस्य लाक्षणिकस्य वा शब्दस्येत्यर्थः । अव्युत्पत्तिरनुप्रासादिनिबन्धनतात्पर्यप्रवृत्तिः । यथा–

प्रेङ्खत्प्रेमप्रबन्धप्रचुरपरिचये प्रौढसीमन्तिनीनां
चित्ताकाशावकाशे विहरति सततं यः स सौभाग्यभूमिः ।

अत्रानुप्रासरसिकतया प्रेङ्खदिति लाक्षणिकः, चित्ताकाश इति गौणः प्रयोगः कविना कृतोऽपि न ध्वन्यमानरूपसुन्दरप्रयोजनांशपर्यवसायी । अशक्तिर्वृत्तपरिपूरणाद्यसामर्थ्यम् । यथा–

विषमकाण्डकुटुम्बकसञ्चयप्रवर वारिनिधौपतता त्वया ।

चलतरङ्गविघूर्णितभाजने विचलतात्मनि कुड्यमये कृता ।।

अत्र प्रवरान्तमाद्यपदं चन्द्रमस्युपचरितम् । भाजनमित्याशये, कुड्यमय इति च विचले । अत्रैतत् कामपि कान्ति न पुष्यति, ऋते वृत्तपूरणात् । स चेति । प्रथमोद्योते यः प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवय इत्यत्र 'वदति बिसिनीपत्रशयनम्' इत्यादि भाक्त उक्तः । स न केवलं ध्वनेर्न विषयो यावदयमन्योऽपीति चशब्दस्यार्थः । उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभास विवेकहेतुतया कारिकाका रोऽनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति–यत इति । अवभासनमिति । भावानयने द्रव्यानयनमिति न्यायादवभासमानं व्यङ्ग्यम् । ध्वनि लक्षण ध्वनेः स्वरूपं पूर्णम्, अवभासमानं वा ज्ञानं तद्ध्वनेर्लक्षणं प्रमाणं, तच्च पूर्णं, पूर्णध्वनिस्वरूपनिवेदकत्वात् । अथवा ज्ञानमेव ध्वनिलक्षणम्, लक्षणस्य ज्ञानपरिच्छेद्यत्वात् । वृत्तावेवकारेण ततोऽन्यस्य चाभासरूपत्वमेवेति सूचयता तदाभासविवेक हेतुभावो यः प्रक्रान्तः स एव निर्वाहित इति शिवम् ।।३३।।

प्राज्यं प्रोल्लासमात्रं सद्भेदेनासूत्र्यते यया ।
वन्देऽभिनवगुप्तोहं पश्यन्ती तामिदं जगत् ।।३३।।

इति महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोकलोचने
ध्वनि सङ्केते द्वितीय उद्योतः ।।

उसके आभास के विवेक के प्रस्तुत होने पर यहाँ हेतु में सप्तमी विभक्ति है । मतलब यह कि आभास के विवेक के प्रस्ताव रूप प्रसङ्ग से । किसकी? 'उसका आभास' इस अपेक्षा में कहते हैं—विवक्षितवाच्य का—। व्याख्यान के स्पष्ट होने पर 'प्रस्तुत' यह कहना असङ्गत है । क्योंकि परिसमापि में विवक्षितवाच्य का उसके आभास का विवेक है, न कि अभी प्रस्तुत है । न कि आगे तक अनुबन्ध करता है । स्खलद्गति—अर्थात् गौण अथवा लाक्षणिक शब्द का । अव्युत्पत्ति अर्थात् अनुप्रास आदि के प्रयोग के तात्पर्य से प्रवृत्ति । जैसे—

प्रौढ़ सीमन्तिनियों के स्फुरित होते हुये (प्रेङ्खत्) प्रेम-प्रबन्ध में प्रचुर परिचय वाले चित्त के आकाश में जो सतत बिहार करता है, वह सौभाग्यभूमि है ।

यहाँ अनुप्रास के रसिक होने के कारण 'प्रेङ्खत्' यह लाक्षणिक और 'चित्त का आकाश' यह गौण प्रयोग कवि के द्वारा किया गया भी ध्वन्यमानरूप सुन्दर प्रयोजन के अंश में पर्यवसायी नहीं है । अशक्ति अर्थात् वृत्तपूर्ति आदि असामर्थ्य । जैसे—

हे विषयबाण (कामदेव) कुटुम्बसमूह में प्रवर (अर्थात् चन्द्र), समुद्र में गिरते हुये तुमने चंचल तरंग की भाँति विघूर्णित भाजन वाले, कुड्यमय अपने आप में विचलता कर दी है ।

यहाँ 'प्रवर' तक प्रथम पद चन्द्रमा में उपचरित है । 'भाजन' आशय में, 'कुड्यमय' यह विचल में । यहाँ यह किसी कान्ति का पोषण नहीं करता, बावजूद छन्दःपूर्ति के । और वह—। प्रथम उद्योत में जो 'प्रसिद्धि के अनुरोध से व्यवहार प्रवृत्त करने वाले कवि' इस प्रसंग में 'कमलिनी के पत्र का शयन कहता है' इत्यादि याक्त कहाँ है । न केवल वही ध्वनि का विषय नहीं है, बल्कि अन्य भीं, यह और (च) शब्द का अर्थ है । कहे हुये ही ध्वनिस्वरूप को उसके

आभास के विवेक के हेतु रूप से कारिकाकार अनुवाद करते हैं, इस अभिप्राय से वृत्तिकार उपस्कार देते हैं—क्योंकि—। अवभासित होना—। 'भाव के आनयन में द्रव्य का आनयन हुआ करता है' इस न्याय के अनुसार अवभासमान व्यङ्ग्य (अवभासन का अर्थ है) ध्वनि का लक्षण अर्थात् ध्वनि का स्वरूप पूर्ण है, अथवा अवभासन अर्थात् ज्ञान वह ध्वनि का लक्षण अर्थात् प्रमाण है, और पूर्ण है, क्योंकि पूर्णध्वनि के स्वरूप को निवेदन करता है। अथवा ज्ञान ही ध्वनि का लक्षण है, क्योंकि लक्षण ज्ञान का परिच्छेद्य हुआ करता है। वृत्ति में 'ही' (एवकार) से 'उससे इतर का आभासरूपत्व ही है' यह सूचित करते हुये उसके आभास के विवेक का हेतु भाव जो आरम्भ किया वही निर्वाह किया। शिवम्।

उसका विषय उदाहृत ही है ॥३३॥

श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्यविरचित ध्वन्यालोक में द्वितीय उद्योत समाप्त ।।

जो (भगवती परमेश्वरी माया) समस्त को सत्तत्व से भिन्न करके प्रतीतिमात्र निर्माण करती हैं, इस जगत् को देखती हुई (पश्यन्ती) उसको मैं अभिनवगुप्त वन्दना करता हूँ।

श्री महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित सहृदयालोकलोचन ध्वनिसङ्केत में दूसरा उद्योत समाप्त।

मंजूआशुबोधिनी

इस प्रकार (वाच्यार्थ के विवक्षित होने के कारण) विवक्षित वाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के ध्वन्याभास (गुणीभूतत्व) विवेक के प्रसङ्ग में (उसका निरूपण कर देने के पश्चात्) अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि के आभास का (गुणीभूतत्व) का विवेचन करने के लिये कहते हैं—

प्रतिभा अथवा शक्ति के अभाव में जो लाक्षणिक अथवा गौण (स्खलद्गति—बाधितविषय—) शब्द का प्रयोग हो उसको भी विद्वानों द्वारा ध्वनि का विषय नहीं माना गया है ॥३२॥

(व्युत्पत्ति की कमी के कारण अनुप्रास इत्यादि तुकबन्दी के निर्माण में ही अधिक स्नेह होने के कारण अथवा पद्यात्मक छन्दों को पूर्ण करने की सामर्थ्य न होने के कारण बाधितार्थक शब्दों का लक्षणा आदि गौणीवृत्ति के सहारे जो बोधोत्पादक प्रयोग किया जाता है, उसे उक्त अविवक्षितवाच्य ध्वनि का विषय नहीं मानना चाहिये। जैसे—

'प्रेङ्खतप्रेम प्रबन्ध......' इत्यादि पद्य में मात्र अनुप्रास की दृष्टि से ही 'प्रेङ्खत्' इस लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया गया है। अतएव यह उक्त ध्वनि का विषय न होकर ध्वन्याभास में ही गिना जाता है। 'विषमकाण्ड' इत्यादि पद्य में प्रथम चरण छन्दमात्र की पूर्ति के लिये ही चन्द्रमा में उपचरित हुआ है। अतएव इस पद्य को भी ध्वनि का विषय नहीं कहा जा सकता है।

करिका में स्थित 'च' शब्द से पूर्वकथित 'लावण्य' आदि शब्दों का संग्रह समझना चाहिये।

अब तेंतीसवीं कारिका द्वारा ध्वनि के वास्तविक सारभूत स्वरूप का संक्षेप में उपसंहार

करते हुये द्वितीय उद्योत की समाप्ति करते हैं। प्रधानरूप से भासमान व्यङ्ग्य-अर्थों के सभी विवक्षितान्यपरवाच्य आदि प्रभेदों में जिस व्यङ्ग्यार्थ का स्पष्टरूप से भान हुआ करता है (गौण अथवा अत्यन्त गूढ़ रूप से नहीं) उसी को वस्तुतः ध्वनि का पूर्ण तथा असाधारण लक्षण कहा जाता है। अतएव गौण-लाक्षणिक आदि में ध्वनित्व नहीं रहा करता है।

उस उक्त ध्वनि का लक्षण 'स्निग्धश्यामल' इत्यादि उदाहरणों में पहले ही दिखलाया जा चुका है ॥३३॥

इत्युत्तरप्रदेशस्य 'मैनपुरी' मण्डलान्तर्गत 'महावतपुर' (भोगाँव) ग्रामनिवासिनः श्रीमतो दयानन्दमहोदयस्य श्रीमत्याः सुखदेव्याश्च तनुजनुषा वृन्दावनस्थगुरुकुल-विश्वविद्यालयाधीतविद्येन पी-एच०डी० इत्युपाधि धारिणा आचार्य सुरेन्द्रदेव शास्त्रिणा विरचितायां 'आशुबोधिनी' इत्याख्यायां हिन्दी व्याख्यायां द्वितीय उद्योतः समाप्तः ।।

परिशिष्ट–१

ध्वन्यालोक (द्वितीय उद्योत)की कारिका सूची

परिशिष्ट–२

ध्वन्यालोक (द्वितीय उद्योत)

उदाहरणादि–सूची

❑

हमारे अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

गो.सं.ग्र 76

आचार्य डॉ. सुरेन्द्रदेव, स्नातक, शास्त्री